[प्रवचनरत्नाकर ग्रंथमाला पुष्प १]

प्रवचनरत्नाकर

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन]

भाग १

(समयसार गाथा १ से २५ तक)

सम्पादक :

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच. डी.

अनुवादक :

पंडित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., बी. एड.

प्रकाशक :

मंत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

हिन्दी

प्रथमावृत्ति : ३,०००

रक्षाबंधन, १५ अगस्त, १६८१

गुजराती

प्रथमावृत्ति : ५,०००

मूल्य : दश रुपये

प्राप्ति-स्थान :

- पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
  ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५ (राजस्थान)
- श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
  सोनगढ़ ३६४२५० (जिला भावनगर – गुजरात)

मुद्रक :

जयपुर प्रिन्टर्स

मिर्जा इस्माइल रोड

जयपुर

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी
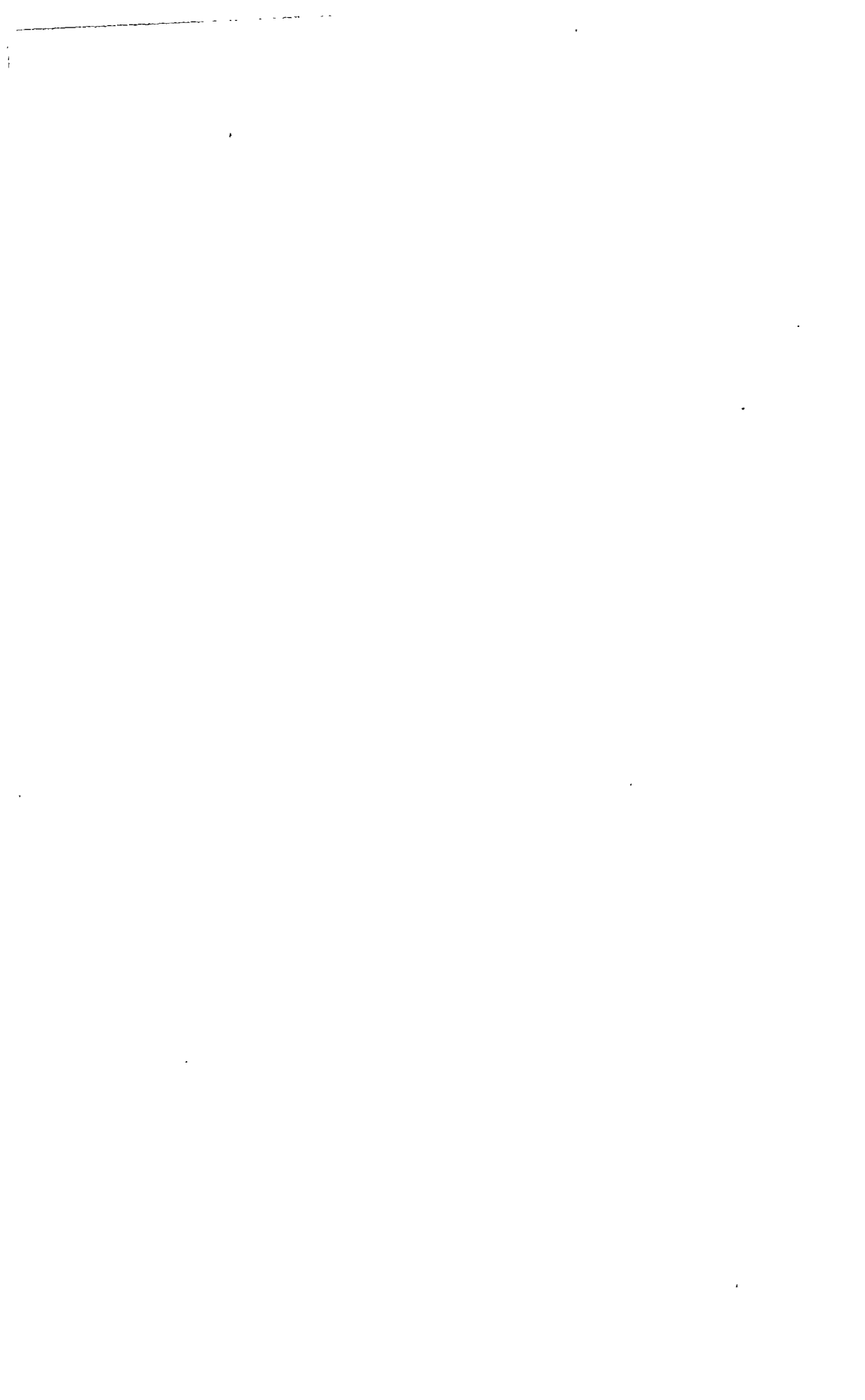
प्रकाशकीय

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्दकृत महान् ग्रन्थराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संकलन 'प्रवचनरत्नाकर' भाग १ प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

पूज्य स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। वर्त्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

पूज्य स्वामीजी के उपकारों को दिगम्बर जैन समाज हजारों वर्षों तक भी नहीं भुला सकेगा। उनकी भवतापनाशक वाणी के प्रताप से हम जैसे लाखों पामर प्राणियों ने दिगम्बर जिनधर्म का वास्तविक स्वरूप समझा है। जन्मजात दिगम्बर जैन होते हुए भी हमें धर्म के सच्चे स्वरूप का भान भी न था। धर्म की आत्मा को पहचाने विना हम बाह्य क्रियाकांड में ही उलझ रहे थे। पूज्य स्वामीजी के निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक हुए प्रवचनों ने हमारी आँखें खोल दी हैं। उनके प्रताप से लाखों दिगम्बर जैन भाई-बहिनों ने दिगम्बर जिनधर्म का सच्चा स्वरूप पहचाना है तथा हजारों श्वेताम्बर भाइयों ने भी दिगम्बर जिनधर्म स्वीकार किया है।

यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके प्रताप से निर्मित ६१ दिगम्बर जिनमन्दिर एवं लाखों की संख्या में प्रकाशित सत्-साहित्य हमें हजारों वर्षों तक सत्य का दर्शन कराता रहेगा।

समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी मोड़ उत्पन्न किया है। स्थानकवासी साधु अवस्था में वि० सं० १९७८ (सन् १९२१ ई०) की किसी महान् मंगलमय घड़ी में समयसार ग्रन्थ को पाकर उनकी अन्तश्चेतना में सुशुप्त संस्कार झनझना उठे। दिगम्बर जिनधर्म की समीचीनता स्वीकार करते हुए वि० सं० १९९१ (सन् १९३४) में महावीरजयन्ती के दिन सोनगढ़ में उन्होंने मुँहपट्टी त्यागकर दिगम्बर श्रावक के रूप में जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। तब से ४५ वर्षों तक निरन्तर उनके श्रीमुख से जिनागम का अमृतरस झरता रहा, जिसका पानकर लाखों लोगों के जीवन में आध्यात्मिक क्रान्ति हुई है।

श्री षट्खण्डागम भाग १, समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, बृहद्द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्ग-प्रकाशक, तत्त्वार्थसार, आत्मानुशासन. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दिपञ्च-विंशतिका, समयसार कलशटीका, नाटकसमयसार, छहढाला आदि अनेक ग्रन्थों पर प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने अनेकान्त, वस्तुस्वातन्त्र्य, कर्त्ता-कर्म, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान आदि जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों की आगम एवं युक्तिसंगत व्याख्या करके जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सैद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली – स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का स्वरूप भी जन-जन में चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। स्वानुभूति का स्वरूप, विषय, एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

४० वर्ष पूर्व सम्पूर्ण सौराष्ट्र में जहाँ दिगम्बर जिनबिम्ब के दर्शन भी दुर्लभ थे, वहाँ आज उनके प्रताप से न केवल सौराष्ट्र अपितु सारे भारत में ६१ जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है। उनके कर-कमलों द्वारा सम्पन्न ३३ पञ्चकल्याणक एवं ३० वेदीप्रतिष्ठा-महोत्सवों के माध्यम से हजारों वीतराग भाववाही दिगम्बर जिनबिम्बों की स्थापना हुई है। नैरोवी (अफ्रीका) में हुआ विशाल पञ्चकल्याणक महोत्सव उनके प्रभावनाकाल का बेजोड़ अध्याय है। सोनगढ़ में निर्मित सीमंधर स्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, समवशरण, मानस्तम्भ, कुन्दकुन्द प्रवचनमंडप, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर आदि उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्र-भक्ति के अमर स्मारक हैं।

स्वाध्याय के क्षेत्र में स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नयविवक्षापूर्वक भावार्थ हृदयंगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्हीं की देन है।

उनके बालब्रह्मचर्य के तेज एवं वैराग्यरस से ओतप्रोत जीवन, तथा सरलभाषा और प्रवाहमयी तथा आह्लादपूर्ण प्रवचनशैली से प्रभावित होकर प्रत्येक व्यक्ति उनका हुए विना नहीं रहता। उनकी वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत व्याख्या से स्वाध्याय की प्रेरणा पाकर देश-विदेश में सैंकड़ों स्थानों पर मुमुक्षुमंडलों की स्थापना हुई है, जिनमें संचालित नियमित शास्त्रसभाओं में लाखों भाई-बहिन जिनागम का अभ्यास करते हैं।

सत्साहित्य प्रकाशन स्वामीजी के प्रभावनायोग की महत्त्वपूर्ण देन है। श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर, श्री कुन्दकुन्दकहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट बम्बई आदि १५ प्रकाशन संस्थाओं से लगभग ३८ लाख प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं तथा यह क्रम अभी भी निरन्तर जारी है। इन सभी ग्रन्थों का विक्रय-मूल्य लागत से भी कम रखा जाता है।

तत्त्वप्रचार के सशक्त माध्यम शिक्षण-शिविर प्रणाली का जन्म भी पूज्य स्वामीजी की देन है। सोनगढ़ में ग्रीष्मावकाश में बाल शिक्षण-शिविर तथा श्रावण मास में प्रौढ़ शिक्षण-शिविरों का आयोजन प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे सारे देश में शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगने लगे। सोनगढ़ में प्रवचनकार प्रशिक्षण-शिविर भी आयोजित किये गये। गत दो दशकों में तो सारे देश में सैंकड़ों शिक्षण-शिविर आयोजित हुये हैं।

स्वामीजी के प्रवचनों के प्रचार-प्रसार हेतु सोनगढ़ से सन् १९४३ ई० से आत्मधर्म का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इससमय यह जैनसमाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला मासिक पत्र है जो हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ और तमिल – इन पांच भाषाओं में लगभग १५ हजार प्रतिमाह प्रकाशित होता है। बालकों में तत्त्वज्ञान और सदाचार के संस्कार डालने हेतु देश में इससमय ३०० वीतराग-विज्ञान पाठशालायें चल रही हैं। विद्यार्थियों की परीक्षा की व्यवस्था के लिए श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड की स्थापना की गई है, जिसकी परीक्षाओं में प्रतिवर्ष लगभग २०,००० विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं। दिगम्बर तीर्थों के प्रति अत्यन्त भक्ति से प्रेरित होकर पूज्य स्वामीजी ने विक्रम संवत् २०१३ व २०२० में सारे भारत के तीर्थों की ससंघ वंदना की है। संवत् २०१५ में तीसरी बार दक्षिण भारत के तीर्थों की वंदना भी की है।

पूज्य स्वामीजी के उपदेशों के प्रभाव से तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार एवं जिनवाणी के शोध व प्रकाशन की महती आवश्यकता की पूर्ति हेतु उनके मंगल-आशीर्वादपूर्वक श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षाट्रस्ट की स्थापना की गयी है। इस ट्रस्ट ने अपने उद्देश्यों और गतिविधियों से अल्पकाल में ही दि० जैन समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

तीर्थों के जीर्णोद्धार के अलावा समाज में आध्यात्मिकरुचि-सम्पन्न आत्मार्थी विद्वान् तैयार करने हेतु जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन

सिद्धान्त महाविद्यालय का संचालन इस ट्रस्ट की महत्वपूर्ण गतिविधि है। इस वर्ष इस विद्यालय के १२ छात्र शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करके समाज में तत्त्व-प्रचार संबंधी कार्य करने लगे हैं। जिनवाणी की शोध एवं सुरक्षा हेतु मद्रास और बेंगलोर में शोध संस्थान कार्यरत हैं।

इसप्रकार निरन्तर ४५ वर्षों तक पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना होती रही है। यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया शास्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव:दुखों से बचने की प्रेरणा देता रहेगा। उनके प्रताप से निर्मित जिन मन्दिर एवं प्रकाशित सत् साहित्य उनके स्मारक के रूप में विद्यमान हैं।

यद्यपि टेपों में सुरक्षित उनकी वाणी युगों-युगों तक हमें आत्मानुभूति की प्रेरणा देती रहेगी, तथापि टेपों की लम्बे समय तक सुरक्षा करना कठिन है, तथा उनका जन-जन तक पहुँचना भी सुलभ नहीं है। अतः स्वामीजी की उपस्थिति में ही इस बात की तीव्र आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि उनके सभी प्रवचनों का शृंखलाबद्ध प्रकाशन किया जाए।

टेप रेकार्ड से सुनकर प्रवचन लिखना तथा उसे व्यवस्थितरूप में प्रकाशित करना अत्यधिक श्रम एवं व्यय-साध्य कार्य है। अतः इस कार्य हेतु स्वामीजी की ९०वीं जयन्ती के अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट ने श्री वीतराग सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट भावनगर के सहयोग से अल्प समय में ही प्रवचन-रत्नाकर के नाम से समयसार के १८वीं बार के प्रवचन गुजराती में प्रकाशित करना प्रारम्भ किया है। गुजराती प्रवचन-रत्नाकर के दो भागों को पूज्य स्वामीजी की उपस्थिति में ही उन्हें समर्पित करने का गौरव प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उक्त ट्रस्ट बधाई का पात्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित गुजराती प्रवचनों के हिन्दी प्रकाशन पर विचार-विमर्श करते समय पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने यह दायित्व वहन करना सहर्ष स्वीकार किया। इस अवसर पर उपस्थित मुमुक्षु भाइयों ने हिन्दी प्रवचन प्रकाशन हेतु पांच लाख रुपये का फन्ड एकत्र करने का संकल्प किया तथा उसी समय दो लाख रुपये के वचन भी प्राप्त हो गए।

इसी अवसर पर माननीय पं० रतनचन्दजी भारिल्ल ने गुजराती प्रवचनों के हिन्दी अनुवाद का तथा माननीय डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल

ने इसके सम्पादन का दायित्व निस्पृह भाव से स्वीकार किया, एतदर्थ हम दोनों विद्वानों के अत्यन्त आभारी हैं।

पूज्य स्वामीजी के प्रवचन जन-जन तक कम मूल्य में पहुँचाने की भावना से ट्रस्ट ने निर्णय किया है कि कीमत कम करने हेतु १०,००१) देने वाले महानुभावों का दो हजार प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जायगा तथा १० प्रतियाँ उनको निःशुल्क भेंट दी जाएंगी। ५,००१) देने वाले महानुभावों का १००० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा ५ प्रतियाँ निःशुल्क भेंट की जाएंगी। २,५०१) देने वाले महानुभावों का ५०० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा दो पुस्तकें निःशुल्क भेंट की जाएंगी।

प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक की कीमत कम करने हेतु वकील साहब श्री नाथूलालजी पोल्याका जयपुर से १०,००१) रु०, श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट से ५,००१) तथा श्री दि० जैन मुमुक्ष मण्डल उदयपुर से १,५०१) प्राप्त हुए हैं। एतदर्थ मैं उक्त सभी महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ।

हमें खेद है कि तीव्र भावना होते हुए भी हम प्रवचन-रत्नाकर के हिन्दी संस्करण पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में उन्हें समर्पित नहीं कर सके। इसका हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन कार्य चल ही रहा था कि पूज्य गुरुदेवश्री महाप्रयाण कर गए। उनकी अनुपस्थिति में यह प्रथम भाग प्रकाशित करते हुए मैं यही भावना व्यक्त करता हूँ कि शीघ्र ही उनके सभी प्रवचन प्रकाशित होकर जन-जन के आत्मकल्याण में निमित्त बनें।

प्रथम भाग में समयसार की २५ गाथाओं के प्रवचन संकलित हैं। द्वितीय भाग के अनुवाद का कार्य भी प्रारम्भ हो गया है। आशा है, द्वितीय भाग भी शीघ्र ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होगा।

ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण हेतु मैं श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने स्वयं रुचि लेते हुये अत्यन्त लगन एवम् श्रम से ग्रन्थ को इतना सुन्दर और शुद्ध रूप प्रदान किया है।

सभी जीव पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझ कर शुद्धात्मतत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वसमय-दशा प्रगट करें – यही भावना व्यक्त करता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

मन्त्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

हमारे प्रकाशन

		रु० पै०
१.	जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	अप्राप्य
२.	मोक्षमार्गप्रकाशक	७ – ००
३.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व	अप्राप्य
४.	श्री सिद्धचक्र विधान	१० – ००
५.	प्रवचनरत्नाकर भाग १	१० – ००
६.	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल) साधारण	२ – ५०
	सजिल्द	३ – ५०
७.	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी) साधारण	४ – ००
	सजिल्द	५ – ००
८.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, कन्नड़]	६ – ००
९.	सत्य की खोज [कथानक] (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	४ – ००
१०.	मैं कौन हूँ ?	१ – २५
११.	युगपुरुष कानजी स्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	२ – ००
१२.	आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	३ – ००
१३.	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	० – ६५
१४.	कविवर पंडित बनारसीदास : जीवन और साहित्य	० – ३०
१५.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	४ – ००
१६.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, असमी, तेलगु, अंग्रेजी]	० – ५०
१७.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	० – २५
१८.	अपने को पहचानिए [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी]	अप्राप्य
१९.	पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ	अप्राप्य
२०.	अर्चना (पूजन संग्रह)	० – ४०
२१.	बालबोध पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	० – ५०
२२.	बालबोध पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	० – ८५
२३.	बालबोध पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	० – ८५
२४.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)	० – ७०
२५.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)	१ – ००
२६.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)	१ – ००
२७.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती)	१ – २५
२८.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती)	१ – ४०
२९.	सुन्दरलेख बालबोध पाठमाला भाग १	० – ५०
३०.	मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	० – ५०
३१.	महावीर वंदना (कैलेंडर)	० – ५०

नोट :– (१) जिन पुस्तकों के आगे भाषा के बाबत कुछ नहीं लिखा हुआ है, वे सब हिन्दी में उपलब्ध हैं।

(२) सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित साहित्य भी हमारे यहाँ उपलब्ध है।

सम्पादकीय

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे; तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है – उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इस पर आद्योपान्त १६ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन दृष्टव्य है। जो कि इसप्रकार है :–

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

[1] जैन सन्देश, ४ नवम्बर १६७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं, और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे, और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचनरत्नाकर' नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूंकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। १६ अप्रेल, १९८० ई० को बम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचन-रत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे, एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्वप्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूं, क्योंकि इसकारण

मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रचवनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में पाँच वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो दे ही रहा हूँ। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया है। इसकारण मुझे यद्यपि इसके सम्पादन में अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इसके सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इसके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इसके सम्पादन के काल में रही है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती है। जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये गए हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात तो यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है, साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग कम से कम लगभग चार सौ पृष्ठों का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम बनाने में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं तथा पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं। सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में

आ जाय – इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन समाप्त न हो जावे – इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई हैं, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

गुजराती का एक पेज हिन्दी के भी प्रायः एक पेज में ही आ गया है। ग्रंथ की साइज का अन्तर अक्षरों की साइज के अन्तर से समायोजित हो गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूलग्रन्थ संस्कृत व हिन्दी टीका सहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है। और भी छोटी-छोटी बहुतसी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी, और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है। अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसम्बन्धी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में सुधार किया जा सके।

– (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर और गहनतम, सूक्ष्म, तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मेरी स्थिति साँप-छछूँदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव भी मेरे पास कभी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। और मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं था, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता था। अन्यथा थोड़ी सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता था।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्म-लाभ के सुफल का विचार कर प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' — यह सोचकर अन्ततोगत्वा मैंने इस काम को अपने हाथ में ले लिया। इस कार्यभार को संभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं

हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके उसके भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया था जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचने वाला है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को – जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं – उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किंचित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु समझने में भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्य निशास्त्रसमुद्रे' की लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो ध्यान आकर्षित वरने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा और अपेक्षा है।

– रतनचन्द भारिल्ल

विषय-सूची

क्रम	समयसार गाथा/कलश	पृष्ठ
१.	मंगलाचरण	१
२.	कलश १	४
३.	कलश २	१६
४.	कलश ३	२३
५.	गाथा १	२८
६.	गाथा २	४१
७.	गाथा ३	५४
८.	गाथा ४	६५
९.	गाथा ५	७७
१०.	गाथा ६	८७
११.	गाथा ७	१०८
१२.	गाथा ८	११८
१३.	गाथा ९-१०	१२६
१४.	गाथा ११	१३४
१५.	गाथा १२	१५३
१६.	कलश ४	१६९
१७.	कलश ५	१७४
१८.	कलश ६	१७७
१९.	कलश ७	१८४
२०.	गाथा १३	१८६
२१.	कलश ८	१९८
२२.	कलश ९	२०८
२३.	कलश १०	२१६
२४.	गाथा १४	२२०
२५.	कलश ११	२४९
२६.	कलश १२	२५३
२७.	कलश १३	२५६
२८.	गाथा १५	२५७
२९.	कलश १४	२७०
३०.	कलश १५	२७२
३१.	गाथा १६	२७४
३२.	कलश १६	२८१
३३.	कलश १७	२८२
३४.	कलश १८	२८६
३५.	कलश १९	२८८
३६.	गाथा १७-१८	२९३
३७.	कलश २०	३०७
३८.	गाथा १९	३१९
३९.	कलश २१	३२९
४०.	गाथा २०-२१-२२	३३२
४१.	कलश २२	३४२
४२.	गाथा २३-२४-२५	३४९
४३.	कलश २३	३७०

शुद्धिपत्र

[नोट :— कृपया ग्रंथ का स्वाध्याय प्रारम्भ करने से पूर्व निम्नलिखित अशुद्धियाँ अवश्य ठीक करलें ।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०	१७	अपती	अपनी
११७	३-४	क्यों कहते हो ?	क्यों नहीं कहते हो ?
११७	७	वैसे	शेष
१९०	२३	शुद्धना	शुद्धता
२१३	२७	भसित	भासित
२७४	२७	किए कि	कि एक
२९७	१२	टालने लिए	टालने के लिए
३१४	२४	इसकी	इसका
३१७	१	ज्ञायकस्वभाव	ज्ञायकस्वभाव की

प्रवचन-रत्नाकर
[भाग १]

यह समयसार नामक परम अध्यात्मशास्त्र है। यहाँ (सोनगढ़ में) यह सभा में अठारहवीं बार पढ़ा जा रहा है। इसका एक शब्द भी सुनकर उसका यथार्थ भाव समझ ले तो कल्याण हो जाय – यह ऐसी अद्भुत वस्तु है।

इस ग्रंथ में शुद्धनय (शुद्धात्मा) का अधिकार है। सम्पूर्ण समयसार में शुद्धनय द्वारा चैतन्यमयी ध्रुव शुद्धात्मा का स्वरूप बताया गया है, क्योंकि वही एक सारभूत पदार्थ है।

देखो ! 'ॐ परमात्मने नमः' यहाँ से तो आरंभ किया है। इस समयसार नामक परमागम के मूलकर्त्ता कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं और टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव हैं, जिन्होंने अपनी इस टीका का नाम 'आत्मख्याति' रखा है। आत्मख्याति अर्थात् चैतन्यघन शुद्धात्मा की प्रसिद्धि।

अब यहाँ इसका जीवाजीवाधिकार आरंभ होता है। प्रारंभ में भाषा टीकाकार पंडित जयचंदजी छाबड़ा मंगलाचरण करते हैं :–

श्री परमातम को प्रणमि, शारद सुगुरु मनाय।
समयसार शासन करूँ, देशवचनमय, भाय ।। १ ।।

शब्दब्रह्म परब्रह्मकैं, वाचकवाच्य नियोग।
मंगलरूप प्रसिद्ध ह्वै, नमों धर्मधन भोग ।। २ ।।

नय-नय लहइ सार शुभवार, पय-पय दहइ मार दुखकार।
लय-लय गहइ पार भवधार, जय-जय समयसार अविकार ।। ३ ।।

शब्द अर्थ अरु ज्ञान समय त्रय आगम गाये,
मत सिद्धान्त रु काल भेदत्रय नाम बताये।
इनहिं आदि शुभ अर्थ समय वचके सुनिये बहु,
अर्थसमय में जीव नाम है सार सुनहु सहु।
तातैं जु सार बिन कर्ममल शुद्ध जीव शुधनय कहै।
इस ग्रंथ माँहि कथनी सबै समयसार बुधजन गहै ।। ४ ।।

नामादिक छह ग्रंथमुख, तामें मंगल सार।
विघन हरन नास्तिक हरन, शिष्टाचार उचार ॥ ५ ॥
समयसार जिनराज है, स्याद्वाद जिनवैन।
मुद्रा जिन निरग्रंथता, नमूं करै सब चैन ॥ ६ ॥

श्री सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा देव, शारदा अर्थात् सच्चे शास्त्र, तथा सुगुरु अर्थात् निर्ग्रन्थ गुरु – इन तीनों को नमस्कार करके समयसार शास्त्र की देशभाषा में वचनिका (टीका) करता हूँ।

जैसे शक्कर शब्द वाचक है और शक्कर पदार्थ वाच्य है; उसीप्रकार समयसाररूप शब्दब्रह्म वाचक है, उसका वाच्य पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान परमात्मा है। इन दोनों के बीच वाचक-वाच्य संबंध है।

यह शास्त्र मंगलरूप है। मंगल अर्थात् पवित्रता को प्राप्त कराने वाला और अपवित्रता का नाश कराने वाला। पंडित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में कहा है कि इस शब्दब्रह्म और इसका वाच्य जो परमब्रह्म – को जो जाने उसके हृदय के फाटक खुल जाते हैं। 'नाटक सुनत हिय फाटक खुलत है' – ऐसा लिखा है। 'नमों धर्मधन भोग' अर्थात् मैं धर्मरूपी लक्ष्मी को भोगता हुआ जिनवाणी को नमस्कार करता हूँ। आनन्दरूपी लक्ष्मी ही वास्तव में धन है। आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा को दृष्टि में लेने से पर्याय में जो आनन्द प्रगट होता है उसका मैं अनुभव करता हूँ।

आहा हा..........! अजोड़ शास्त्र है, जगत का सौभाग्य है कि ऐसा शास्त्र नष्ट होने से बच गया और आदि से अन्त तक पूर्ण प्राप्त हो गया।

नय-नय सार – एक-एक पद में नयों का साररूप शुद्धनय का अधिकार है। उसे लहे अर्थात् प्राप्त करे तो स्वकाल में त्रिकाली आनन्द को प्राप्त हो तथा पुरुषार्थ द्वारा पद-पद पर चौरासी के अवतार का, जन्म-मरण के दुःखों का और कामादि विकार का नाश होता है।

'लय-लय गहइ पार भवधार' अर्थात् जैसे-जैसे शुद्धात्मा में लीनता प्राप्त होती जाय तैसे-तैसे भव का अन्त आता जाता है – ऐसे भगवान अविकारी आत्मा की जय हो! जय हो!! ऐसा जयकार किया है।

वाचकरूप 'शब्दसमय', वाच्यरूप 'अर्थसमय', और जाननेरूप 'ज्ञानसमय' – इन तीनों को आगम में 'समय' कहा है। इसप्रकार 'शब्द-समय', 'अर्थसमय' व 'ज्ञानसमय' – 'समय' शब्द के तीन अर्थ तो ये हुए तथा काल, मत और सिद्धान्त को भी आगम में 'समय' नाम से कहा जाता

है। किन्तु उन सब में श्रेष्ठ 'अर्थसमय' – अर्थात् जीव पदार्थ है। वह जीव पदार्थ त्रिकाल ध्रुव, निर्मलानंद, शुद्धस्वरूपी, कर्म-कलंक से रहित सब में सारभूत है। इस सारभूत वस्तु को शुद्धनय बताता है। सम्पूर्ण समयसार का 'सार' त्रिकाल शुद्ध चैतन्यघन शुद्धात्मा है – जिसे ज्ञानीजन पर्याय में ग्रहण करते हैं। उसको ग्रहण करना – यही सम्पूर्ण समयसार का सार है।

मंगल, नाम, निमित्त, प्रयोजन, परिमाण और कर्त्ता – ये छह बातें ग्रंथ के प्रारंभ में आती हैं। उनमें प्रथम मंगल है। जो पवित्रता को उत्पन्न करे और अपवित्रता का नाश करे उसे 'मंगल' कहते हैं। ग्रंथ का नाम समयसार यह 'नाम' है। जिन जीवों के लिए बनाया वे 'निमित्त' हैं। इस ग्रंथ के बनाने का 'प्रयोजन' वीतरागदशा प्रगट करना है। इसका 'परिमाण' अर्थात् संख्या ४१५ गाथा है। ग्रंथ के 'कर्त्ता' भगवान कुंदकुंद आचार्यदेव हैं।

हर एक ग्रंथ में उपरोक्त छः बातों में मांगलिक मुख्य होता है, वह मंगलाचरण विघ्नों का नाश करने वाला होता है। जिसने साधक भाव आरंभ किया, उसे विघ्न आता ही नहीं है – ऐसा कहते हैं। और यह मंगलाचरण नास्तिकता का परिहार करने वाला है। तथा यह शिष्टाचार का परिपालन है अर्थात् मंगलाचरण करना स्वयं ग्रंथ का प्रारंभिक शिष्टाचार है।

समयसार कहकर भगवान आत्मा जिनराज हैं, ऐसा कहा। जिनराज पर्याय जिनराजस्वरूप में से होती है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप ही जिनराज है।

वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को बताने वाली वीतराग की वाणी स्याद्वाद है। तथा जिसके अन्तर में मिथ्यात्वादि राग की गाँठ छूट गई है और बाहर में वस्त्रादि छूट गये हैं ऐसे निर्ग्रन्थ मुद्राधारी भावलिंगी संत ही गुरु हैं। ऐसे देव-शास्त्र-गुरु को, जो कि आनन्द देने वाले हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

इस ग्रंथ के भाषा टीकाकार पं० जयचंदजी कहते हैं कि – इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके मैं श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत गाथाबद्ध समयसार ग्रंथ की तथा श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका की देशभाषा में वचनिका लिखता हूँ।

प्रथम संस्कृत टीकाकार श्री अमृतचंद्र आचार्यदेव ग्रंथ के प्रारंभ में मंगल के लिए इष्टदेव को नमस्कार करते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ।।१।।

श्लोकार्थ :– [नमः समयसाराय] 'समय' अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें सार द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा – उसे मेरा नमस्कार हो। वह कैसा है ? **[भावाय]** शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है। इस विशेषणपद से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का मत खंडित हो गया। और वह कैसा है ? **[चित्स्वभावाय]** जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है। इस विशेषण से गुण-गुणी का सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिकों का निषेध हो गया। और वह कैसा है ? **[स्वानुभूत्या चकासते]** अपनी ही अनुभवन-रूप क्रिया से प्रकाश करता है, अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है – प्रगट करता है। इस विशेषण से, आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही मानने वाले जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकर के भेदवाले मीमांसकों के मत का खण्डन हो गया। तथा ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है – स्वयं अपने को नहीं जानता, ऐसा माननेवाले नैयायिकों का भी प्रतिषेध हो गया। और वह कैसा है ? **[सर्वभावान्तरच्छिदे]** स्वतः अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्र काल सम्बन्धी सर्व विशेषणों के साथ एक ही समय में जाननेवाला है। इस विशेषण से, सर्वज्ञ का अभाव माननेवाले मीमांसक आदि का निराकरण हो गया। इसप्रकार के विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है।

भावार्थ :– यहाँ मंगल के लिये शुद्ध आत्मा को नमस्कार किया है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि किसी इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? तो उसका समाधान इसप्रकार है :– वास्तव में इष्टदेव का सामान्य स्वरूप सर्व कर्म रहित, सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है, इसलिये इस अध्यात्मग्रन्थ में 'समयसार' कहने से इसमें इष्टदेव का समावेश हो गया। तथा एक ही नाम लेने में अन्यमतवादी मतपक्ष का विवाद करते हैं, उन सब का निराकरण समयसार के विशेषणों से किया है। और अन्य-वादीजन अपने इष्टदेव का नाम लेते हैं, उसमें इष्ट शब्द का अर्थ घटित नहीं होता, उसमें अनेक बाधाएँ आती हैं। और स्याद्वादी जैनों को तो सर्वज्ञ वीतरागी शुद्ध आत्मा ही इष्ट है; फिर चाहे भले ही इष्टदेव को परमात्मा कहो, परमज्योति कहो, परमेश्वर, परब्रह्म, शिव, निरंजन,

निष्कलंक, अक्षय, अव्यय, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हंत्, जिन, आप्त, भगवान, समयसार – इत्यादि हजारों नामों से कहो; वे सब नाम कथंचित् सत्यार्थ हैं। सर्वथा एकान्तवादियों को भिन्न नामों में विरोध है, स्याद्वादी को कोई विरोध नहीं है। इसलिये अर्थ को यथार्थ समझना चाहिए।

कलश १ पर प्रवचन

अहा! हा!! यह मंगलाचरण अकेला 'अस्ति' पक्ष से किया है। अस्ति अर्थात् है, है, है। 'समय' नाम का जो पदार्थ है उसमें 'सार' अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित शुद्धात्मा है, पवित्र आत्मा है, वही 'समयसार' है। उसको मेरा नमस्कार हो।

यहाँ इष्टदेव को नमस्कार किया है। अपना त्रिकालीध्रुव चैतन्यमूर्ति जो आत्मा वह स्वयं इष्टदेव है। नमः अर्थात् मैं उसे नमस्कार करता हूँ, उसमें झुकता हूँ, उसी की ओर ढुलता हूँ, उसका सत्कार करता हूँ, ध्रुव आत्मा के सन्मुख होकर मैं उसको नमस्कार करता हूँ।

यहाँ नमन करने वाली पर्याय है और जिसे नमन किया गया है वह चैतन्यघन वस्तु ध्रुव आत्मा है।

कलश टीका में कहा है कि 'समय' शब्द से सामान्यपने जीवादि सकल पदार्थ जानना, उसमें 'सार' अर्थात् उपादेय त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा, वही उपादेय है। यह अपनी ही बात है। शुद्धजीव त्रिकाल उपादेय है। इसप्रकार अपने आत्मा का इष्टपना सिद्ध करके उसे नमस्कार किया है, पर्याय में उसे स्वीकार किया – यही उसे नमस्कार है। यह भाव 'नमः समयसाराय' में से निकाला है। अपनी शुद्ध जीव वस्तु जो कि प्रगट है, उसमें 'सारपना' घटता है।

'सार' अर्थात् हितकारी तथा 'असार' अर्थात् अहितकारी। यहाँ हितकारी सुख व अहितकारी दुःख जानना, क्योंकि अजीव पदार्थ – पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल तथा संसारी जीव को ज्ञान भी नहीं है, सुख भी नहीं है तथा उनके अर्थात् परद्रव्य के स्वरूप को जानने वाले जीव को भी ज्ञान व सुख नहीं है। पर को जाने उसको ज्ञान कहाँ से हो? क्योंकि वह आत्म-साधक ज्ञान कहाँ है, वह तो परलक्षी ज्ञान है।

पर अजीव द्रव्यों को जानने में तथा संसारी जीवों को जानने में – ऐसा कहने में सिद्ध भी गौणरूप से उसमें आ ही जाते हैं। जीव ने स्वयं

को जाना तो उसने सिद्ध को भी जाना, ऐसा तो व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो अपनी आत्मा की अपेक्षा 'सिद्ध' भी पर हैं। जो शब्द हो उसका न्याय (अभिप्राय) लेना चाहिए न? सिद्ध को प्रगट ज्ञान एवं सुख है और सिद्ध समान ही अपना भी स्वरूप है, उन्हें जानते हुए स्वयं को जानने से ज्ञान व सुख होता है। इसलिए व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। सूक्ष्म बात है भाई! वस्तुतः तो सिद्ध भी इस आत्मा की अपेक्षा परवस्तु ही हैं। अहा! मात्र परवस्तु को जानते हुए ज्ञान और सुख कैसे हो सकता है? अन्तरात्मा शुद्ध वस्तु है उसको जानते हुए सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख होता है, यह बात है। जो त्रिकाल शुद्ध जीव है उसे जानते हुए पर्याय में ज्ञान और सुख होता है—आनन्द का अनुभव होता है। (पर को जानने से सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख नहीं होता)—स्वयं को जानने से सुख होता है।

अरहंत को जानने से सच्चा ज्ञान हो जायगा ऐसी बात नहीं है। 'जो वस्तुतः अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है'—ऐसा जो प्रवचनसार (गाथा ८०) में लिखा है—इसका आशय यह है कि प्रथम अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को विकल्पपूर्वक जाने, पीछे इसका लक्ष्य छोड़कर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को भेद से जाने, पश्चात् इन भेद-विकल्पों को भी छोड़कर अन्तरस्वरूप में स्थित हो जावे, तब उसे अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है और तब स्वयं को, आत्मा को जाना—ऐसा कहा जाता है।

स्वयं के आश्रय से जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। पर्याय 'पर' की हो या निज की, पर्याय का लक्ष्य होते ही विकल्प उठते हैं। अनन्त गुणों की पर्याय अन्तर में जब द्रव्य की ओर ढलती है तब उसे ज्ञान और सुख होता है। भाई! सर्वज्ञदेव का मार्ग अर्थात् शुद्ध जीव का मार्ग कोई अलौकिक है।

अपने सिवाय छह द्रव्यों का चाहे जितना भी विशाल ज्ञान क्यों न हो, तो भी सुख नहीं होता। जो त्रिकाली शुद्ध निज चैतन्यघन ध्रुवस्वभाव है, जिसे भगवानकेवली ने प्रत्यक्ष देखा व जाना है—उसे लक्ष्य में लेने से, उपादेय करने से पर्याय में ज्ञान सम्यक् होता है व साथ में आनन्द प्रगट होता है। तब शुद्ध आत्मा को जाना व माना कहा जाता है।

अपना जो भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यघन द्रव्यस्वभाव है, वही उपादेय है। पर का आत्मा भले ही शुद्ध हो, भले ही सिद्ध भी हो, परन्तु वे परद्रव्य

होने से उपादेय नहीं हैं, और यहाँ तो निश्चय से स्वानुभूतिपर्याय, संवर-निर्जरा की पर्याय तथा मोक्षपर्याय भी पर्याय होने से हेय हैं।

अहा! हा....भाई! यह तो अंतर की बात है, यहाँ पर-परमात्मा उपादेय कैसे होगा? अतः यह सार निकालना कि शुद्धात्मा ही एक उपादेय है।

पर्याय में राग होते हुए भी भगवान आत्मा तो पूर्ण आनन्द का नाथ है। पर्याय की ओर के लक्ष्य को छोड़कर एकसमय की पर्याय से भी पृथक् और राग की पर्याय से भी पृथक्, ऐसा निज आत्मभगवान का आश्रय करना, इसे उपादेय मानना या ग्रहण करना – यही इसको नमस्कार है। पर-भगवान को नमस्कार करना यह तो विकल्प है – राग है, यह कोई धर्म नहीं है। पंचपरमेष्ठी तो पर-द्रव्य है। कठोर बात है भाई! **'पर दव्वाओ दुग्गई'** – परद्रव्य को नमस्कार करना वह चैतन्य की गति नहीं, वह तो शुभभाव है, विभाव है। अरे! यह वीतराग का मार्ग लोगों ने सुना नहीं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि पहले स्वरूप को मिलान करना पड़ेगा न? परन्तु ऐसा नहीं है। यह भी विकल्प है। व्यवहार से यह कथन आता अवश्य है, पर यह बात यथार्थ नहीं है, पर्याय सीधी ही शुद्ध चैतन्य का आधार ग्रहण करती है। (पर्याय द्रव्य की तरफ ढलती है)। यही वस्तुस्थिति है।

यहाँ शुद्धद्रव्य को जो उपादेय कहा – वह पर्याय सहित नहीं मानना। शुद्धजीव जो उपादेय है उसके साथ शुद्धपर्याय को मिलाकर जो उपादेय माना जाता है वह अशुद्धनय का कथन है।

प्रवचनसार में ४६वें नय में कहा है कि – माटी को पर्याय सहित जानना माटी की उपाधि है, व्यवहार है, मेचकपना है, मलिनता है, और माटी को माटीरूप अकेली जानना शुद्ध है, निश्चय है, निरुपाधि है; उसी प्रकार भगवानआत्मा को पर्याय के भेद सहित जानना उपाधि है, अशुद्धता है, मलिनता है, यह व्यवहारनय का विषय है और आत्मा को पर्याय से भिन्न एक शुद्धात्मस्वरूप से जानना यह शुद्ध है, निश्चय है, निरुपाधि है।

संसारीजीव शुद्धजीव का लक्ष्य करते हैं, इसलिए सम्यग्ज्ञान है, ऐसा नहीं है। स्वयं शुद्ध एवं त्रिकालीध्रुव है, उसे पर्याय में स्वीकार करे तब सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख होता है। तभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सच्ची शान्ति होती है।

आत्मा स्वयं भगवान, शुद्ध चैतन्यवस्तु है – इसका जब पर्याय में आदर किया तब पर्याय में जो अनुभूति हुई, वह पर्याय सिद्ध करती है कि

को जाना तो उसने सिद्ध को भी जाना, ऐसा तो व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो अपनी आत्मा की अपेक्षा 'सिद्ध' भी पर हैं। जो शब्द हो उसका न्याय (अभिप्राय) लेना चाहिए न ? सिद्ध को प्रगट ज्ञान एवं सुख है और सिद्ध समान ही अपना भी स्वरूप है, उन्हें जानते हुए स्वयं को जानने से ज्ञान व सुख होता है। इसलिए व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। सूक्ष्म बात है भाई ! वस्तुतः तो सिद्ध भी इस आत्मा की अपेक्षा परवस्तु ही हैं। अहा ! मात्र परवस्तु को जानते हुए ज्ञान और सुख कैसे हो सकता है ? अन्तरात्मा शुद्ध वस्तु है उसको जानते हुए सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख होता है, यह बात है। जो त्रिकाल शुद्ध जीव है उसे जानते हुए पर्याय में ज्ञान और सुख होता है–आनन्द का अनुभव होता है। (पर को जानने से सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख नहीं होता)–स्वयं को जानने से सुख होता है।

अरहंत को जानने से सच्चा ज्ञान हो जायगा ऐसी बात नहीं है। 'जो वस्तुतः अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है'–ऐसा जो प्रवचनसार (गाथा ८०) में लिखा है–इसका आशय यह है कि प्रथम अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को विकल्पपूर्वक जाने, पीछे इसका लक्ष्य छोड़कर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को भेद से जाने, पश्चात् इन भेद-विकल्पों को भी छोड़कर अन्तरस्वरूप में स्थित हो जावे, तब उसे अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है और तब स्वयं को, आत्मा को जाना–ऐसा कहा जाता है।

स्वयं के आश्रय से जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। पर्याय 'पर' की हो या निज की, पर्याय का लक्ष्य होते ही विकल्प उठते हैं। अनन्त गुणों की पर्याय अन्तर में जब द्रव्य की ओर ढलती है तब उसे ज्ञान और सुख होता है। भाई ! सर्वज्ञदेव का मार्ग अर्थात् शुद्ध जीव का मार्ग कोई अलौकिक है।

अपने सिवाय छह द्रव्यों का चाहे जितना भी विशाल ज्ञान क्यों न हो, तो भी सुख नहीं होता। जो त्रिकाली शुद्ध निज चैतन्यघन ध्रुवस्वभाव है, जिसे भगवानकेवली ने प्रत्यक्ष देखा व जाना है–उसे लक्ष्य में लेने से, उपादेय करने से पर्याय में ज्ञान सम्यक् होता है व साथ में आनन्द प्रगट होता है। तब शुद्ध आत्मा को जाना व माना कहा जाता है।

अपना जो भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यघन द्रव्यस्वभाव है, वही उपादेय है। पर का आत्मा भले ही शुद्ध हो, भले ही सिद्ध भी हो, परन्तु वे परद्रव्य

होने से उपादेय नहीं है, और यहाँ तो निश्चय से स्वानुभूतिपर्याय, संवर-निर्जरा की पर्याय तथा मोक्षपर्याय भी पर्याय होने से हेय है।

अहा ! हा…भाई ! यह तो अंतर की बात है, यहाँ पर-परमात्मा उपादेय कैसे होगा ? अतः यह सार निकलना कि शुद्धात्मा ही एक उपादेय है।

पर्याय में राग होते हुए भी भगवान आत्मा तो पूर्ण आनन्द का नाथ है। पर्याय की ओर के लक्ष्य को छोड़कर एकसमय की पर्याय से भी पृथक् और राग की पर्याय से भी पृथक्, ऐसा निज आत्मभगवान का आश्रय करना, इसे उपादेय मानना या ग्रहण करना – यही इसको नमस्कार है। पर-भगवान को नमस्कार करना यह तो विकल्प है – राग है, यह कोई धर्म नहीं है। पंचपरमेष्ठी तो पर-द्रव्य है। कठोर काम है भाई ! 'पर दव्वाओ दुग्गई' – परद्रव्य को नमस्कार करना यह चैतन्य की गति नहीं, यह तो शुभभाव है, विभाव है। अरे ! यह वीतराग का मार्ग लोगों ने सुना नहीं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि पहले स्वरूप को निर्णय करना पड़ेगा न ? परन्तु ऐसा नहीं है। यह भी विकल्प है। व्यवहार से यह कथन आता अवश्य है, पर यह बात यथार्थ नहीं है, पर्याय सीधी ही शुद्ध चैतन्य का आधार ग्रहण करती है। (पर्याय द्रव्य की तरफ ढलती है)। यही वस्तुस्थिति है।

यहाँ शुद्धद्रव्य को जो उपादेय कहा – वह पर्याय सहित नहीं मानना। शुद्धजीव जो उपादेय है उसके साथ शुद्धपर्याय को मिलाकर जो उपादेय माना जाता है वह अशुद्धनय का कथन है।

प्रवचनसार में ४६वें नय में कहा है कि – माटी को पर्याय सहित जानना माटी की उपाधि है, व्यवहार है, मेचकपना है, मलिनता है, और माटी को माटीरूप अकेली जानना शुद्ध है, निश्चय है, निरुपाधि है; उसी प्रकार भगवानआत्मा को पर्याय के भेद सहित जानना उपाधि है, अशुद्धता है, मलिनता है, यह व्यवहारनय का विषय है और आत्मा को पर्याय से भिन्न एक शुद्धात्मस्वरूप से जानना यह शुद्ध है, निश्चय है, निरुपाधि है।

संसारीजीव शुद्धजीव का लक्ष्य करते हैं, इसलिए सम्यग्ज्ञान है, ऐसा नहीं है। स्वयं शुद्ध एवं त्रिकालीध्रुव है, उसे पर्याय में स्वीकार करे तब सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख होता है। तभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सच्ची शान्ति होती है।

आत्मा स्वयं भगवान, शुद्ध चैतन्यवस्तु है – इसका जब पर्याय में आदर किया तब पर्याय में जो अनुभूति हुई, वह पर्याय सिद्ध करती है कि

को जाना तो उसने सिद्ध को भी जाना, ऐसा तो व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो अपनी आत्मा की अपेक्षा 'सिद्ध' भी पर हैं। जो शब्द हो उसका न्याय (अभिप्राय) लेना चाहिए न ? सिद्ध को प्रगट ज्ञान एवं सुख है और सिद्ध समान ही अपना भी स्वरूप है, उन्हें जानते हुए स्वयं को जानने से ज्ञान व सुख होता है। इसलिए व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। सूक्ष्म बात है भाई ! वस्तुतः तो सिद्ध भी इस आत्मा की अपेक्षा परवस्तु ही हैं। अहा ! मात्र परवस्तु को जानते हुए ज्ञान और सुख कैसे हो सकता है ? अन्तरात्मा शुद्ध वस्तु है उसको जानते हुए सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख होता है, यह बात है। जो त्रिकाल शुद्ध जीव है उसे जानते हुए पर्याय में ज्ञान और सुख होता है—आनन्द का अनुभव होता है। (पर को जानने से सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख नहीं होता)—स्वयं को जानने से सुख होता है।

अरहंत को जानने से सच्चा ज्ञान हो जायगा ऐसी बात नहीं है। 'जो वस्तुतः अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है'—ऐसा जो प्रवचनसार (गाथा ८०) में लिखा है—इसका आशय यह है कि प्रथम अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को विकल्पपूर्वक जाने, पीछे इसका लक्ष्य छोड़कर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को भेद से जाने, पश्चात् इन भेद-विकल्पों को भी छोड़कर अन्तरस्वरूप में स्थित हो जावे, तब उसे अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है और तब स्वयं को, आत्मा को जाना—ऐसा कहा जाता है।

स्वयं के आश्रय से जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। पर्याय 'पर' की हो या निज की, पर्याय का लक्ष्य होते ही विकल्प उठते हैं। अनन्त गुणों की पर्याय अन्तर में जब द्रव्य की ओर ढलती है तब उसे ज्ञान और सुख होता है। भाई ! सर्वज्ञदेव का मार्ग अर्थात् शुद्ध जीव का मार्ग कोई अलौकिक है।

अपने सिवाय छह द्रव्यों का चाहे जितना भी विशाल ज्ञान क्यों न हो, तो भी सुख नहीं होता। जो त्रिकाली शुद्ध निज चैतन्यघन ध्रुवस्वभाव है, जिसे भगवानकेवली ने प्रत्यक्ष देखा व जाना है—उसे लक्ष्य में लेने से, उपादेय करने से पर्याय में ज्ञान सम्यक् होता है व साथ में आनन्द प्रगट होता है। तब शुद्ध आत्मा को जाना व माना कहा जाता है।

अपना जो भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यघन द्रव्यस्वभाव है, वही उपादेय है। पर का आत्मा भले ही शुद्ध हो, भले ही सिद्ध भी हो, परन्तु वे परद्रव्य

होने से उपादेय नहीं हैं, और यहाँ तो निश्चय से स्वानुभूतिपर्याय, संवर-निर्जरा की पर्याय तथा मोक्षपर्याय भी पर्याय होने से हेय हैं।

अहा! हा····भाई! यह तो अंतर की बात है, यहाँ पर-परमात्मा उपादेय कैसे होगा? अतः यह सार निकालना कि शुद्धात्मा ही एक उपादेय है।

पर्याय में राग होते हुए भी भगवान आत्मा तो पूर्ण आनन्द का नाथ है। पर्याय की ओर के लक्ष्य को छोड़कर एकसमय की पर्याय से भी पृथक् और राग की पर्याय से भी पृथक्, ऐसा निज आत्मभगवान का आश्रय करना, इसे उपादेय मानना या ग्रहण करना – यही इसको नमस्कार है। पर-भगवान को नमस्कार करना यह तो विकल्प है – राग है, यह कोई धर्म नहीं है। पंचपरमेष्ठी तो पर-द्रव्य है। कठोर बात है भाई! **'पर दव्वाओ दुग्गई'** – परद्रव्य को नमस्कार करना वह चैतन्य की गति नहीं, वह तो शुभभाव है, विभाव है। अरे! यह वीतराग का मार्ग लोगों ने सुना नहीं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि पहले स्वरूप को मिलान करना पड़ेगा न? परन्तु ऐसा नहीं है। यह भी विकल्प है। व्यवहार से यह कथन आता अवश्य है, पर यह बात यथार्थ नहीं है, पर्याय सीधी ही शुद्ध चैतन्य का आधार ग्रहण करती है। (पर्याय द्रव्य की तरफ ढलती है)। यही वस्तुस्थिति है।

यहाँ शुद्धद्रव्य को जो उपादेय कहा – वह पर्याय सहित नहीं मानना। शुद्धजीव जो उपादेय है उसके साथ शुद्धपर्याय को मिलाकर जो उपादेय माना जाता है वह अशुद्धनय का कथन है।

प्रवचनसार में ४६वें नय में कहा है कि – माटी को पर्याय सहित जानना माटी की उपाधि है, व्यवहार है, मेचकपना है, मलिनता है, और माटी को माटीरूप अकेली जानना शुद्ध है, निश्चय है, निरुपाधि है; उसी प्रकार भगवानआत्मा को पर्याय के भेद सहित जानना उपाधि है, अशुद्धता है, मलिनता है, यह व्यवहारनय का विषय है और आत्मा को पर्याय से भिन्न एक शुद्धात्मस्वरूप से जानना यह शुद्ध है, निश्चय है, निरुपाधि है।

संसारीजीव शुद्धजीव का लक्ष्य करते हैं, इसलिए सम्यग्ज्ञान है, ऐसा नहीं है। स्वयं शुद्ध एवं त्रिकालीध्रुव है, उसे पर्याय में स्वीकार करे तब सच्चा ज्ञान और सच्चा सुख होता है। तभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सच्ची शान्ति होती है।

आत्मा स्वयं भगवान, शुद्ध चैतन्यवस्तु है – इसका जब पर्याय में आदर किया तब पर्याय में जो अनुभूति हुई, वह पर्याय सिद्ध करती है कि

स्वानुभूतिरूप पर्याय में वह त्रिकालीध्रुव निजद्रव्य प्रकाशमान है। द्रव्य द्रव्य से प्रकाशित नहीं होता, द्रव्य गुण से भी प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि वे दोनों ध्रुव हैं। वे स्वानुभूतिपर्याय से ही प्रकाशित होते हैं। ऐसा मार्ग है। हे भाई! भगवान का ऐसा कहना है, त्रिलोकीनाथ परमात्मा का यह वचन है, इसका यह 'केन' है। जैसे – किसी करोड़पति बड़े घर की कन्या का 'केन' (सगाई का टीका) आता है तो शीघ्र ही स्वीकार कर लेते हैं; उसीप्रकार यह त्रिलोकीनाथ भगवान का 'केन' है। इसे शीघ्र स्वीकार कर ले, इन्कार मत कर। त्रिलोकीनाथ तेरी पर्याय की लग्न (शादी) ध्रुव के साथ कराते हैं। तुझे लग्न (लगन) लगाना है तो द्रव्य के साथ लगा, इसके सिवाय कहीं सुख व शान्ति है ही नहीं। पैसे में, राग में, स्त्रियों में, बाल-बच्चों में, बड़े-बड़े महल-मकान, हाथी-घोड़ा, गाड़ी-मोटर, कार वगैरह में कहीं सुख नहीं है।

तब कोई ऐसा कहे कि ये पदार्थ सुख में निमित्त तो हैं न? उससे कहते हैं कि किसके निमित्त? ये तो सब दुःख में निमित्त हैं।

अहा! जैन कुल में जन्मे तो भी यह खबर नहीं है कि जैन किसे कहते हैं? जैन कोई सम्प्रदाय नहीं है। अनंत गुणस्वरूप जो शुद्ध चैतन्य-घन जीवतत्त्व है उसे जो पर्याय में उपादेय करके अनुभव करते हैं, जिन्होंने राग और अज्ञान को जीता है, उन्हें ही जैन कहा जाता है।

यहाँ जिसको नमस्कार किया है वह कैसा है – 'भावाय' अर्थात् शुद्धसत्तास्वरूप वस्तु है। भगवान आत्मा में जो अनंत गुण हैं वे शुद्ध हैं – इसप्रकार उनमें शुद्धता घटित होती है। इस विशेषण से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का मत खण्डित हुआ।

कथंचित् अभाव कहने से आत्मा स्व-सत्ता से है और पर-सत्ता से नहीं है। स्व-पने भावरूप और पर-पने अभावरूप है, इसप्रकार स्व से अस्ति और पर से नास्ति है। सर्वथा अभाववादी के समक्ष 'भावाय' विशेषण कह कर भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप से विराजमान है, ऐसा कहा है।

और कैसा है? 'चित्स्वभावाय' अर्थात् चैतन्य स्वभाव है जिसका – ऐसा भगवान आत्मा स्वयं शुद्धात्मा है। इस विशेषण से सर्वथा गुण-गुणी का भेद मानने वाले नैयायिकों के मत का खण्डन हुआ।

प्रदेशभेद न होते हुए भी गुण-गुणी के बीच नामभेद, लक्षणभेद, संख्याभेद है। गुणी को गुणी व गुण को गुण कहना, ऐसा नामभेद है।

'जो गुणों को धारण करे वह द्रव्य' – यह द्रव्य का लक्षण तथा 'जो द्रव्य के आश्रय रहे वह गुण का लक्षण' – यह दोनों में लक्षणभेद है। तथा गुणी एक और गुण अनेक, ऐसा संख्याभेद है। ऐसा होते हुए भी प्रदेश से अभेद है; ऐसा नहीं मानने वाला तथा सर्वथा भेद ही मानने वाला मत झूठा है।

और कैसा है? 'स्वानुभूत्याचकासते' चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, अपनी अनुभवरूप क्रिया से स्वयं का अनुसरण करते हुए परिणति से शुद्ध चैतन्य की निर्मल अनुभूति से जाना जाता है। आत्मा राग से प्रकाशित हो, ऐसा नहीं है। उसे राग या निमित्त की अपेक्षा नहीं है। यहाँ अनुभवरूप क्रिया व्यवहार है, उस अनुभवरूप क्रिया में ध्रुव आत्मा जानने में आता है। वह अनुभूति अनित्य पर्याय है जो नित्य आत्मा को जानती है। नित्य नित्य को कैसे जाने? नित्य अक्रिय होने से उसमें क्रियारूप जानना कैसे हो सकता है? पर्याय का ध्येय द्रव्य है, वह पर्याय द्वारा जाना जाता है। ऐसी सुन्दर बात मंगलाचरण में ही सबसे पहले कही है।

अहाहा.......! शैली तो देखो। व्यवहारसमकित हो तो निश्चय-समकित हो – ऐसा नहीं है। व्यवहारसमकित तो वस्तुतः समकित ही नहीं है। व्यवहारसमकित तो रागरूप पर्याय है, निश्चयसम्यक्स्वरूप के अनुभव सहित जो प्रतीति हुई वह निश्चयसमकित है। निश्चय के साथ देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का जो राग आता है उसे व्यवहारसमकित कहा जाता है। परन्तु वह है तो राग ही, कोई समकितरूप पर्याय नहीं है।

भाई! सूक्ष्म बात है। नियमसार की दूसरी गाथा में कहा है कि सम्यक्दर्शन-पर्याय स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होती है, उसे व्यवहार की अपेक्षा नहीं है, निरपेक्षरूप से अपने आश्रय से होती है। सम्यक्दर्शन-पर्याय को उपादेयस्वरूप वस्तु का आश्रय है – ऐसा कथन तो द्रव्य की ओर पर्याय ढली – इस अपेक्षा से कहने में आता है। वस्तुतः तो सम्यक्दर्शन-पर्याय को षट्कारकरूप परिणमन में पर की अपेक्षा तो है ही नहीं, साथ ही द्रव्य-गुण की अपेक्षा भी नहीं है। एकसमय की विकारी पर्याय भी अपने षट्कारक से परिणमन करके विकाररूप होती है। उसे भी द्रव्य की व गुण के कारणों की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि द्रव्य व गुण में विकार है ही नहीं। विकारी पर्याय को भी परकारकों की अपेक्षा नहीं है। वह एकसमय की स्वतंत्र पर्याय अपने कर्त्ता-कर्म आदि से होती है। उस पर्याय का कर्त्ता स्वयं पर्याय है, करण आदि कारक स्वयं अपने कर्त्ता हैं।

लोगों को लगता है कि यह क्या है ? पर यह कोई नई बात नहीं है, भाई ! अनादि से सत्‌वस्तु ही ऐसी है। ऐसा मानना कठिन लगता है, पर आत्मकल्याण करना हो तो मानना पड़ेगा, क्योंकि वस्तु की स्थिति ही ऐसी है।

समयसार के बंध अधिकार में आता है कि द्रव्य अहेतुक है, गुण अहेतुक है, और पर्याय अहेतुक सत्‌स्वभावी स्वतंत्र और निरपेक्ष है। पर्याय को द्रव्य उपादेय है—ऐसा कथन, अपेक्षा से किया जाता है। मात्र पर्याय द्रव्य की ओर ढली अर्थात् द्रव्य का आश्रय लिया, अभेद हुई, इस अपेक्षा से कहा जाता है कि पर्याय को द्रव्य उपादेय है। वस्तुतः तो इसका स्वतंत्र स्वरूप है। इससे न्यूनाधिक या विपरीत कहोगे तो मिथ्यात्व होगा। जगत की समझ में बैठे या न बैठे इससे तुझे क्या ? जगत अपनी मान्यता के लिए स्वतंत्र है।

अनुभूतिरूप पर्याय में त्रिकालीआत्मा ज्ञात होता है। अनुभूतिस्वरूप अनित्यपर्याय नित्य को जानती है। जाननेवाली ज्ञान की पर्याय है, पर जानती है द्रव्य को। अनुभूतिरूप पर्याय को द्रव्य का आश्रय है। अर्थात् अनुभूतिरूप पर्याय का ढलान द्रव्य की ओर है। पर्याय को पर्याय का आश्रय नहीं है। कार्य पर्याय में होता है, परन्तु उस कार्य में कारण त्रिकाली वस्तु है। कार्य में कारण का ज्ञान होता है। अरे भाई ! ये सब मंत्र हैं।

'भावाय' कहकर सत्तास्वरूप पदार्थ-वस्तु और 'चित्स्वभावाय' कह कर ज्ञानस्वभावी चैतन्यमय पदार्थ ग्रहण किया है। 'स्वानुभूत्याचकासते' अर्थात् वह चैतन्यपदार्थ अपनी अनुभूति से प्रकाशित होता है। अनुभूति पर्याय है, इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की सिद्धि हुई। यहाँ अनुभूति से प्रकाशित होता है—इसका अर्थ यह हुआ कि राग से प्रकाशित नहीं होता, पुण्य से प्रकाशित नहीं होता व निमित्तादि से भी प्रकाशित नहीं होता। अपनी अनुभवरूप क्रिया से प्रकाशित होता है अर्थात् स्वयं को स्वयं से जानता है। ज्ञान की पर्याय से ज्ञायक जाना जाता है, ज्ञान की पर्याय से त्रिकाली ध्रुव जाना जाता है। स्वयं को स्वयं से प्रगट करता है अर्थात् अनुभूति ज्ञायक को प्रगट करती है। संवर अधिकार में आता है कि—'उपयोग में उपयोग है'—वहाँ 'उपयोग में' अर्थात् जाननक्रिया में 'उपयोग' है अर्थात् ध्रुव त्रिकाली आत्मा है। जाननक्रिया आधार तथा ध्रुववस्तु आधेय कही है। उपयोगरूप जाननक्रिया में त्रिकाली आत्मा जाना जाता है, इससे यहाँ जाननक्रिया को आधार और उसमें जो ध्रुव आत्मा ज्ञात हुआ उसे आधेय कहा है।

वस्तुतः ध्रुव तो अक्रिय है, उसमें जानने की क्रिया कहाँ है ? ध्रुव को पर्याय जानती है। पर्याय द्रव्य का आश्रय लेती है। द्रव्य द्रव्य का आश्रय नहीं लेता है, परन्तु पर्याय द्रव्य का आश्रय लेती है, अर्थात् पर्याय द्रव्य को जानती है।

'स्वानुभूत्याचकासते' ऐसा कहकर आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानने वाले जैमनीय प्रभाकर भेदवाले मीमांसकों के मत का व्यवच्छेद किया।

जो आत्मा को और ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही मानते हैं–प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता, ऐसा मानते हैं उनका अभिप्राय ठीक नहीं है। स्वानुभूति से आत्मा प्रत्यक्ष हो सकता है, ऐसा कहते हैं। वस्तु जो है वह ज्ञान में प्रत्यक्ष ही है। शास्त्रों में आत्मा को स्वरूपप्रत्यक्ष कहा है, स्वरूपप्रत्यक्ष ही आत्मवस्तु है, इसी से वह पर्याय में प्रत्यक्ष होती है।

समयसार में ४७ शक्तियाँ कही हैं। वहाँ आत्मा में एक प्रकाश नाम की शक्ति कही है। तदनुसार वह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हो सकती है। स्वयं स्वयं से प्रत्यक्ष अनुभव में आवे ऐसा वस्तुस्वरूप है। स्वयं स्वानुभवप्रत्यक्ष है। सम्यक्‌दर्शन में आत्मज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है। (पर के आश्रय बिना सीधा ज्ञान में ज्ञात होता है)। सम्यक्‌दर्शन तो प्रतीतिरूप है परन्तु उसी काल में मति-श्रुतज्ञान से स्व को ग्रहण करने से स्वयंप्रत्यक्ष हो जाता है। (वेदन की अपेक्षा यह बात है)। परमार्थवस्तु ही ऐसी है। स्वयं स्वयं से ज्ञात हो ऐसी ही वस्तु है।

ज्ञान अन्य ज्ञान से तो ज्ञात हो और स्वयं से स्वयं को न जाने–यह बात ठीक नहीं है–अर्थात् ऐसा मानना गलत है। ज्ञान ज्ञान से ही जानता है और ज्ञान ज्ञान से ही ज्ञात होता है। इसप्रकार ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है, स्वयं स्वयं को नहीं जानता–ऐसा मानने वाले नैयायिकों के मत का निषेध हुआ; ज्ञान स्वयं ही स्वयं को न जाने तथा पर को जाने–ऐसा कैसे बन सकता है ?

वास्तव में तो ज्ञान की पर्याय स्व की ओर झुकी इससे ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ। प्रत्यक्ष स्वानुभूति की दशा प्रगट हो गई, उस स्वानुभूति की दशा में जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान ज्ञायक को जानता है, साथ ही अन्य को भी जानता है। द्रव्य में स्व-पर को जानने की शक्ति है। वह जानने का कार्य तो प्रगट पर्याय में ही होता है।

क्रिया-काण्ड वालों को यह बात कठोर लगती है। वे ऐसा मानते हैं कि बाह्य त्यागरूपसंयम आदि ही आत्मा को प्राप्त करने के साधन हैं।

यहाँ तो स्पष्ट कहा है कि 'स्वानुभूत्याचकासते' अर्थात् आत्मा को प्राप्त करने के लिए अनुभूति ही एकमात्र उपाय है, साधन है।

कलश में तीन अस्ति से बात ली है। 'भावाय' शब्द द्वारा शुद्ध चैतन्य रूप द्रव्य अस्ति, 'चित्स्वभावाय' शब्द द्वारा ज्ञानादिरूप गुण अस्ति और 'स्वानुभूत्याचकासते' शब्द द्वारा आत्मा का अनुभव करने वाली स्वानुभूतिरूप पर्याय अस्ति ली है। कैसी अद्भुत शैली है? इसमें १२ अंगों का सार है। अमृतचंद्र आचार्य ने गजब का काम किया है, अमृत वर्षाया है। कहते हैं कि चैतन्य जिसका स्वभाव है ऐसी स्वभाववान भावस्वरूप आत्मवस्तु स्वानुभूति से ज्ञात होती है।

यहाँ अस्ति से बात की है। अस्ति अर्थात् अकेला सत्-सत्-सत्, इसमें सब आ जाता है। जब विस्तार से समझाते हैं तब कहते हैं कि अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध शुद्धात्मा नहीं हैं। ये सब हेय हैं, संवर उपादेय है, यह सब इसमें आ जाता है। वस्तु त्रिकाल शुद्ध है, उसका ज्ञानस्वभाव भी त्रिकाल शुद्ध, उसकी परिणति निर्मल शुद्ध, तीनों ही निर्मल – उस निर्मल में मलिनता नहीं है। क्यों नहीं है? यह कहने की जरूरत नहीं है। इन तीनों को जानने से सभी बात स्वत: स्पष्ट हो जाती है।

अब मोक्षरूप अस्ति की बात करते हैं। पूर्णता की बात करते हैं। 'सर्वभावान्तरच्छिदे' अपने भाव से भिन्न सभी जीव-अजीव, चराचर, सक्रिय-निष्क्रिय पदार्थों का सर्वक्षेत्र, सर्वकाल एवं इनके सर्व विशेषों सहित अर्थात् सर्व गुण-पर्यायों सहित यह शुद्धात्मा एक ही समय में जानने वाला है। यह पर्याय की पूर्ण सामर्थ्य की बात है। अपने भाव को तो स्वानुभूति से जानता है, परन्तु भावान्तर कहकर दूसरों के भावों को भी पूरी तरह जानने वाला है। अपने से भिन्न सभी भावों को अर्थात् सर्व क्षेत्र सम्बन्धी, सर्व काल सम्बन्धी, सभी जीव-अजीव पदार्थों को, सर्व विशेषों सहित अर्थात् एक-एक द्रव्य के सभी गुण तथा पर्यायों सहित एक ही समय में युगपत जानने वाला है। इसप्रकार आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, ऐसा सिद्ध किया।

सर्वज्ञ एक ही समय में सब जानने-देखने वाला है। सर्वज्ञ पहले समय में जानता है और दूसरे समय में देखता है – ऐसा मानने वाले भगवान को एक समय में सर्वज्ञ और दूसरे समय में सर्वदर्शी मानने के कारण उनकी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता को खण्डित कर देते हैं। यह सम्पूर्ण दृष्टि तत्त्वविरुद्ध है, काल्पनिक है। परमात्मा एक ही समय में सब जानते-देखते हैं। इसलिए सर्वज्ञ व सर्वदर्शी एक ही समय में हैं।

अहा हा..............! आत्मा की ज्ञानपर्याय की एकसमय में जानने की ताकत कितनी है! अपने सम्पूर्ण भाव और पर के सम्पूर्ण भावों को एकसमय में जाने, ऐसी उसकी योग्यता है। इसे मोक्षतत्त्व या केवलज्ञान कहते हैं। यह पर्याय की सामर्थ्य ही अद्भुत है तो फिर द्रव्य की सामर्थ्य का तो क्या कहना? एकसमय के केवलज्ञान पर्याय की अलौकिक सामर्थ्य बताकर सर्वज्ञ का अभाव मानने वाले मीमांसकों के मत का निराकरण किया।

यह तो दिगम्बर संतों-मुनियों का सिद्धान्त है। इसका क्या कहना? श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि—'उनके एक-एक शब्द में, एक-एक वाक्य में आगम भरा है।' इस पहले मांगलिक श्लोक में चार बोल कहकर अस्ति सिद्ध की है। भगवानआत्मा 'वस्तु' है, उसका चित्स्वभाव 'गुण' है। चितस्वभाव गुण है, क्योंकि यहाँ भेद करके समझाया है अर्थात् चित्स्वभाव स्व-भाववान का है, यह समझाया है। जो चित्स्वभाव है उसे अभेद से देखो तो वह द्रव्य है, भेद से देखो तो वह गुण है। यहाँ भाव है, चितस्वभावी है—ऐसा अभेद से कहा, चितस्वभाव गुण है—ऐसा भेद से कहा।

प्रवचनसार गाथा १०६ में आता है कि सत्ता व द्रव्य के अथवा गुण व गुणी के विभक्त प्रदेशत्त्व का अभाव है, दोनों के प्रदेश एक हैं, ऐसा होते हुए सत्ता और द्रव्य के भिन्नपना है अर्थात् अतद्भाव है। ये एक दूसरे में अभावरूप हैं इसलिए अन्यत्व है, ऐसा नहीं है। द्रव्य, गुण व पर्याय के बीच अतद्भावरूप अन्यत्व है। जो द्रव्य है वह गुण नहीं, गुण है वह द्रव्य व पर्याय नहीं, और जो पर्याय है वह द्रव्य व गुण नहीं है। इस अपेक्षा से अतद्भावरूप अन्यत्व है।

अरेरे भाई! तू अनादि से जन्म-मरण करके दुखी है। संसार में गरीब होकर भटकता व रंक होकर रखड़ता है। अपनी बादशाही शक्ति की खबर नहीं है। अरे भाई! भगवान पूर्ण आनंद का नाथ बादशाह है। उस बादशाहपने को जो स्वीकार करे उसके स्वतंत्र अतीन्द्रिय सुखस्वरूप पर्याय प्रगट होती है।

कलश १ के भावार्थ पर प्रवचन

अन्य मतवादी जो 'शिव' कहते हैं, उन शिव की यहाँ बात नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग केवलज्ञानी परमात्मा को भी 'शिव' कहा जाता है। उनके निरुपद्रव दशा प्रगट हो गई इस कारण वे 'शिव' कहलाते हैं। परम आनंद का नाथ पर्याय में प्रगट हुआ, इस कारण वे 'परब्रह्म' कहलाते हैं। आत्मा वस्तुरूप से

परब्रह्म है। सर्वज्ञ अरिहंत पर्याय में परमात्मा हैं, आत्मा पर्याय रहित अकेला परमात्मस्वरूप ही है। सर्वज्ञ परमेश्वर प्रगट 'परमज्योति' है। आत्मा त्रिकाल 'परम चैतन्यज्योति' है। श्रीमद् ने कहा है न कि –

शुद्ध बुद्ध चैतन्यधन स्वयंज्योति सुखधाम।
बींजु कहिए केटलुं कर विचार तो पाम।।

पर्याय में शुद्धात्मा का आदर, विचार, ज्ञान करे तो प्राप्त हो – ऐसी यह आत्मा की बात है।

ये प्रगट हुए शुद्धात्मा के नाम हैं। यह शुद्ध चैतन्य भगवान नित्य निरंजन है। सर्वज्ञ परमेश्वर पर्याय में निरंजन है। अंजन अर्थात् मैल जिसमें नहीं है उसे निरंजन कहते है। सर्वज्ञ-वीतराग पर्याय में निष्कलंक हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा वस्तुरूप से निष्कलंक हैं। सर्वज्ञ भगवान की पर्याय में सर्वज्ञता का क्षय नहीं होता, अतः वे अक्षय हैं। आत्मा अपने स्वरूप में अक्षय है। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से प्रगट हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्ष का मार्ग उसे चारित्रपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'अक्षय अभेद्य' कहा है। सर्वज्ञपना प्रगट होने पर पीछे कभी भी इसका अभाव नहीं होगा। इस अपेक्षा से वह अव्यय है। पर्याय दूसरे समय में व्यय होती है – यह दूसरी बात है, परन्तु एक बार सर्वज्ञ होने पर पुनः अल्पज्ञ हो जाय – ऐसा कभी नहीं होता। सर्वज्ञदशा यह व्ययरहित उत्पाद है – ऐसा प्रवचनसार में आता है। भगवान आत्मा वस्तुपने अव्यय है।

सर्वज्ञ वीतराग अरिहंत देव 'शुद्ध' हैं। ये इष्टदेव हैं। भगवान आत्मा परमार्थ से 'शुद्ध' है और यही आत्मा को इष्ट है। प्रवचनसार में कहा है कि भगवान अरहंत को पुण्य-पापरूपी अनिष्ट का नाश होकर इष्टपना प्रगट हुआ है। इष्ट जो वस्तु-भगवान पूर्णानंदप्रभु – इसके आश्रय से पर्याय में इष्टपना प्रगट हुआ है, और अनिष्ट जो अज्ञान व राग-द्वेष उसका नाश हुआ है।

सर्वज्ञ परमात्मा पर्याय में 'बुद्ध' है। एकसमय में ज्ञान की पूर्णदशा प्रगट होने पर स्वयं तथा समस्त लोकालोक ज्ञान में आया, इसलिए भगवान को बुद्ध कहते हैं। यह भगवान आत्मा द्रव्यदृष्टि से 'बुद्ध' है। ज्ञानस्वरूप बुद्ध की मूर्ति है। सर्वज्ञ परमेश्वर 'अविनाशी' है। इसप्रकार यह आत्मा भी 'अविनाशी' है। एकसमय में सर्वज्ञदशा जिसके प्रगट हुई है – ऐसा भगवान 'अनुपम' है, क्योंकि इससे किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। भगवान की उपमा किससे ? ऐसा इष्टस्वरूप शुद्ध

आनन्द का नाथ भगवान आत्मा जो दृष्टि का विषय है, वह त्रिकाल 'अनुपम' है।

सर्वज्ञ वीतराग किसी से छेदा नहीं जा सकता, अतः अच्छेद है। ऐसे ही भगवान आत्मा 'अच्छेद' है। छेद-खंड होते नहीं, ऐसी वस्तु है। भगवान सर्वज्ञ पर्याय में अभेद है। जो पर्याय से भेदा नहीं जाता – ऐसा आत्मा 'अभेद' है। गीता में भी अच्छेद व अभेद के शब्द आते हैं, किन्तु वह बात यहाँ नहीं है।

सर्वज्ञ को 'परमपुरुष' कहा जाता है, यह आत्मा वस्तुपने 'परमपुरुष' है। आनन्द का नाथ प्रभु सच्चिदानंदस्वरूप यह 'परमपुरुष' है। सर्वज्ञ-परमात्मा बाधारहित निराबाध है। सर्वज्ञ को बाधा कैसी? अलिंगग्रहण के नवमें बोल में आता है कि उपयोग का कभी भी पर से हरण नहीं हो सकता। यह आत्मा वस्तुपने निराबाध है। सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग देव 'सिद्ध' हैं। यह भगवानआत्मा सिद्धस्वरूप है। सर्वज्ञपरमेश्वर सच्चा 'सत्यात्मा' है, क्योंकि पर्याय में सत्यार्थपना प्रगट हो गया है। इसप्रकार द्रव्य स्वयं 'सत्यात्मा' सत्यार्थ-भूतार्थ त्रिकाल है। यह बात समयसार गाथा ११ में आती है।

सर्वज्ञ परमेश्वर पर्याय में चिदानन्द हैं। यह भगवानआत्मा शक्तिरूप से चिदानन्द है। चिदानन्द स्वभाव है, तब चिदानंद पर्याय प्रगट होती है। इष्टदेव 'सर्वज्ञ' हैं। यह आत्मा भी स्वभाव से सर्वज्ञ है। सर्वज्ञपरमेश्वर वीतराग हैं, यह आत्मा भी वीतरागस्वरूप ही है। द्रव्यस्वरूप से ही वीतरागस्वरूप है, जिसमें से वीतराग पर्याय प्रगट होती है। सर्वज्ञ परमात्मा 'अर्हन्त' सब को पूज्यनीय हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा भी पूजनीय 'अर्हन्त' है। पूजने वाली पर्याय है व पूजने योग्य भगवान आत्मद्रव्य है।

सर्वज्ञ परमेश्वर 'जिन' है। यह आत्मा भी जिनस्वरूप है, जिनस्वरूप ही स्वयं है।

सर्वज्ञ परमेश्वर आप्त हैं, उसी तरह यह आत्मा भी निश्चय से आप्त है। जैसे वीतराग पूर्ण हित के लिए मानने योग्य है, उसीतरह यह आत्मा भी पूर्ण हित के लिए मानने योग्य है। जैसे सर्वज्ञदेव भगवान हैं, परमेश्वर साक्षात् केवलज्ञानस्वरूप विराजते हैं, ऐसे ही आत्मा भी शक्ति अपेक्षा भगवान है। सर्वज्ञ भगवान कार्यसमयसार है तो स्वयं अपना आत्मा कारणसमयसार है। इत्यादि हजारों नामों से कह सकते हैं।

जब भगवान केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तव समोशरण में इन्द्र आकर के एक हजार आठ नामों से भगवान की स्तुति करते हैं। पं० बनारसीदासजी ने व जिनसेन स्वामी ने भी आदि पुराण में १००८ नामों से भगवान की स्तुति की है। जितने नाम सर्वज्ञ वीतराग के कहने में आते हैं उतने ही नाम पर्याय से पृथक् भगवान द्रव्य-स्वभाव के कहने में आते हैं। जो नाम सर्वज्ञ भगवान को लागू पड़ते हैं वेही नाम अनंत-अनंत स्वभावों से संयुक्त त्रिकाली ध्रुव भगवानआत्मा को भी लागू पड़ते हैं।

कलश टीकाकार ने तो आत्मा को उपादेय मानकर वहाँ निश्चय से आत्मा को ही ग्रहण किया है। अंतरंग में निश्चय का लक्ष्य है – इस कारण व्यवहार के साथ निश्चय की बात की है। पर को, पर्याय को, या भेद को उपादेय माने तो विकल्प उत्पन्न होते हैं। शुद्ध पूर्णानंद भगवान को उपादेय मानने से और आश्रय करने से निर्विकल्पता होती है। यहाँ समयसार में सर्वज्ञ वीतराग पर्यायपने प्रगट हैं, उन्हें लिया गया है; पर दोनों ही बातें अपनी-अपनी अपेक्षा से ठीक हैं।

वे सर्व नाम कथंचित् अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्यार्थ हैं। सर्वथा एकांतवादियों को भिन्न नामों में विरोध है, पर स्याद्वादियों को विरोध नहीं है। इसलिये जैसी वस्तु है उसे वैसा ही समझना चाहिए।

प्रथम कलश की टीका और भावार्थ पूरा करते हुए पं० जयचंदजी उसी भाव से भरा हुआ दोहा लिखते हैं :–

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतन रूप।
सब ज्ञाता लखिकें नमौं समयसार सब भूप ।। १ ।।

जो निज अनुभव से प्रगट होता है, चैतन्य जिसका स्वरूप है, सबको जानने का जिसका स्वभाव है, जो सबका राजा है – ऐसे समयसार को मैं जानकर नमस्कार करता हूँ।

उक्त पद्य में 'नमः समयसाराय' आदि पूरे कलश का भाव संक्षेप में आजाता है।

अव सरस्वती को नमस्कार करते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः।
अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।। २ ।।

श्लोकार्थ :– [**अनेकान्तमयी मूर्तिः**] जिसमें अनेक अन्त (धर्म) हैं ऐसे जो ज्ञान तथा वचन उसमयी मूर्ति [**नित्यम् एव**] सदा ही

[प्रकाशताम्] प्रकाशरूप हो। **[अनंतधर्मणः प्रत्यगात्मनः तत्त्वं]** जो अनन्त धर्मोंवाला है और परद्रव्यों से तथा परद्रव्यों के गुण-पर्यायों से भिन्न एवं परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार है, ऐसे आत्मा के तत्त्व को अर्थात् असाधारण–सजातीय विजातीय द्रव्यों से विलक्षण–निजस्वरूप को **[पश्यन्ती]** वह मूर्ति अवलोकन करती है।

भावार्थ :– यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचनरूप से नमस्कार किया है। लौकिक में जो सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है वह यथार्थ नहीं है, इसलिये यहाँ उसका यथार्थ वर्णन किया है। सम्यक्ज्ञान ही सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं। वह अनन्त धर्म सहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये वह सरस्वती की मूर्ति है, और उसीके अनुसार जो श्रुतज्ञान है वह आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है, इसलिये वह भी सरस्वती की मूर्ति है। और द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह भी उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनों के द्वारा अनेक धर्मवाले आत्मा को बतलाती है। इसप्रकार समस्त पदार्थों के तत्त्व को बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्ति है; इसीलिये सरस्वती के वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुत से नाम कहे जाते हैं। यह सरस्वती की मूर्ति अनन्तधर्मों को 'स्यात्' पद से एक धर्मी में अविरोधरूप से साधती है, इसलिये सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादीजन सरस्वती की मूर्ति को अन्यथा (प्रकारान्तर से) स्थापित करते हैं, किन्तु वह पदार्थ को सत्यार्थ कहने वाली नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा को अनन्तधर्म वाला कहा है, सो उसमें वे अनन्त धर्म कौन-कौनसे हैं? उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि–वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व इत्यादि (धर्म) तो गुण हैं; और उन गुणों का तीनों काल में समय-समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं। और वस्तु में एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्यरूप धर्म तो वचनगोचर हैं, किन्तु अन्य विशेषरूप अनन्त धर्म भी हैं जो कि वचन के विषय नहीं हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी वस्तु है, इसलिये उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं।

आत्मा के अनन्त धर्मों में चेतनत्व असाधारण धर्म है, वह अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है। सजातीय जीवद्रव्य अनन्त हैं, उनमें भी यद्यपि चेतनत्व है तथापि सबका चेतनत्व निजस्वरूप से भिन्न-भिन्न कहा है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशभेद होने से वह किसी का किसी में नहीं मिलता। वह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है, इसलिये उसे आत्मा का तत्त्व कहा है, उसे यह सरस्वती की मूर्ति देखती है, और दिखाती है। इसप्रकार इसके द्वारा सर्व प्राणियों का कल्याण होता है, इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकार इसके प्रति आशीर्वादरूप वचन कहा ।। २ ।।

कलश २ पर प्रवचन

भाषा वचनिकाकार पंडित जयचंदजी छाबड़ा 'सरस्वती' शब्द में श्रुतज्ञान, केवलज्ञान और वाणी – इन तीनों को गर्भित कर लेते हैं, जबकि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी अकेली वाणी को ही लेते हैं।

यह तो वीतराग का अनेकान्तमार्ग है। जिस अपेक्षा कथन करना हो, वही अपेक्षा लागू पड़ जाती है।

पं० जयचंदजी छाबड़ा ने 'अनेकान्तमयी मूर्ति' में ज्ञान और वचन दोनों को लिया है और ज्ञान में श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान – दोनों को ले लिया है – इसप्रकार श्रुतज्ञान, केवलज्ञान और वाणी तीनों ही आ जाते हैं। कलश टीकाकार कहते हैं कि 'अनेकान्तमयी मूर्ति' अर्थात् अनेक है धर्म जिसमें ऐसे चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा को बताने वाली 'अनेकांतमयी' वाणी। इसप्रकार राजमलजी ने इसमें अकेली वाणी ही ली है।

आचार्य कहते हैं कि जिस ज्ञान ने आत्मा को प्रत्यक्षरूप से पूर्ण देखा ऐसा केवलज्ञान जगत में नित्य प्रकाशमान हो, तथा आत्मा को परोक्षपने पूर्णरूप से देखने वाला श्रुतज्ञान नित्यप्रकाशरूप हो। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इनमें प्रत्यक्ष व परोक्ष का ही अन्तर है। इसके सिवा आत्मा के स्वरूप को देखने वाली ऐसी सर्वज्ञ वीतराग की दिव्यध्वनि-वाणी भी सदा प्रकाशरूप हो, क्योंकि जगत को सत् आत्मा का स्वरूप समझने में वह वाणी निमित्त है। नियमसार में आता है कि इष्टफल की सिद्धि का उपाय सुबोध है, अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है। सुबोध सुशास्त्र से होता है, और सुशास्त्र की उत्पत्ति भगवान की दिव्यध्वनि से होती है। इसलिये उसके प्रसाद को लेकर 'आप्तपुरुष' बुधजनों द्वारा पूजने योग्य हैं अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से 'सर्वज्ञदेव' ज्ञानियों द्वारा पूजनीय हैं। क्योंकि किये गये उपकार को साधु पुरुष भूलते

नहीं हैं। यहाँ केवलज्ञान जो मोक्ष, श्रुतज्ञान जो मोक्ष का उपाय, और सुशास्त्र जो मोक्ष का उपाय बताने वाला है; ये तीनों ही वन्दनीय हैं और उपकार मानने लायक हैं।

और कैसी है ? 'अनंतधर्मणः प्रत्यगात्मनः' अर्थात् परद्रव्यों से, तथा परद्रव्यों के गुण-पर्यायों से भिन्न और परद्रव्य के निमित्त से होने वाले अपने विकारी भावों से कथंचित् भिन्न एकाकाररूप अनंतधर्मों वाले आत्मतत्त्व का अवलोकन करती है अर्थात् असाधारण, सजातीय-विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निजस्वरूप का अवलोकन करती है।

यहाँ निर्मल पर्याय से भिन्न की बात नहीं की है, क्योंकि निर्मल पर्याय तो त्रिकाली का लक्ष्य करती है, इसका आश्रय करती है। त्रिकाली, नित्यानंद, ध्रुव भगवान आत्मा देह, कर्म, व राग से भिन्न है, ऐसे आत्मतत्त्व को श्रुतज्ञान और केवलज्ञान जानते हैं एवं वाणी उसे व्यक्त करती है, बताती है।

अब कलश टीका के कथन के साथ इस कथन की तुलना करते हैं :–

'पश्यन्ती' शब्द का अर्थ कलशटीकाकार ने अनुभवनशील लिया है तथा अनुभवनशील का भाव यह बताया है कि वाणी सर्वज्ञानुसारिणी है अर्थात् उसका स्वभाव सर्वज्ञ के ज्ञानानुसार परिणमित होने का है। कलश-टीकाकार ने 'पश्यन्ती' की व्याख्या इसप्रकार गजब की की है। वाणी को सर्वज्ञ वीतराग का इकरार करने वाली कहा है – अनुभवनशील शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया है। समयसार में पं० जयचंदजी ने 'पश्यन्ती' का अर्थ ऐसा किया है कि भावश्रुतज्ञान आत्मा को परोक्ष देखता है, केवलज्ञान आत्मा को प्रत्यक्ष देखता है और दिव्यध्वनि आत्मा को दिखाती है।

सर्वज्ञस्वभाव का अनुसरण करना जिसका स्वभाव है, उस वाणी को सरस्वती कहा है। इसे शास्त्र भी कहा है, शास्त्र का अर्थ कलश टीका में अकेला 'वाणी' किया है, जबकि समयसार में तीन किये हैं – श्रुतज्ञान, केवलज्ञान और द्रव्यश्रुत अर्थात् जिनवाणी। केवलज्ञान भी शास्त्र है न ? भावश्रुतज्ञान का फल केवलज्ञान आता है, इसलिये इसे भी शास्त्र कह दिया। ये तीनों ही सच्ची सरस्वती हैं। इसलिए तीनों को नमस्कार किया है। वाणी पूर्ण आत्मा को बताती है। इसलिये वाणी को भी हमारा नमस्कार हो। यहाँ कोई वितर्क करे कि वाणी तो अचेतन है, इसे नमस्कार क्यों किया ? उसका उत्तर कलश टीकाकार पं० राजमलजी ने ऐसा दिया है कि वाणी सर्वज्ञ अनुसारिणी है। इसके सिवा जीवादि

पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान कराने में वाणी निमित्त है। इसलिए वाणी के भी पूज्यपना है। कलशटीकाकार ने स्वतन्त्र टीका की है, परन्तु अजब मेल वाली है।

भाई! सर्वज्ञपरमेश्वर क्या चीज है? इसकी लोगों को खबर नहीं है। भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वरूपी है। अहा! श्रीमद्जी ने कहा है न कि सम्यग्दर्शन होते ही (श्रद्धा अपेक्षा से) केवलज्ञान प्रगट हुआ है। अनादि से स्वयं शक्ति से सर्वज्ञ होते हुये भी अल्पज्ञ हूँ ऐसा मानता था वह सम्यग्दर्शन होते ही पूर्णानंद सर्वज्ञस्वभावी हूँ ऐसा श्रद्धा में आ गया, इसलिए श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान बर्तता है। अब तक श्रद्धा में सर्वज्ञ की मान्यता नहीं थी, अब श्रद्धा में सर्वज्ञत्व को प्रतीत में लिया है, इस अपेक्षा से सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, ऐसा कहा है।

निजस्वरूप को सरस्वती की मूर्ति अवलोकन करती है—अर्थात् भगवान आत्मा का जो पूर्ण स्वरूप है, उसे श्रुतज्ञान और केवलज्ञान अवलोकन करता है और वाणी इसे बताती है। इस तरह शास्त्रों को वन्दन करते हुये उक्त तीनों पहलू लिये हैं। जिसप्रकार भावश्रुतज्ञान की पर्याय त्रिकाली का लक्ष्य करती है उसीप्रकार केवलज्ञान की पर्याय त्रिकाली को जानती है। पर को जानती है यह बात यहाँ नहीं ली, त्रिकाली को जानते हुए सब जानने में आ जाता है। (स्वयं की पूर्ण पर्याय प्रगट हो जाती है)। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान का भेद नहीं रहता। कलश टीका में आता है कि ज्ञाता स्वयं, ज्ञान स्वयं व ज्ञेय भी स्वयं, तीनों ही अभेद हैं। इन्हें हमारा नमस्कार हो, ऐसा कहते हैं।

यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है। आशीर्वाद कहो कि—आशीर्वचन कहो। वाद अर्थात् वचन। लोक में भी आशीर्वाद देता हूँ ऐसा कहते हैं न? सरस्वती की मूर्ति नित्य प्रकाशित हो ऐसा आशीर्वाद कहा है। लौकिक में जो सरस्वती की मूर्ति को मोर के ऊपर बिठाकर उसकी पूजा करते हैं, वह यथार्थ स्वरूप नहीं है। इससे यहाँ उसके यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया है।

जो सम्यग्ज्ञान है वही सरस्वती की सच्ची मूर्ति है। द्रव्य को स्पर्श करके जो ज्ञान-पर्याय होती है वह सम्यग्ज्ञान है, वही सरस्वती की सच्ची मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्णज्ञान तो केवलज्ञान है जिसमें सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष भासते हैं, वह अनन्त धर्मों सहित आत्मतत्त्व को—चैतन्यतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है। आत्मा का चैतन्यतत्त्व चैतन्यपने सब धर्मों में व्यापक है। सब धर्मों में और सब गुणों में व्यापक यह महाचैतन्य आत्मतत्त्व का

असाधारण स्वभाव है। श्रुतज्ञान आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है। (वेदन की अपेक्षा से श्रुतज्ञान आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है)। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान के बीच इतना अन्तर है। तदनुसार शब्द पड़ा है न ? स्वयं में जो श्रुतज्ञान है वह भगवान के ज्ञान अनुसार और यथार्थ तत्त्व के अनुसार होता है, इससे भी वह सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है।

द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह भी निमित्त होने से सरस्वती की सच्ची मूर्ति है, क्योंकि वह वचनों द्वारा अनन्त धर्मों वाले आत्मा का ज्ञान कराती है। इसप्रकार सर्व पदार्थों का, तत्त्वों का ज्ञान कराने वाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्ति है। इससे सरस्वती के - वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुत नाम कहे जाते हैं। यह सरस्वती की मूर्ति नित्य-अनित्य वगैरह अनन्त धर्मों को स्यात् पद से अर्थात् कंथचित् – कोई अपेक्षा से एक धर्मी में अविरोधपने सिद्ध करती है, इससे सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादीजन सरस्वती की मूर्ति को दूसरी रीतियों से स्थापित करते हैं किन्तु वह पदार्थ को सत्य कहने वाली नहीं है। अतः उपरोक्त सत्यार्थ बताने वाली ज्ञान-वचनरूप सरस्वती ही यथार्थ है, ऐसा जानना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि आत्मा को अनन्त धर्मों वाला कहा है तो उसमें अनन्त धर्म कौन-कौन से हैं ? उत्तर में पहले सामान्य वस्तु की (छह द्रव्यों की) बात की है और अन्त में आत्मा की बात को लिया है। वस्तु में सत्पना अर्थात् होनापना है, वस्तुपना है, प्रमेयपना है, प्रदेशपना है, चेतनपना है, अचेतनपना है, मूर्तिकपना, अमूर्तिकपना है। यहाँ अचेतनपना और मूर्तिकपना जड़ की अपेक्षा से कहा है तथा अमूर्तिकपना जड़ (आकाशादि) और चेतन – दोनों में होता है। उपर्युक्त धर्म तो गुण हैं। यद्यपि यहाँ इन्हें धर्म शब्द से कहा गया है, तथापि ये गुण हैं। गुणों में प्रतिसमय होने वाले परिणमन को पर्याय कहते हैं। वे पर्यायें अनन्तानन्त हैं।

अब धर्म की बात करते हैं। धर्म अर्थात् धारण करने की योग्यता, गुण नहीं। (गुण को धर्म कहते हैं परन्तु धर्म को गुण नहीं कहते)। गुणों की पर्याय होती है, पर धर्मों की नहीं होती। वस्तु में 'एकपना' यह गुण नहीं है परन्तु धर्मरूप योग्यता है। इसीप्रकार अनेकपना, नित्यपना, अनित्यपना, भेदपना, अभेदपना, शुद्धपना, अशुद्धपना आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्य धर्म तो वचनगोचर, वचनगम्य हैं, परन्तु दूसरे विशेषरूप धर्म, वचन के विषय नहीं हैं। किन्तु वस्तु में ऐसे

अनंत धर्म हैं – जो ज्ञानगम्य हैं अर्थात् ज्ञान में ज्ञात तो होते हैं, पर वचन द्वारा कथन में नहीं आ सकते। यहाँ तक सामान्य बात की।

अब कहते हैं कि – आत्मा भी एक वस्तु है, उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं। आत्मा के अनन्त धर्मों में चेतनपना असाधारण धर्म है, क्योंकि अचेतन द्रव्यों में यह गुण नहीं है और आत्मा में भी स्व-पर को जानने की योग्यता वाला कोई दूसरा गुण नहीं है। यद्यपि सजातीय जीवद्रव्य अनन्त हैं, उनमें चेतनपना भी है, किन्तु प्रत्येक का चैतन्यपना पृथक्-पृथक् है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशभेद होने से प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र भिन्न है। यह चेतनपना अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है। आत्मा के अनन्त धर्मों में चैतन्य को मूलतत्त्व कहा है, क्योंकि अनंत धर्मों में चैतन्यपना व्यापक है। उसे यह सरस्वती की मूर्ति देखती है, श्रुतज्ञान व केवलज्ञान देखता है व वाणी दिखाती है। इसप्रकार इससे सर्व प्राणियों का कल्याण होता है। इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' ऐसा आशीर्वादरूप वचन कहा है।

प्रथम कलश में मांगलिक करते हुए सर्वज्ञपना सिद्ध किया है। वस्तुतः तो जीव का सर्वज्ञ स्वभाव है, यह उसका स्वरूप है। सर्वज्ञपना अपनी अनुभूति की क्रिया से प्रगट होता है। चैतन्यतत्त्वज्ञायकभाव अपने सब धर्मों में व्यापक है। प्रथम कलश में सर्वज्ञस्वरूप और प्रगट सर्वज्ञपना सिद्ध किया। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है – ऐसा कहकर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, अर्थात् अकर्त्ता है – ऐसा कहा है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय अकर्त्तापने के निर्णय में होता है। द्रव्य की पर्याय क्रम से होती है, इसमें आत्मा का कर्तृत्व नहीं है। जो क्रम से होती है उसमें कर्तृत्व कैसा? क्रमबद्ध-पर्याय में अकर्त्तापना अथवा अस्ति से ज्ञातापना ही सिद्ध किया है। जहाँ परवस्तु का व अपनी रागादि पर्याय का भी 'कर्त्तत्व' नहीं है वहाँ अकर्त्तापना अर्थात् ज्ञातापना है। ज्ञातापने का अनुभव हुआ, वही सम्यग्दर्शन है। दूसरे कलश में सर्वज्ञ की वाणी को नमस्कार किया है। सर्वज्ञ की वाणी भी सर्वज्ञपना सिद्ध करती है, पर का अकर्त्तापन बताकर ज्ञातापना सिद्ध करती है।

यहाँ तीसरे कलश में भी 'चिन्मात्र मूर्ति' कहकर आत्मा सर्वज्ञ-स्वभावी है, ऐसा सिद्ध किया है। इस कलश में टीकाकार आचार्य अमृतचंद्रदेव इस ग्रंथ का व्याख्यान करने के फल को चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं :–

(मालिनी)

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
ममपरमविशुद्धिः शुद्ध चिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ।।३।।

श्लोकार्थ :– श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि [**समयसार-व्याख्यया एव**] इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रंथ) की व्याख्या (टीका) से ही [**मम अनुभूतेः**] मेरी अनुभूति की अर्थात् अनुभवनरूप परिणति की [**परमविशुद्धिः**] परमविशुद्धि (समस्त रागादि विभावपरिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) [**भवतु**] हो । कैसी है यह मेरी परिणति ? [**परपरिणतिहेतोः मोहनाम्नः अनुभावात्**] परपरिणति का कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से [**अविरतम् अनुभाव्य-व्याप्ति-कल्माषितायाः**) जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है । और मैं [**शुद्ध-चिन्मात्र-मूर्तेः**] द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ ।

भावार्थ :– आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, किन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त पा करके मैली है – रागादिस्वरूप हो रही है । इसलिए शुद्ध आत्मा की कथनीरूप इस समयसार ग्रंथ की टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि रहित होकर शुद्ध हो, मेरे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो । मैं दूसरा कुछ भी ख्याति, लाभ, पूजादिक नहीं चाहता ।

इसप्रकार आचार्य ने टीका करने की प्रतिज्ञागर्भित उसके फल की प्रार्थना की है ।।३।।

कलश ३ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि समयसार अर्थात् शुद्धात्मा और उसके वाचक शब्द यानी समयसार नामक ग्रंथ की व्याख्या (टीका) से ही मेरी अनुभूति अर्थात् अनुभवरूप परिणति परम विशुद्धता को प्राप्त हो ।

देखो 'एव' शब्द पड़ा है, जिसका आशय है कि टीकारूप कथनी से ही परिणति विशुद्ध हो । एक ओर यह कहना कि टीका करने का भाव तो विकल्प है और टीका शब्दरूप होने से परद्रव्य है, और दूसरी ओर यह कहना कि उससे मेरी परिणति परम विशुद्धता को प्राप्त हो ।

पर ऐसा कहकर आचार्य यह कहना चाहते हैं कि 'मैं मुनि हूँ, मेरे तीन कषाय का तो अभाव है, परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं

हुई है–इसकारण टीका करने का विकल्प है।' 'टीका से ही परम विशुद्धि हो'– इसका अर्थ यह है कि टीका के काल में मेरा जोर तो पर्याय में सर्वज्ञस्वभाव को प्रगट करने का है और मेरा ध्येय ध्रुव ही है। ध्रुव सर्वज्ञस्वरूपी है और प्रगट करने योग्य सर्वज्ञ-पर्याय है। यद्यपि टीका के काल में सर्वज्ञता प्रगट नहीं हुई तथापि निर्मलता हुई है और विशेष निर्मलता होगी, क्योंकि मेरा ध्येय तो द्रव्य है। तीसरे पद में कहा है– 'मैं तो चिन्मात्र मूर्ति हूँ' इसका आशय यह है कि मेरा स्वरूप शुद्ध चिन्मात्र सर्वज्ञस्वभावी है। द्रव्यदृष्टि से तो मैं ऐसा ही हूँ।

प्रत्येक गाथा और कलश में ज्ञान की पूर्णता का वर्णन किया है। स्वयं को तथा जगत के अन्य द्रव्यों को, उनके गुण-पर्यायों को जानने वाला तो मात्र मैं ही हूँ। शक्तियों के वर्णन में जीवत्वशक्ति चितिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सर्वज्ञशक्ति आदि प्रत्येक में 'ज्ञान' आता है। ज्ञान बिना अन्य वस्तुओं को और अपने अनन्त गुणों को कौन जाने? ज्ञान गुण को छोड़कर अन्य गुण तो कुछ जानते नहीं, जानने वाला तो ज्ञान गुण ही है। ऐसे ज्ञानमात्र द्रव्यस्वभाव का ही टीका करने के काल में घोलन है– ऐसा आशय है।

कलश टीकाकार राजमलजी ने जिसप्रकार 'चिन्मात्रमूर्ति' का अर्थ शुद्ध-बुद्ध एक चैतन्यस्वभाव लिया है, उसीप्रकार 'मैं अनुभूतिस्वरूप हूँ' – इसमें अनुभूति का अर्थ द्रव्यदृष्टि या सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली ध्रुव लिया है।

समयसार की ७३वीं गाथा में षट्कारकों की प्रक्रिया से पार निर्मल अनुभूतिमात्र का अर्थ भी जिसप्रकार त्रिकाली के अर्थ में लिया है, उसी-प्रकार यहाँ भी 'अनुभूति' का अर्थ दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव के अर्थ में लिया है।

इसीप्रकार की बात प्रवचनसार – चरणानुयोग चूलिका में गाथा २०२ की टीका में ली है। वहाँ भेदज्ञान ज्योति से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि पुरुष अन्तरस्थिरतारूप मुनिधर्म अंगीकार करना चाहता है। अतः अपनी स्त्री के पास जाकर उसकी स्वीकृति चाहते हुए कहता है कि इस शरीर को रमाने वाली हे रमणी! तू मुझे छोड़, क्योंकि मैं मेरी अनादि की साथी 'अनुभूतिरूप रमणी' के पास जाना चाहता हूँ। यहाँ अनुभूति का अर्थ पर्याय से नहीं अपितु अनुभूतिस्वरूप त्रिकाली भगवान आत्मा से है। वह त्रिकाली भगवानस्वरूप आत्मा का ध्यान करने की आज्ञा चाहता है। कलश टीकाकार भी अनुभूति का यही अर्थ करते है।

आचार्य अमृतचंद्र को भी टीका के काल में अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा का ही घोलन है – इसकारण विशेष-विशेष निर्मलता होगी – ऐसी भावना है।

भले ही टीका के काल में पूर्ण निर्मलता हुई नहीं है, परन्तु टीका के काल में मेरा ध्येय तो ध्रुवधाम, सर्वज्ञशक्ति स्वभाव ही है। इसलिए ध्येय शुद्ध होने के कारण मेरी शुद्धि बढ़ती जाती है, क्योंकि ध्येय में से मेरी दृष्टि हटती नहीं है। टीका करते मेरी परमविशुद्धि होवे। इसका अर्थ यह है कि टीका के काल में मेरी परमविशुद्धि होवे। वहाँ मेरा ध्येय तो द्रव्यस्वभाव है किन्तु इस शास्त्र का भाव विशेष स्पष्ट हो, ऐसा विकल्प आता रहता है। ऐसा होते हुए भी टीका लिखते समय भी मेरा जोर तो अंदर में शुद्ध द्रव्य पर रहता है, उससे मेरी परमविशुद्धि होगी, ऐसा निश्चय है। मुझे विशुद्धि नहीं है, ऐसा नहीं है, किन्तु परमविशुद्धि होवे ऐसा कहते हैं, इसका अर्थ है टीका के काल में मेरा साधक स्वभाव बढ़ेगा – निश्चय ही बढ़ेगा – अवश्य बढ़ेगा। आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा का जो 'ज्ञ' स्वभाव – उसकी मुझे दृष्टि व आश्रय है, उससे पर्याय में जो विशुद्धि निर्मलता है, वह बढ़कर परमविशुद्धि होगी, ऐसा निश्चय हुआ है। अहाहा.......! कैसी अप्रतिहत दृष्टि ! कैसी चैतन्य के अनुभव की वलिहारी !! और कैसी चैतन्य के पूर्ण स्वभाव के सामर्थ्य की चमत्कारी क्रीड़ा !!!

प्रभु ! तू....तू....सर्वज्ञस्वरूपी है कि नहीं ? नाथ ! तुम कौन हो ? कैसे हो ? तुम जैसे हो वैसा जो ख्याल में आजाय तो क्रमबद्ध, अकर्त्तापना और ज्ञातापना सिद्ध हो जाय। इसमें सम्यक् नियतवाद है, किन्तु पाँचों ही समवाय एक ही साथ हैं। स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्य, काललब्धि, कर्मों का उपशम सब एक ही साथ हैं।

मेरी शुद्धि हुई है और विशेष आश्रय होने से शुद्धि बढ़ेगी। यह सब मुझे खबर है। मैं इस भाव से ही – सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के भाव से ही पूर्ण केवलज्ञान लेने वाला हूँ। विशुद्धि हो ऐसा कहा – इसमें यह आ ही गया कि प्रगट विशुद्धि के साथ ही अशुद्धि भी है, अन्यथा परम विशुद्धि होवे, यह क्यों कहते ? अशुद्धता का अंश अनादि का है। मेरी पर्याय में जो अशुद्धता का अंश है उस परिणति का हेतु मोह नामक कर्म है। परिणति विकारी है इसलिए परपरिणति कही, क्योंकि यह परिणति स्वभावभूत नहीं है। नियमसार के कलश नं० २५३ में आता है कि मुनि की दशा और केवलज्ञानी की दशा में अन्तर (फेर) माने तो जड़ है।

यहाँ मुनि ऐसा कहते हैं कि मेरी दशा में जरा राग है। नियमसार में–यह जो थोड़ा रागांश है इसे गौण कर दिया है, क्योंकि यह निकल जाने वाला है। इससे ऐसा कहा है कि 'मुनि में और केवली में अन्तर नहीं है, जो फेर (अन्तर) माने वह जड़ है।' प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाओं (पंचरत्न) में ऐसा कहा है कि जिसने मोक्षमार्ग साधा है उसे मोक्षतत्त्व कहना चाहिये। परन्तु यहाँ थोड़ी सी अशुद्धि है उसे ख्याल में रखा है।

इस अशुद्ध परिणति का हेतु मोह नामक कर्म है, यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसके उदय के फल को लेकर विकार है, ऐसा नहीं है। विपाक में जुड़ान हुआ, ऐसा लिया है। मेरी परिणति स्वयं कमजोर है, इस कारण विपाक में जुड़ जाती है, वहाँ निमित्त कुछ करता नहीं है। एक तरफ ऐसा कहते हैं कि 'समकिति को आस्रव व बंध नहीं होता' यह मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय की अपेक्षा से है। एक तरफ ऐसा कहते हैं कि 'ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु हैं, यह दृष्टि के जोर की अपेक्षा से बात की है। यहाँ मुनि कहते हैं कि मेरे अशुद्धता का अंश भी है, उसका निमित्त मोह कर्म है।

रागादि परिणामों की व्याप्ति मेरे में मेरे से है। पर्याय में विकार की व्याप्ति कमजोरी के ही कारण अनादि से है। कुछ परिणति निर्मल होते हुए भी पूर्ण निर्मल नहीं होने से, मेरे निरन्तर कलुषित परिणाम हैं, इससे मैं व्याप्त हूँ। कर्म तो निमित्तमात्र हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि–समकिती वस्तुरूप से अपने को प्रभु मानता है, परन्तु पर्याय में स्वयं को तृण के तुल्य पामर मानता है। कहाँ तो केवलज्ञान की दशा और कहाँ मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय के अभावपूर्वक की चारित्र-दशा? द्रव्यरूप से मैं पूर्ण प्रभु हूँ, यह मेरा लक्ष्य है। पर्याय में पामरता है, तृण तुल्य हूँ। इस कमजोरी का नाश करने के लिए मेरा प्रयत्न टीका करते समय भी अन्तरस्वभाव के सन्मुख होने का ही है। मुनिराज कहते हैं कि मेरी पर्याय में मलिनता है, संज्वलन कषाय है, फिर भी–ऐसा होते हुए भी मैं द्रव्यस्वभाव से शुद्ध हूँ। इस शुद्धस्वभाव की एकाग्रता के बल से सर्व कषायों का नाश होकर मुझे परमविशुद्धि होगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मेरी परिणति में थोड़ी अशुद्धता है, यह मेरे ख्याल से बाहर नहीं है। मैं शुद्ध ही हो गया हूँ, जो अशुद्धता आती है वह सब निर्जर जाती है–ऐसा नहीं है। अशुद्धता आती है, उतनी मलिन दशा है, उतना कर्मबंध होता है, उसमें मोहकर्म निमित्त है। पर्याय

में अशुद्धता है यह मुझसे मुझ में व्याप्त है। इसलिए इस गर्व में नहीं चढ़ जाना चाहिए कि समकिति हो गया, इसलिए बस सब-कुछ हो गया। कर्म का थोड़ा बंध होता है, किन्तु इसमें अशुद्धता निमित्त है। देखो, दृष्टि का जोर तो ध्रुव के ऊपर है व पर्याय में शुद्धता और अशुद्धता दोनों अंशों का ज्ञान यथार्थ बर्तता है।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से मैं 'शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति हूँ'। सभी सम्यग्दृष्टि स्वयं को द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति मानते हैं। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान की पर्याय में अन्तर है यह बात अलग है। मोक्ष-मार्ग प्रकाशक में (रहस्यपूर्ण चिट्ठी में) आता है कि जैसा समकित तिर्यंच के है वैसा ही समकित सिद्ध के है। द्रव्यदृष्टि से 'मैं चिन्मात्र मूर्ति हूँ' किन्तु परिणति में मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर मलिनता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रथम अधिकार में आता है कि मुनि के अशुभभाव तो है ही नहीं, मात्र कोई धर्म-लोभी जीव को देखकर उपदेश देने का शुभभाव आता है। यह शुभभाव भी अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से आता है।

छठवें गुणस्थान में आर्तध्यान भी है। छह लेश्याओं में छठे गुणस्थान में पीत, पद्म व शुक्ल हैं। इसलिये कहाँ किस अपेक्षा कथन होता है – यह बराबर समझना चाहिए।

टीका करने में परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य है। परद्रव्य ऊपर लक्ष्य करें तो राग हुए बिना नहीं रहता। मोक्षपाहुड़ में १६वीं गाथा में कहा है कि 'परदव्वाओ दुग्गई' अर्थात् परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जायगा तो राग होगा और उस आत्मा की दुर्गति होगी यानी चार गतियों में भ्रमण होगा। टीका के शब्द परद्रव्य हैं, परद्रव्य पर लक्ष्य जाय तो राग तो है; परन्तु जोर विकल्प पर नहीं है, जोर ध्रुव स्वभाव पर है। इसलिए इस टीका से मेरी परिणति रागरहित शुद्ध होवे, इस अपेक्षा से ऐसा कहा है। उपदेश का विकल्प उठता है यह राग है, राग है अर्थात् बंधन है। राग की दिशा पर की ओर है, राग की दशा मैली है, पर मेरा जोर द्रव्यस्वभाव के ऊपर होने से मुझे शुद्धस्वभाव की प्राप्ति होगी, ऐसा कहा है। परिणति में परमविशुद्धि होवे, दूसरी कोई इच्छा नहीं है। लाभ, ख्याति, पूजादि नहीं चाहता हूँ।

इसप्रकार आचार्यदेव ने टीका करने की प्रतिज्ञा की है और गर्भितरूप से इसके फल की प्रार्थना की है।

मंगलाचरण

समयसार गाथा १

अथ सूत्रावतार :–

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादि-भावांतरपरपरिवृत्तिविश्रांतिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्-भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः

अब मूलगाथासूत्रकार श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रंथ के प्रारंभ में मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं :–

ध्रुव अचल अरु अनुपम गति, पाये हुए सब सिद्ध को ।
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो ॥१॥

गाथार्थ :– [**ध्रुवां**] ध्रुव, [**अचलां**] अचल और [**अनौपम्यां**] अनुपम – इन तीन विशेषणों से युक्त [**गतिं**] गति को [**प्राप्तान्**] प्राप्त हुए [**सर्वसिद्धान्**] सर्व सिद्धों को [**वंदित्वा**] नमस्कार करके [**अहो**] अहो ! [**श्रुतकेवलिभणितं**] श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित [**इदं**] यह [**समयप्राभृतं**] समयसार नामक प्राभृत [**वक्ष्यामि**] कहूँगा ।

टीका :– यहाँ (संस्कृत टीका में) 'अथ' शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है । ग्रंथ के प्रारम्भ में सर्व सिद्धों को भाव – द्रव्य स्तुति से अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके इस समय नामक प्राभृत का भाववचन और द्रव्यवचन से परिभाषण (व्याख्यान) प्रारम्भ करते हैं – इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं – वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं, – जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण

सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छंदस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थ-साक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन

पंचमगति – मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वह पंचमगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है, इसलिए ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है। चारों गतियाँ परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं। 'ध्रुव' विशेषण से पंचमगति में इस विनाशीकता का व्यवच्छेद हो गया। और वह गति अनादिकाल से परभावों के निमित्त से होनेवाले पर में भ्रमण, उसकी विश्रांति (अभाव) के वश अचलता को प्राप्त है। इस विशेषण से, चारों गतियों में पर निमित्त से जो भ्रमण होता है, उसका (पंचमगति में) व्यवच्छेद हो गया। और वह जगत् में जो समस्त उपमायोग्य पदार्थ हैं उनसे विलक्षण – अद्भुत महिमावाली है, इसलिए उसे किसी की उपमा नहीं मिल सकती। इस विशेषण से चारों गतियों में जो परस्पर कथंचित् समानता पाई जाती है, उसका (पंचमगति में) निराकरण हो गया। और उस गति का नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं, मोक्षगति इस वर्ग में नहीं है, इसलिए उसे अपवर्ग कही है। ऐसी पंचमगति को सिद्ध भगवान् प्राप्त हुए हैं। उन्हें अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित करके, समय का (सर्व पदार्थों का अथवा जीव पदार्थ का) प्रकाशक जो प्राभृत नामक अर्हत्प्रवचन का अवयव है उसका, अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने और पर के मोह का नाश करने के लिए परिभाषण करता हूँ। वह अर्हत्प्रवचन का अवयव अनादिनिधन परमागम शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थों के समूह को साक्षात् करनेवाले केवली भगवान् – सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होने से और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुननेवाले तथा स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली – गणधर देवों के द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त है। यह अन्यवादियों के आगम की भाँति छद्मस्थ (अल्प ज्ञानियों) की कल्पनामात्र नहीं है कि जिससे अप्रमाण हो।

भावार्थ :– गाथासूत्र में आचार्यदेव ने 'वक्ष्यामि' कहा है, उसका अर्थ टीकाकार ने 'वच्परिभाषणे' धातु से परिभाषण किया है। उसका आशय इस प्रकार सूचित होता है कि – चौदह पूर्वों में से ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व में बारह 'वस्तु' अधिकार हैं; उनमें भी एक-एक के बीस-बीस 'प्राभृत' अधिकार हैं। उनमें से दशवें वस्तु में समय नामक जो प्राभृत है उसके

च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ।।१।।

मूलसूत्रों के शब्दों का ज्ञान पहले बड़े आचार्यों को था और उसके अर्थ का ज्ञान आचार्यों की परिपाटी के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को भी था। उन्होंने समयप्राभृत का परिभाषण किया – परिभाषासूत्र बनाया। सूत्र की दश जातियाँ कही गई हैं, उनमें से एक 'परिभाषा' जाति भी है। जो अधिकार को अर्थ के द्वारा यथास्थान सूचित करे वह 'परिभाषा' कहलाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृत का परिभाषण करते हैं, – अर्थात् वे समयप्राभृत के अर्थ को ही यथास्थान बतानेवाला परिभाषासूत्र रचते हैं।

आचार्य ने मंगल के लिए सिद्धों को नमस्कार किया है। संसारी के लिए शुद्ध आत्मा साध्य है और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा हैं, इसलिए उन्हें नमस्कार करना उचित है। यहाँ किसी इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? इसकी चर्चा टीकाकार के मंगलाचरण पर की गई है, उसे यहाँ भी समझ लेना चाहिए। सिद्धों को 'सर्व' विशेषण देकर यह अभिप्राय बताया है कि सिद्ध अनन्त हैं। इससे यह माननेवाले अन्यमतियों का खण्डन हो गया कि 'शुद्ध आत्मा एक ही है'। 'श्रुतकेवली' शब्द के अर्थ में (१) श्रुत अर्थात् अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम और केवली अर्थात् सर्वज्ञदेव कहे गये हैं, तथा (२) श्रुत-अपेक्षा से केवली समान ऐसे गणधरदेवादि विशिष्ट श्रुतज्ञानधर कहे गये हैं; उनसे समयप्राभृत की उत्पत्ति बताई गई है। इसप्रकार ग्रन्थ की प्रमाणता बताई है, और अपनी बुद्धि से कल्पित कहने का निषेध किया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप चाहे जैसा कहकर विवाद करते हैं, उनका असत्यार्थपन बताया है।

इस ग्रन्थ के अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन तो प्रगट ही हैं। शुद्ध आत्मा का स्वरूप अभिधेय (कहने योग्य) है। उसके वाचक इस ग्रंथ में जो शब्द हैं उनका और शुद्ध आत्मा का वाच्यवाचकरूप सम्बन्ध है सो सम्बन्ध है। और शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति का होना प्रयोजन है।

गाथा १ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि मैं ध्रुव (यहाँ ध्रुव पर्याय की – सिद्धगति की बात है) अचल और अनुपम ऐसे तीन विशेषणों से युक्त गति को प्राप्त हुए सर्व सिद्धों को नमस्कार करके 'श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित अर्थात् भगवान श्रुतकेवली और केवली दोनों के द्वारा कहे गये इस समयसार नामक प्राभृत को कहूँगा।

यहाँ संस्कृत टीका में 'अथ' शब्द मंगल का सूचक है। अनादि के अज्ञानभाव का द्रव्य के आश्रय से नाश करके सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्रगट किया तब साधक भाव का प्रारम्भ हुआ और मंगल अर्थात् धर्म का प्रारम्भ हुआ। अनन्तकाल से द्रव्य के आश्रय बिना जिस साधक भाव का प्रारंभ नहीं हुआ था वह साधक भाव प्रगट हुआ – यही मंगल है। 'अथ' 'प्रथमतः' इन दो शब्दों से शास्त्र का प्रारंभ किया है।

अमृतचन्द्राचार्य महामुनि थे, समयसार की ऐसी टीका भरतक्षेत्र में दिगम्बर शास्त्रों में दूसरी जगह कहीं नहीं है। अन्य मत में तो होगी ही कैसे ? मुनि किसे कहते हैं, इसकी लोगों को खबर नहीं है। मुनि तो परमेश्वर हैं, जिनको तीनों कषायों का अभाव हुआ है। सम्यग्दर्शन भी जब अलौकिक वस्तु है तब फिर चारित्र तो इससे भी विशेष अलौकिक वस्तु है। ऐसे चारित्रवंत संत की यह टीका है।

ग्रंथ के आदि में आचार्य सब सिद्धों को अर्थात् अनन्त सिद्धों को भाव व द्रव्य स्तुतिपूर्वक नमस्कार करते हैं।

अन्दर में स्वयं में शुद्ध चैतन्यघन एकाकार परिणमन हुआ, यह भाव नमस्कार है और सिद्ध भगवान के स्वरूप का विचार विकल्पों में उठना यह द्रव्य नमस्कार है।

सर्व सिद्धों को भाव व द्रव्य स्तुति से स्वयं में और पर की आत्मा में स्थापित करके इस समय नामक प्राभृत का भाव वचन व द्रव्य वचन से व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। अहा हा........! ज्ञान की पर्याय अल्पज्ञ होते हुए भी अनन्त-अनन्त सिद्धों का आदर करते हैं। अनन्तज्ञान को प्राप्त परमात्मा को एकसमय में (पर्याय में) स्थापित करते हैं – यही इनका वन्दन है; अनन्त सिद्धों को पर्याय में स्थापित करे वही 'वंदितु' है। वंदितु का अर्थ है स्थापित करे। स्थापित करे अर्थात् ज्ञान की पर्याय में

रखे, साध्य को पर्याय में स्थापित करे। इस तरह सुनने वाले और कहने वाले दोनों में सिद्धपर्याय को स्थापित कर सुनाने की बात करते हैं।

अहा हा........! अनन्त सिद्धों को नमस्कार किया, अर्थात् अनन्त सिद्धों व अनन्त केवलियों को मतिज्ञान की पर्याय में स्वीकार किया। जिस पर्याय में इसका जोर आवे, अनन्त सिद्ध और केवलियों को अपने में स्थापित करे तो उसका लक्ष्य द्रव्य की ओर जाता ही है, यही इसका लाभ है।

आचार्य कहते हैं कि भविष्य में मुझे भी सिद्ध होना है और श्रोताओं को भी सिद्ध होना है, इसलिए अपने आत्मा व श्रोताओं के आत्मा में अनन्त सिद्धों की स्थापना करता हूँ। क्योंकि सिद्ध होने का समय, मेरे अभी नहीं है और श्रोताओं का भी नहीं है, इसलिए सिद्ध को पर्याय में स्थापित करता हूँ। लौकिक मंगल कार्यों में भी प्रस्थान करते हैं न? जिसप्रकार कभी कोई शुभ प्रसंग में किसी को बाहर जाना हो तो शुभ घड़ी में घर से प्रस्थान करके सामान पड़ोसी के यहाँ रख देते हैं, पीछे जब जाना हो तब वहाँ से जाते हैं। उसीप्रकार अपनी पर्याय में अनन्त सिद्धों की स्थापना करता हूँ।

मुझे सिद्ध में जाना है, इसका यह मंगल प्रस्थान है। अहा.......! श्रोताओं को भी ऐसा कहते हैं। पाँचवीं गाथा में आया है न? जो मैं शुद्धात्मा का स्वरूप दिखाऊँ तो प्रमाण करना। द्रव्य का आश्रय करके – अनुभव करके प्रमाण करना। 'हाँ' करने के विकल्प से नहीं, बल्कि पर्याय को द्रव्य की ओर झुकाकर अनुभव से प्रमाण करना।

अहो! समयसार की टीका के प्रारम्भ में ही ऊपर से साक्षात् केवली उतारे हैं। परमेष्ठी पद में स्थित मुनिराज की वाणी पर में से सुखबुद्धि की कल्पना का विरेचन कराने वाली औषधि है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है न कि –

वचनामृत वीतरागनां, परम शान्तरस मूल।
औषध जो भव रोगनां, कायर ने प्रतिकूल॥

अहा हा....! जिन वचन तो स्व-पर भेद-विज्ञान कराकर परम शान्ति प्रदान करनेवाली औषधि है। मिथ्या वासनाओं से उत्पन्न हुई भवरोग को मिटाने वाली है। किन्तु अरे रे....! वह कायर अर्थात् विषय-वासना के कल्पित सुख में रचने वाले नपुसंकों को सुहाती नहीं है, अनुकूल लगती नहीं है, रुचती नहीं है।

यहाँ जो कहा है कि हम सिद्ध को नमस्कार करते हैं। यह व्यवहार से बात उठाई है। 'सिद्ध' साध्य है न? इसलिए पर्याय में जो सिद्ध स्थापित किये – ये जानने के लिए हैं, आश्रय करने के लिए नहीं। आश्रय योग्य ध्येय तो त्रिकाल, ध्रुव, स्वभाव से सिद्ध – ऐसा निज शुद्धात्मा है।

आगे की १६वीं गाथा में आयेगा कि साधुपुरुष दर्शन, ज्ञान व चारित्र का सदा सेवन करें। लोक पर्याय के भेद से जानता है, इसलिए पर्याय से कथन है। सेवन करने योग्य तो एक आत्मा है, तीन भेद नहीं; ये तीन भेद तो पर्याय हैं – इससे वह व्यवहार है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन जो एकस्वरूप है, उस एक को ही सेवन करना है। परन्तु लोग पर्याय से – व्यवहार से समझते हैं, इसलिए भेद से कथन किया है। यह जानने के लिए है, ग्रहण करने के लिए नहीं।

इससे यहाँ अनन्त सिद्धों को पर्याय में उनका ज्ञान करने के लिए स्थापित किया है। किन्तु ध्येय तो एक 'द्रव्य' ही है।

पण्डित टोडरमलजी की 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में जहाँ सविकल्प से निर्विकल्प कथन किया है वहाँ कहा है कि चिन्मय आत्मा एकरूप है, इसमें सर्व परिणाम एकाग्र हो जाते हैं – इसलिए द्रव्य व परिणाम एक हो गया, ऐसा नहीं है। तथा द्रव्य और परिणाम दो होने से दृष्टि के विषय बनते हैं – ऐसा भी नहीं है। चिन्मात्र आत्मा जो द्रव्यार्थिकनय का या निश्चयनय का तथा सम्यग्दर्शन का विषय है वह तो एकरूप ही है, तीन-रूप नहीं। तीनरूप परिणमन है, ऐसा कथन तो असत्यार्थनय से कहने में आता है। सम्यग्दर्शन होने पर अकेली श्रद्धा ही नहीं, द्रव्य के सम्पूर्ण निर्मल परिणाम द्रव्य की तरफ ढलते हैं। मात्र मलिन परिणाम बाहर रह जाते हैं। द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता में एक ध्रुव आत्मा के सेवन की ही मुख्यता होती है। उससमय तीनरूप से हुये परिणमन को गौण करके – व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

समयसार गाथा १६ के कलश १७ में आता है कि 'आत्मा एक है तो भी व्यवहारदृष्टि से देखें तो तीन स्वभावपने के कारण अनेकाकाररूप (मेचक) है, क्योंकि दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनभावरूप परिणमन करता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनरूप परिणमन करता है यह व्यवहार कथन है। इसी कलश के भावार्थ में खुलासा है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है, इस नय की प्रधानता में पर्यायार्थिकनय गौण हुआ, इसकारण एक आत्मा का दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से तीनरूप

परिणमन कहना सद्‌भूतव्यवहार है; तथा राग है वह असद्‌भूतव्यवहार है। (आत्मा रागरूप परिणमन करता है–ऐसा कहना असद्‌भूत व्यवहार है।)

अहा! परिणमन की तीन निर्मलदशाओं को व्यवहार कहा, असत्यार्थ कहा – इस दृष्टि से द्रव्य की निर्मलपर्याय को साथ लेकर दृष्टि का विषय बनाना – यह तो बहुत स्थूल हो गया, यह तो मोटी-भूल है। निश्चयनय का विषय एक अंश है, प्रमाण नहीं है। जो एकरूप है वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। एक वस्तु को द्रव्यार्थिकनय से – निश्चय-दृष्टि से जब एक कहा तब दूसरा नय बाकी रह गया, क्योंकि वस्तु का दूसरा अंश भी है न? उसको विषय करने वाला व्यवहारनय बाकी रह गया अन्यथा नय ही नहीं कहलायेगा। तीनरूप से परिणमन करता है, यह पर्यायअंश व्यवहारनय का विषय है। इस व्यवहारनय के विषय को गौण करके 'वह नहीं है'–ऐसा कहकर इसे असत्यार्थकहा है और द्रव्य के साथ पर्याय लेना यह भी व्यवहार है। त्रिकाली, ध्रुवद्रव्य निश्चय है। दोनों मिलकर प्रमाण का विषय हो गया और प्रमाण स्वयं व्यवहारनय का विषय है, ऐसा 'पंचाध्यायी' में लिखा है।

पूर्ण शुद्धदशा को प्राप्त सिद्ध भगवान साध्यात्मा के स्थानापन्न हैं। सिद्धदशा आत्मा का नमूना है। उन सिद्धों के स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके उनके समान अपना स्वरूप ध्याकर अर्थात् 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा स्वयं का स्वरूप जो शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द है उसका ध्यान कर पूर्णता को प्राप्त करते हैं।

यहाँ पर्याय का ध्यान करने की बात नहीं है। यहाँ तो मेरा द्रव्य ही सिद्धस्वरूप है। स्वभाव से शक्तिरूप से मैं सिद्ध ही हूँ। 'नियमसार' में आता है कि सभी संसारी जीव (निश्चयनय की अपेक्षा से) सिद्ध समान ही हैं, अष्टगुण से पुष्ट हैं। यह स्वभाव की वात है, द्रव्य स्वयं सिद्धस्वरूप है। इसका ध्यान करके – अपने त्रिकालीस्वरूप का ध्यान करके उन जैसे हो जाते हैं। अहा! निर्मल पर्याय में ध्यान किसका है? स्वरूप से परिपूर्ण, आनन्दस्वरूप, एकरूप द्रव्य का। 'परम अध्यातमतरंगनी' में तीन स्थानों पर आता है कि 'पर्याय में द्रव्य को विषय बनाओ'। पर्याय का द्रव्य की ओर झुकना ही द्रव्य का ध्यान है। सिद्ध का ध्यान अर्थात् सिद्ध समान अपने स्वभाव का ध्यान। सिद्ध समान अपने स्वभाव का ध्यान करने से आत्मा स्वयं सिद्ध समान हो जाता है। इसप्रकार चार गतियों से विलक्षण सिद्धगति को प्राप्त करता है। चारों गतियाँ विकारयुक्त

हैं, उनमें जाकर वापिस आना पड़ता है, परन्तु मोक्ष में गये सो गये, फिर वहाँ अनन्तकाल तक समाधि में – सुख में बिराजमान रहते हैं।

अमृत के नाथ आचार्य अमृतचन्द्र ने अमरजाति प्राप्त कराने वाली अद्भुत बात कही है, अमृत बरसाया है।

आता है न कि –

'रे गुणवंता ज्ञानी अमृत बरसायो रे पंचमकाल में'

कैसी है वह पंचमगति ? ध्रुव, अचल, अनुपम। ध्रुवता से बात प्रारंभ की है। ध्रुवसिद्धपर्याय ध्रुवस्वभाव में से आई है। यहाँ सिद्धपर्याय को नमस्कार करना है। आत्मा के ध्रुवस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुई होने से सिद्धपर्याय ध्रुव है। चारों गतियाँ कर्म के निमित्त के आश्रय से उत्पन्न हुई होने से ध्रुव नहीं हैं, विनाशीक हैं।

इसप्रकार ध्रुवविशेषण से पंचमगति में विनाशीकता का व्यवच्छेद हुआ। यद्यपि मोक्ष की पर्याय भी नाशवान होती है, उसमें भी उत्पाद-व्यय होता रहता है; तथापि सदा एक-सी ही उत्पन्न होने से वैसी की वैसी ही रहती है। अतः उसे 'अविनाशी' कहा जाता है।

अब 'अचल' विशेषण पर विचार करते हैं। सिद्धगति आत्मा के 'अचल' स्वभाव में से आई है, अतः अचल है। सिद्धदशा एकबार हुई सो हुई, फिर उसमें फेरफार नहीं होता। इसलिए उसे अचल कहा है। इस विशेषण से सिद्धगति में पर के निमित्त से होनेवाले परिभ्रमण का व्यवच्छेद हुआ। जैसा आत्मा का स्वभाव अचल है, वैसी ही सिद्धपर्याय भी अचल हो गई है, अतः बदलती नहीं है।

और वह कैसी है ? 'अनुपम' है। अहा हा……! सिद्धगति की क्या बात ? समस्त उपमायोग्य पदार्थों से विलक्षण अद्भुत माहात्म्य वाली होने से उसे किसी की उपमा नहीं दी जा सकती। अहा हा……! एकसमय में जिसको अनंत अतीन्द्रिय आनंद, अनंत केवलज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत स्वच्छता, अनंत प्रभुता – उसे किसकी उपमा दी जावे ? इस अनुपम विशेषण से चारों गतियों में जो परस्पर समानपना मिल जाता है, उसका पंचमगति में व्यवच्छेद हुआ। बड़े चक्रवर्ती को स्वर्ग के सुख से उपमा दी जा सकती है, किन्तु पंचमगति को कोई उपमा नहीं दी जा सकती।

और कैसी है पंचमगति ? धर्म, अर्थ और काम से भिन्न है, यह त्रिवर्ग में नहीं आती, इससे इसे 'अपवर्ग' भी कहते हैं। धर्म अर्थात् पुण्य,

अर्थ अर्थात् लक्ष्मी और काम अर्थात् विषय-वासना – यह त्रिवर्ग है। इस त्रिवर्ग में मोक्षगति नहीं है। समस्त संसार का, चौरासी लाख योनियों का अभाव होकर सिद्धगति उत्पन्न हुई है। भाई ! यह व्ययरहित उत्पाद हुआ है। प्रवचनसार में आता है कि सिद्ध भगवान के संसार का जो व्यय हुआ है, वह उत्पादरहित व्यय है। संसार का जो नाश हुआ है, वह अब उत्पन्न नहीं होगा। अहा ! सिद्धगति जो उत्पन्न हुई है, व्ययरहित उत्पन्न हुई है। ऐसी सिद्ध अवस्था की वंदना की है।

इस तरह कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि – सिद्धों को अपने आत्मा में स्थापित करके समय अर्थात् सर्व पदार्थों का अथवा जीव नामक पदार्थ का प्रकाशक समयप्राभृत नामक ग्रंथ का मैं अपने और अन्य जीवों में अनादि काल से उत्पन्न हुये मोह के नाश हेतु परिभाषण करता हूँ। यह समयप्राभृत इन सर्व पदार्थों का तथा जीव पदार्थ का प्रकाशक है और इसे अर्हत-प्रवचन का अंश कहकर भगवान श्रीअरहंत के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि का एक अंश कहा है। यहाँ आचार्यश्री – स्वयं में भी चारित्रमोह की जो अल्प स्थिरता है, उसका तथा परजीवों में जो मिथ्यात्व-रागादि हैं, उनका नाश करने की बात करते हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने भी तीसरे कलश में कहा है कि यह टीका करते हुए मेरे मोह का नाश होगा। वे कहते हैं कि मेरे और पर के मोह-नाश के लिए परिभाषण करता हूँ अर्थात् व्याख्या (टीका) करता हूँ।

यह समयसार अर्हत् प्रवचनों का अवयव अर्थात् अंश है। कैसा है यह अंश ? अनादि-निधन परमागम शब्द-ब्रह्म से प्रकाशित है, सर्व पदार्थों के समूह को साक्षात् जानने वाले केवली भगवान सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत है। ऐसा कहकर इस समयसार ग्रंथ की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। समयसार कैसे बना है ? परमागम आदि से बना है तथा सर्वज्ञ भगवान ने उसे कहा है – और केवलियों के निकटवर्ती होकर साक्षात् (सीधे) सुनने वाले तथा सुनकर आनन्द-स्वरूप आत्मा का अनुभव करने वाले श्रुतकेवली, गणधर देवों द्वारा कहा होने से प्रामाणिकता को प्राप्त होता है। अन्य वादियों के आगम जैसी अल्पज्ञानियों की कल्पना मात्र नहीं है। यह तो अनादि-अनंत, शब्दब्रह्म, सर्वज्ञकथित तथा श्रुतकेवली एवं साक्षात् सुनने वालों व अनुभव करने वालों के द्वारा कहा हुआ है। इससे प्रमाण है। दूसरों के आगम तो कल्पित हैं। श्वेताम्बरों ने भी कल्पित आगम बनाया है। छद्मस्थ अल्पज्ञानियों की कल्पना-मात्र यह जैन-आगम नहीं है।

भावार्थ पर प्रवचन

गाथा सूत्र में आचार्य ने 'वक्ष्यामि' कहा है। टीकाकार ने 'वच् परिभाषणे' धातु से उसका अर्थ परिभाषण किया है। संस्कृत टीका में अन्तिम शब्द हैं – 'भाववाचा, द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते' – इसका आशय इसप्रकार से सूचित होता है कि चौदह पूर्वों में से ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व में बारह वस्तु अधिकार हैं, उनमें भी एक-एक में से बीस-बीस 'प्राभृत' अधिकार हैं, उसमें दशवीं वस्तु में 'समय' नाम का जो प्राभृत है, उसके मूल सूत्रों के शब्द का ज्ञान तो पहले के बड़े आचार्यों को था, और उनके अर्थ का ज्ञान आचार्यों की परिपाटी अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य को भी था। उन्होंने समयप्राभृत का परिभाषण किया। परिभाषा-सूत्र बनाये।

सूत्र की दश जातियाँ कही जाती हैं, उनमें एक 'परिभाषा' जाति भी है। अधिकार को जो यथासमय में अर्थ द्वारा सूचित करे वह परिभाषा है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयप्राभृत का परिभाषण करते हैं। श्रुत-केवलियों ने जो कहा, उनके अर्थ का ज्ञान श्री कुन्दकुन्दाचार्य को था।

आचार्यश्री ने मंगल के लिए सिद्ध को नमस्कार किया है। संसारी को शुद्ध आत्मा साध्य है और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा है। जो ज्ञायकभाव है वह अकेला ही आश्रय करने लायक है, किन्तु यहाँ तो सिद्ध भगवान को लिया है। सिद्ध भगवान को पर्याय में भी शुद्धता प्रगट हुई है। वस्तुरूप में आत्मद्रव्य स्वभाव से शुद्ध है। यहाँ शुद्धआत्मा के स्वरूप को कहने का प्रयोजन है – ध्रुवस्वरूप शुद्ध चैतन्य आत्मा कहने का प्रयोजन है। इसलिए उसको नमस्कार करना उचित है। कोई कहे कि इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? उसकी चर्चा टीकाकार ने मंगलाचरण में (प्रथम कलश में) की है, वही यहाँ जानना।

सिद्धों के सब ऐसे विशेषण दिये हैं, जिससे वे अनन्त हैं – ऐसा स्वयं सिद्ध हो जाता है और 'शुद्धात्मा एक ही है' ऐसा मानने वाले अन्य मतियों का व्यवच्छेद हो जाता है। वेदान्त वाले एक सर्वव्यापक आत्मा मानते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। आत्माएँ अनन्त हैं – ऐसा कहकर वेदान्तमत का व्यवच्छेद किया।

श्रुत को अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम शब्दब्रह्म कहा और केवली शब्द के दो अर्थ किये – (१) सर्वज्ञ (२) परमागम को जानने वाले श्रुतकेवली। श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं कि हम तो सर्वज्ञ परमेश्वर और श्रुतकेवली के द्वारा कहे गये जो अनादिनिधन परमागम –

उनका परिभाषण करते हैं। हम अपना कल्पित कुछ नहीं कहते। इससे यह ग्रंथ प्रमाण है।

अब इस ग्रंथ का अभिधेय क्या है, ध्येय क्या है, शब्दों का सम्बन्ध इसके साथ क्या है ? ध्येयआत्मा वाच्य और इसके शब्द वाचक हैं। तथा प्रयोजन शुद्धात्मा के सहजरूप की प्राप्ति होना है।

शुद्धात्मा का स्वरूप अभिधेय है। पर्याय जानती है, किन्तु ध्येय त्रिकाली शुद्धआत्मा है। त्रिकालशुद्ध, ध्रुवस्वरूप एकरूप त्रिकाल–जिसमें पर्याय का भेद भी नहीं–ऐसा शुद्धात्मा का स्वरूप अभिधेय है। छठवीं गाथा में कहेंगे कि ज्ञायकभाव प्रमत्त भी नहीं व अप्रमत्त भी नहीं, इसप्रकार इसे शुद्ध कहा है।

ध्येय अर्थात् ग्रहण करने लायक, आश्रय करने लायक, अनुकरण करने लायक, अनुशरण करने लायक जो ध्रुव है वही ध्येय है–ऐसा अनंत केवलियों ने कहा है। उस शुद्धात्मा के वाचक ग्रंथ के शब्द हैं। शुद्ध आत्मा का स्वरूप वह ध्येय है–अभिधेय है। दृष्टि में लेने लायक शुद्ध आत्मा ध्रुव है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् सम्यग्दर्शन की पर्याय का विषय है। दूसरे प्रकार से कहें तो पर्याय व्यवहार है, उसका विषय निश्चय है, त्रिकाली ध्रुवद्रव्य है। 'चिद्विलास' में आता है कि 'नित्य को अनित्य जानता है'। अर्थात् पर्याय ध्रुव को जानती है। वस्तु अनादि से ऐसी ही है। द्रव्य और निर्मल पर्याय–ऐसे दो भेद होते ही निश्चयनय का विषय नहीं रहा, व्यवहारनय का विषय हो गया। वस्तुतः व्यवहार का यानी पर्याय का विषय निश्चय (द्रव्य) होना चाहिए। पर्याय है, वह व्यवहार है, भेद है; उसका विषय त्रिकाली ध्रुव है, यह ध्रुव निश्चय है। इस ध्रुव को जब पर्याय जानती है, तब वह ध्रुव अभिधेय होता है।

ध्रुवद्रव्य ध्येय है। जब उसे ज्ञान की पर्याय जानती है, श्रद्धा की पर्याय ध्रुव को ध्येय बनाकर श्रद्धा करती है; तब कहते हैं कि भेद और व्यवहाररूप पर्याय अभेद को जानती है। वाणी सब बताती है। वाणी बताती है कि ज्ञान की पर्याय जानती है। यह तो अनादि सनातन सत्य है। ध्येय तो ध्येय है, किन्तु जब पर्याय ध्येय को जानती है, उसे ध्येय बनाती है, वास्तव में तो तब वह ध्येय बना कहा जाता है। शास्त्र में कहा है कि अभिधेय शुद्धात्मा ध्रुव है। किन्तु किसको ? जो जानता है, उसको।

आत्मा तो निश्चय से परमात्मस्वरूप विराजमान नित्य ध्रुव स्वयं है। उसे आचार्य भगवान ने छठवीं गाथा में ज्ञायक कहा और ११वीं गाथा

में भूतार्थ कहा है। भूतार्थ को जानती है पर्याय, किन्तु वह पर्याय द्रव्य में नहीं है। अहा ! पर्याय पर्याय की है, पर्याय को द्रव्य की कहना – यह तो पर से भिन्न करने के लिए है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव तीनों ही सत् हैं। पर्याय किसकी है – ऐसा भेद डालकर समझाना हो तब पर्याय द्रव्य की कही जाती है। निरपेक्ष से कहना हो तो पर्याय पर्याय की है और द्रव्य द्रव्य का है।

इस ग्रंथ में अभिधेय, सम्बन्ध, प्रयोजन प्रगट ही हैं। शुद्धात्मा का स्वरूप अभिधेय है, यह प्रगट है, गुप्त नहीं है। भगवान नित्यानन्द प्रभु वाच्य है और शब्द वाचक हैं। समयसार (शास्त्र) वाचक है और इसका वाच्य जो शुद्धात्मा है, उसे शब्द बताते हैं। जैसे शक्कर पदार्थ वाच्य है और शक्कर शब्द वाचक है। वाचक-वाच्य का अर्थ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। भगवान आत्मा ध्रुव वाच्य है – कहने लायक है और समयसार के शब्द वाचक हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो वाचक शब्दों के द्वारा कहा गया जो आत्मा उसका ज्ञान जिसे हो, वह ज्ञान की पर्याय अभिधेय को जानती है। श्रुत जैसे अभेद ध्येय को बताता है, उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय अभेद अभिधेय को जानती है। यह तो भगवान का अलौकिक मार्ग है भाई ! समयसार कलश २०० में आता है कि परद्रव्य और आत्मा में कोई भी सम्बन्ध नहीं है तो कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध किस प्रकार हो ? अब यहाँ कहते हैं कि वाचक-वाच्य का सम्बन्ध है – यह भी व्यवहार से है। तात्पर्य यह है कि ग्रंथ के शब्द और शुद्धात्मा के वाचक-वाच्य सम्बन्ध कहा, वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और वह व्यवहार है, निश्चय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह तो अनादि परमागमरूप शब्दब्रह्म से और भगवान केवली की वाणी से प्रमाणित बात है। भाई ! आगम अनादि है, यह कोई नया नहीं है। यह परमागम के शब्दों की शैली अनादि है। कहा है न कि – 'सिद्धोवर्णसमाम्नायः'। इस वाणी की कोई रचना करता है, ऐसा नहीं है। वाणी में पुद्गल की पर्याय की रचना अनादि है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी की रचना तो वाणी के कारण से है, केवली ने वाणी की रचना नहीं की। दिव्यध्वनि की रचना हुई, उसमें केवली निमित्त है। उस निमित्त से ऐसा कहा जाता है कि केवली ने कहा है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहार है।

तीर्थंकर श्रुत से उपदेश देते हैं – ऐसा धवल में पाठ है। भगवान श्रुतज्ञान से कहते हैं। भगवान की वाणी (दिव्यध्वनि) है, वह श्रुतज्ञान

से कही है, क्योंकि समझने वाले को उसके निमित्त से श्रुतज्ञान होता है, इसकारण 'श्रुतज्ञान से कहते हैं' ऐसा कहने में आता है। भगवान को श्रुतज्ञान है, ऐसा नहीं है। भगवान के तो केवलज्ञान है। आशय ऐसा है कि सुनने या समझने वाले को भावश्रुतज्ञान होता है। यद्यपि होता स्वयं से है, किन्तु वाणी निमित्त होने से यह भी श्रुत कहने में आ गई है। अनादि परमागम को द्रव्यश्रुत कहते हैं। गणधरदेव सूत्र की रचना करते हैं तथा भव्य जीवों को श्रुतज्ञान प्रगट होता है, उसमें केवली की वाणी (दिव्यध्वनि) निमित्त है – इससे वह वाणी भी श्रुत कही गई है।

शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो यह प्रयोजन है। अर्थात् जो शुद्ध, ध्रुव आत्मा है उसका पर्याय में अनुभव होवे, यह प्रयोजन है। जीवती ज्योत जो स्वयं जीव वस्तु है उसकी ज्ञान में स्वीकृति हो, यह प्रयोजन है। जैसा आत्मा है वैसा स्वीकार किया तब जीवती ज्योत को जीवित रखा। जो आत्मा के स्वरूप को इसके सिवा दूसरी रीति से मानता है वह मान्यता में शुद्धात्मा का घात करता है। इसलिए वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा यथार्थ मानना और अनुभवना – यह वास्तविक प्रयोजन है।

सिद्ध भगवान की स्तुति

जो अपती द्युति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक,
महासुख सागर को विसरामी।
जीव अजीव जिते जग में,
तिनको गुण ज्ञायक अन्तरनामी।
सो सिवरूप वसे सिव थानक,
ताहि विलोकि नमैं सिवगामी ।।

– कविवर पंडित बनारसीदास

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते —

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण ।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ।।२।।

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ।।२।।

योयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्त-

---

प्रथम गाथा में समय का प्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए यह आकांक्षा होती है कि समय क्या है ? इसलिए पहले उस समय को ही कहते हैं :-

जीव चरितदर्शनज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय जानना;
स्थित कर्मपुद्गल के प्रदेशों, परसमय जीव जानना ।।२।।

गाथार्थ :- हे भव्य ! [**जीवः**] जो जीव [**चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः**] दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है [**तं**] उसे [**हि**] निश्चय से (वास्तव में) [**स्वसमयं**] स्वसमय [**जानीहि**] जानो [**च**] और जो जीव [**पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं**] पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है [**तं**] उसे [**परसमयं**] परसमय [**जानीहि**] जानो।

टीका :- 'समय' शब्द का अर्थ इसप्रकार है — 'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एकपना' है, और 'अय् गतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है; इसलिए एक साथ ही (युगपद्) जानना और परिणमन करना, — यह दोनों क्रियायें एकत्वपूर्वक करे वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है। इसलिए वह समय है। यह जीवपदार्थ सदा ही परिणामस्वरूप स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्ता सहित है। (इस विशेषण से जीव की सत्ता को न मानने वाले नास्तिकवादियों का मत खण्डन हो गया। तथा पुरुष को — जीव को

त्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकाल-पुद्गलेभ्यो: भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेपि स्वरूपादप्रच्यवनाट्टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ: स समय:, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्ते: अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा दर्शनज्ञान-चारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभाव नियतवृत्तिरूपादात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्व-

---

अपरिणामी मानने वाले सांख्यवादियों का मत परिणमनस्वभाव कहने से खण्डित हो गया। नैयायिक और वैशेषिक सत्ता को नित्य ही मानते हैं, और बौद्ध क्षणिक ही मानते हैं; उनका निराकरण, सत्ता को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप कहने से हो गया।); और जीव चैतन्यस्वरूपता से नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानज्योतिस्वरूप है। (क्योंकि चैतन्य का परिणमन दर्शनज्ञानस्वरूप है।) (इस विशेषण से चैतन्य को ज्ञानाकार-स्वरूप न माननेवाले सांख्यमतवालों का निराकरण हो गया।); और वह जीव, अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मीपना है उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है,–ऐसा है। (क्योंकि अनन्त धर्मों की एकता द्रव्यत्व है।) (इस विशेषण से वस्तु को धर्मों से रहित मानने वाले बौद्धमतियों का निषेध हो गया।); और वह, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुणपर्यायों को अंगीकार किया है,–ऐसा है। (पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है; सहवर्ती को अक्रमवर्ती भी कहते हैं।) (इस विशेषण से पुरुष को निर्गुण माननेवाले सांख्यमत वालों का निरसन हो गया।); और वह, अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से जिसने समस्तरूप को प्रकाशने वाली एकरूपता प्राप्त की है,—ऐसा है। (अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओं के आकार प्रतिभासित होते हैं, ऐसे एक ज्ञान के आकाररूप है।) (इस विशेषण से ज्ञान अपने को ही जानता है, पर को नहीं,–इसप्रकार एकाकार को ही माननेवाले का, तथा अपने को नहीं जानता, किन्तु पर को जानता है, इसप्रकार अनेकाकार को ही माननेवाले का व्यवच्छेद हो गया); और वह, अन्य द्रव्यों के जो विशिष्ट गुण अवगाहन–गति–स्थिति–वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व हैं, उनके अभाव के कारण और असाधारण चैतन्यरूपता स्वभाव के सद्भाव के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल–

गतत्वेन वर्त्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते । एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति ।।

इन पांच द्रव्यों से भिन्न है । (इस विशेषण से एक ब्रह्मवस्तु को ही माननेवाले का खण्डन हो गया ।); और वह, अनन्त अन्य द्रव्यों के साथ अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होने पर भी, अपने स्वरूप से न छूटने से टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है । (इस विशेषण से वस्तु–स्वभाव का नियम बताया है ।); ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है ।

जब यह (जीव), सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव में नियत वृत्तिरूप (अस्तित्व-रूप) आत्मतत्त्व के साथ एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ वह 'स्वसमय' है, इसप्रकार प्रतीत किया जाता है; किन्तु जव वह, अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गांठ की भाँति (पुष्ट हुआ) मोह, उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से, दर्शनज्ञानस्वभाव में नियत वृत्तिरूप आत्मतत्त्व से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोहरागद्वेषादि भावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गलकर्म के (कार्माणस्कन्धरूप) प्रदेशों में स्थित होने से युगपद् पर को एकत्वपूर्वक जानता और पररूप से एकत्वपूर्वक परिणमित होता हुआ 'परसमय' है, इसप्रकार प्रतीति की जाती है । इसप्रकार जीव नामक पदार्थ की स्वसमय और परसमयरूप द्विविधता प्रगट होती है ।

भावार्थ :–जीव नामक वस्तु को पदार्थ कहा है । 'जीव' इस प्रकार अक्षरों का समूह 'पद' है और उस पद से जो द्रव्यपर्यायरूप अनेकांत-स्वरूपता निश्चित की जाये वह पदार्थ है । यह जीवपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है, दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप है, अनंतधर्मस्वरूप द्रव्य है, द्रव्य होने से वस्तु है, गुणपर्यायवान है, उसका स्वपरप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, और वह (जीवपदार्थ) आकाशादि से भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है, तथा अन्य द्रव्यों के साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता । ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है । जव वह अपने स्वभाव में स्थित हो तव स्वसमय है, और परस्वभाव–रागद्वेष-मोहरूप होकर रहे तव परसमय है । इस प्रकार जीव के द्विविधता आती है ।

गाथा २ पर प्रवचन

प्रथम गाथा में 'समयप्राभृत' कहने की प्रतिज्ञा की, अर्थात् समय का सार कहने की प्रतिज्ञा की। तब यह आकांक्षा होती है कि 'समय' अर्थात् क्या? इसलिए सर्वप्रथम 'समय' को ही कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप ही 'समय' है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त कर परिणमन करते हैं; इससे उन्हें 'समय' कहा जाता है। 'समय' शब्द का दूसरा अर्थ – एक ही साथ जानना और परिणमन करना है – ऐसी दो क्रियायें जिसमें हों उसे 'समय' कहते हैं। इसप्रकार सम्पूर्ण आत्मायें 'समय' हैं। इस गाथा में जो शुद्ध आत्मा को जाने और इसरूप ही परिणमन करे उसे स्व-समय जानना,–ऐसा विशेषरूप से कहा है।

गाथा में अन्तिम शब्द 'जाण' है न? यह 'जाण' आज्ञावाचक शब्द है अर्थात् आचार्य भगवान आज्ञा करते हैं कि हे भव्य! जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हैं, उन्हें निश्चय से स्व-समय जानो। भाषा तो देखो! वास्तव में तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि पर्यायें आत्मा में स्थिर – एकाग्र होती हैं तथा इस स्थान पर तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो आत्मा स्थित है उसे स्व-समय जानो,–ऐसा कहा। राग के नहीं, किन्तु ध्येय के लक्ष्य से जो ज्ञान, श्रद्धा व चारित्र प्रगट हुआ उसी में जो स्थित रहे वह 'स्व-समय' है। छहढाला में आता है कि 'पर द्रव्यन तें भिन्न आप में रुचि सम्यक्त भला है।' रुचि में आत्मा जाना गया अर्थात् आत्मा रुचि और ज्ञान में स्थित हुआ,–ऐसी शैली में बात की है।

जीव अर्थात् भगवान आत्मा जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो रहा है उसे 'स्व-समय' कहा जाता है। आचार्य भगवान स्वयं मुनि हैं न? इसलिए 'चारित्र-दर्शन-ज्ञान स्थित' ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। त्रिकाली द्रव्य सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में ख्याल में आया, इसलिए इसमें यह स्थित है – ऐसी बात कही है और ऐसे जीव को 'स्व-समय' कहा है। इसका अर्थ यह है कि जो जीव अनादि से राग में स्थित था वह आत्मा (स्व) में स्थित हुआ।

'जीव' शब्द क्यों कहा? कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा तो पूर्ण शुद्ध है और 'जीव' अशुद्ध है, किन्तु ऐसी बात नहीं हैं। जीव कहो या आत्मा कहो, दोनों एक ही चीज है।

यहाँ जीव शब्द 'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो' इस दूसरी गाथा से लिया है। और अन्त में जहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन है वहाँ 'जीवत्व शक्ति'

से प्रारम्भ किया है। आत्मा में एक जीवत्व शक्ति है जिसके कारण आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता – इन भावप्राणों को धारण करता है, इनसे टिकता है। 'जीव' कहकर जीवित द्रव्य अपने जीवत्व स्वभाव से जीते हैं – ऐसा कहा है। यहाँ कहना चाहते हैं कि हे भव्य! जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो रहे हैं, अर्थात् जो जीव ज्ञान में ज्ञात होते हैं, श्रद्धा में निर्णीत होते हैं, व स्थिरता में आते हैं, उन्हें निश्चय से स्व-समय जानो। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हे भाई! जो आत्मा अपनी श्रद्धा में श्रद्धेय बना, ज्ञान में ज्ञात हुआ या जाना गया और चारित्र में स्थिर हुआ उसे तू 'स्व-समय' जान। जीव का ध्येय (दृष्टि में लेने योग्य) तो द्रव्य है, यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो जो आत्मा अपने स्वरूप में परिणमन करता है उसे 'स्व-समय' कहा है। जो आत्मा अपनी शुद्ध परिणति में आता है उसे 'स्व-समय' कहा है। आत्मा जो विकाररूप में था, जब वह शुद्ध परिणति से परिणमे तब वह 'स्व-समय' है, तब आत्मा आत्मारूप से हुआ – ऐसा कहा जाता है। इस आत्मा का ध्येय तो त्रिकालीद्रव्य ही है। नियमसार में आता है कि सब कर्मों के क्षय का हेतु यह जो मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जिसे यहाँ 'स्व-समय' परिणति कहा, उसका हेतु परमात्मा है।

और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित हो रहे हैं, उन्हें 'पर-समय' जानो। जो जीव राग में स्थित हैं या पुद्गलकर्मों के प्रदेशों में स्थित हैं, वे भगवान आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में स्थित नहीं हैं। राग-द्वेष आदि विकार का जितना अंश है वह सब पुद्गलकर्म के प्रदेश हैं, आत्मा का भाव नहीं हैं। इससे उन्हें 'पर-समय' – अनात्मा जानो।

गाथा २ की टीका पर प्रवचन

'समय' शब्द का अर्थ इसप्रकार है। 'सम्' उपसर्ग है जिसका अर्थ एक साथ है और 'अय' गमनार्थक धातु है जिसका अर्थ गमन भी है और ज्ञान भी है। इससे एक ही साथ जानना और परिणमन करना ऐसी दो क्रियायें जिसमें हो वह 'समय' है। यह जीव नामक पदार्थ एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है, इसकारण यह 'समय' है। यहाँ जीव का अर्थ सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली शुद्धात्मा नहीं है। यहाँ तो जीव की सत्ता सिद्ध करते हैं।

यह जीव पदार्थ कैसा है? सदा ही परिणमनस्वरूप स्वभाव में रहने वाला होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति जिसका

लक्षण है – ऐसी सत्ता से सहित है। यहाँ अनुभूति का अर्थ अनुभव नहीं है, किन्तु अनुभूति का अर्थ रहना है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने रहना – यह अनुभूति का अर्थ है। यहाँ अनुभूति का अर्थ सम्यग्ज्ञान नहीं है। जड़ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने रहते हैं, उन्हें जड़ की अनुभूति कहते हैं। जड़ भी एकसमय में टिककर परिणमन करता है, इससे वह सत् है, सत्ता सहित है, किन्तु एक समय में परिणमन करे और जाने ऐसी विशेषता जड़ में नहीं है। यहाँ तो जीव की सत्ता का वर्णन है।

तत्त्वार्थसूत्र में 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' सूत्र है न? आत्मा भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्, ऐसी सत्ता से सहित है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव इन तीनों के एकसमय में होनेरूप सत्ता है। सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? यह बात पीछे करेंगे। यहाँ तो जीव का अस्तित्व किसप्रकार है, इसकी सिद्धि की है। उत्पाद अर्थात् नवीन पर्याय का होना। व्यय अर्थात् पुरानी (पूर्व) पर्याय का व्यय (जाना) और ध्रुवपना यानी कायम रहना, ऐसी सत्ता की यहाँ बात है। जीव जिससमय जाने उसीसमय परिणमे, ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप सत्ता यह जीव का स्वरूप है।

इस विशेषण से जीव की सत्ता नहीं मानने वाले नास्तिकवादियों के मत का खंडन हुआ। तथा पुरुष को अपरिणामी मानने वाले साँख्यों के मत का व्यवच्छेद हुआ। जीव परिणमता नहीं है, कूटस्थ है – ऐसा मानने वालों का परिणमन स्वभाव कहने से निषेध हुआ। द्रव्यस्वभाव, ध्रुव अपरिणामी जो सम्यक्दर्शन का विषय है, यह बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो परिणामसहित सम्पूर्ण द्रव्य सिद्ध किया है।

नैयायिक और वैशेषिक सत्ता को नित्य ही मानते हैं। बौद्ध सत्ता को क्षणिक ही मानते हैं, इन सबका यहाँ निराकरण हुआ। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्ता कहने से जो उत्पाद-व्ययरूप परिणमन नहीं मानते उनका निषेध हुआ। और ध्रुव कहने से मात्र क्षणिक ही मानने वालों का निषेध हो गया। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्ता की यहाँ सिद्धि की है। शास्त्रों में अनेक अपेक्षाओं से कहा है, उन्हें ध्यान में रखे तो यह बात समझ में आती है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्ता का 'होनापना', उसे यहाँ अनुभूति कहा है।

और जीव कैसा है? 'चैतन्यरूपपने' से नित्य-उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शन-ज्ञान-ज्योतिस्वरूप है। किन्तु यहाँ परिणमन की बात है, त्रिकालीध्रुव की बात नहीं है। यहाँ चैतन्य का परिणमन दर्शनज्ञान-स्वरूप है, ऐसा कहा है। जड़ का परिणमन जड़पने है और चैतन्य का

परिणमन 'दर्शनज्ञानपने' है ऐसा सिद्ध किया है। यह दर्शन यानी सामान्य उपयोग और ज्ञान यानी विशेष उपयोग की बात है। दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं, चैतन्यरूपपने से स्वयं चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा है, वह नित्य-उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शन-ज्ञान ज्योतिमय परिणमनस्वरूप है। चैतन्य का परिणमन दर्शनज्ञानस्वरूप है। इस विशेषण से चैतन्य को ज्ञानाकार ज्ञानस्वरूप नहीं मानने वाले सांख्यमत का निराकरण हुआ।

और वह कैसा है? अनन्त धर्मों में रहने वाले एक धर्मी को लिए हुए जिसे द्रव्यपना प्रगट है। अनन्त धर्मों की एकता द्रव्यपना है। यहाँ तो सब धर्मों की बात है, मात्र ध्रुव की बात नहीं है। किन्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनन्त धर्मों से उसे (द्रव्य को) एक धर्मीपना प्रगट है। सम्यग्दर्शन का विषय जो ध्रुवद्रव्य है उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो द्रव्य के अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एकपना है, उसे एकपने को लेकर जिसको द्रव्यपना प्रगट है, उस द्रव्य की बात है। इस विशेषण से वस्तु को धर्मों से रहित मानने वाले बौद्धमत का निषेध हुआ।

अहा! उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सम्पूर्ण 'समय' है। वह प्रमाणज्ञान का विषय है। सम्यग्दर्शन का विषय जो द्रव्य है, वह जुदी वस्तु है। देखो! यहाँ तो सम्पूर्ण वस्तु को सिद्ध किया है।

और वह कैसा है? क्रम और अक्रमरूप प्रवर्तते हुए अनेक भावरूप स्वभाव वाला होने से जिसने गुण-पर्यायों को अंगीकार किया है। जो क्रम से प्रवर्ते वह पर्याय है और अक्रम से प्रवर्ते वह गुण है। यहाँ तो वस्तु को सिद्ध करना है। पूरी वस्तु गुण व पर्यायों सहित है। गुण अक्रमवर्ती अर्थात् सहवर्ती हैं। पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप क्रमवर्ती हैं। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन का विषय जो द्रव्य उसकी बात यहाँ नहीं है। यह जीव द्रव्य जो पूरी वस्तु है वह गुण-पर्यायों सहित है। इस विशेषण से पुरुष को निर्गुण मानने वाले सांख्यमतियों का निराकरण हुआ।

और वह कैसा है? अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से जिसने समस्तरूप को झलकाने वाला एकरूपपना प्राप्त किया है। अहा……! अपना ज्ञान करे और पर-द्रव्यों के आकार को झलकावे अर्थात् पर के स्वरूप का ज्ञान करे, ऐसा स्व-पर को प्रकाशित करने की इसकी सामर्थ्य है। तीन काल व तीन लोक को जानने की सामर्थ्य एकसमय की पर्याय की है, इसलिए एकरूपपने रहता है, खंड-खंड नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

अहा..........! आचार्यों ने कितनी करुणा करके स्पष्ट किया है। साधारण जीवों के ख्याल में आ सके ऐसी सरल शैली में स्पष्ट किया है। उत्पाद-व्ययरूप सभी पर्यायें क्रम से होती हैं। यहाँ तो वस्तु को सिद्ध करते हैं। इसलिए सभी पर्यायों की बात है। सम्यग्दर्शन किस रीति से हो, यह बात अभी नहीं है। यहाँ तो वस्तु की सिद्धि करते हैं कि सर्वज्ञ परमात्माओं के ज्ञान में आया हुआ अथवा सर्वज्ञ के द्वारा देखा गया तत्त्व ऐसा है। अन्यमत वाला जैसा कहते हैं वैसा वस्तु-स्वरूप है ही नहीं। अपना और पर-द्रव्यों का आकार-स्वरूप प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से सम्पूर्णपने प्रकाशित करने वाला एकपना जिसने प्राप्त किया है, ऐसा जीव पदार्थ वह 'समय' है। तीनकाल, तीनलोक को ज्ञान की पर्याय जानती है, इसलिए ज्ञान एक आकाररूप है, ऐसा कहते हैं। इस विशेषण से ज्ञान स्व को ही जानता है; पर को नहीं जानता; ऐसा एकाकार मानने वालों का तथा स्वयं को नहीं जानता, किन्तु पर को ही जानता है – ऐसा मात्र अनेकाकार मानने वालों का व्यवच्छेद हुआ।

और वह कैसा है? अन्य द्रव्यों के जो विशेष गुण जैसे कि आकाश का अवगाहनहेतुत्व, धर्मास्तिकाय का गतिहेतुत्व, अधर्मास्तिकाय का स्थितिहेतुत्व, काल का बर्तनाहेतुत्व और पुद्गल का रूपीपना – उनके अभाव को लेकर और असाधारण चैतन्यरूपता स्वभाव के सद्भाव को लेकर आकाश, धर्म, अधर्म काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों से वह भिन्न है। अन्य द्रव्य के जो विशेषगुण उनका आत्मा में अभावपने को लेकर और असाधारण चैतन्यस्वभाव के सद्भाव को लेकर आकाशादि पाँच द्रव्यों से जीव भिन्न है। इस विशेषण से एक ब्रह्म वस्तु को मानने वालों का व्यवच्छेद हुआ।

और वह कैसा है? अनन्त अन्यद्रव्यों के क्षेत्र से भिन्न है। अनन्त अन्यद्रव्यों के साथ अत्यन्त एकक्षेत्रावगाह संबंधरूप होते हुए भी अपने स्वरूप से नहीं छूटने से जो टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है। जहाँ आत्मा है वहाँ अनन्त परमाणु, आकाश, काल, धर्म, अधर्म, सभी हैं; ऐसे अत्यन्त एकक्षेत्रावगाह होते हुए जीव अपने स्वरूप से छूटता नहीं है। अपने चैतन्यस्वरूप में ही रहता है, गुण और पर्यायरूप से टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभाव में ही रहता है। इस विशेषण से वस्तुस्वभाव का नियम बताया। जीव अन्यद्रव्यों के साथ एक ही क्षेत्र में मिलकर रहते हुए अपने क्षेत्र से भिन्नपने रहकर अपने चैतन्यस्वभावरूप ही रहता है। स्वरूप से कभी भी छूटता नहीं है ऐसा ही वस्तु-स्वरूप है।

इन सात बोलों से जैसा कहने में आया वैसा जीव नामक पदार्थ ही 'समय' है। सात बोलों से समय सिद्ध किया है। वे सात बोल इस प्रकार हैं :—

(१) जीव उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत्ता से सहित है।

(२) जीव दर्शन-ज्ञानस्वरूप परिणमन सहित है।

(३) जीव के अनन्तधर्मों में रहते हुए एक धर्मीपने को लेकर द्रव्यपना प्रगट है।

(४) जीव अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती – ऐसे गुण-पर्यायों सहित है।

(५) जीव के स्व-परस्वरूप को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से उसके समस्त रूप प्रकाशित करने वाला एकरूपपना है।

(६) जीव असाधारण चैतन्यगुण के सद्भाव तथा परद्रव्यों के विशेष गुणों के अभाव के कारण परद्रव्यों से भिन्न है।

(७) जीव अन्य द्रव्यों से अत्यन्त एकक्षेत्रावगाह होते हुए भी अपने भिन्न क्षेत्रपने रहकर एक टंकोत्कीर्ण चैतन्यरूप ही रहने के स्वभाव वाला है।

अहा ! ज्ञान उसे कहते हैं जो पूर्वापरविरोधरहित वस्तु को सिद्ध करे। आगे-पीछे विरोध आवे, उसे ज्ञान नहीं कहते।

अब यहाँ वह समय स्वसमय, परसमय किसप्रकार है, यह समझाते हैं। जब यह जीव सर्वपदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने पर सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्म-तत्त्व के साथ एकत्वरूप से लीन होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकतारूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमन करता है। ऐसी स्थिति वाला जीव स्वसमय कहा जाता है।

जो सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करे वह केवलज्ञान है। ऐसे केवलज्ञान को भेदज्ञान की ज्योति प्रगट करती है। इस भेदज्ञान-ज्योति का उदय होने पर सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव में पर्यायरहित, अभेद, त्रिकाल ध्रुव, चैतन्य आत्मतत्त्व में दृष्टि करके उसके साथ एकत्वगतरूप से वर्तता है, तव जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हुआ – ऐसा कहा जाता है। एक साथ स्व को एकत्वपूर्वक जानना और स्व में

एकत्वरूप से परिणमन करना स्वसमय है। यहाँ टीका में जानने के अर्थ में 'प्रतीत' शब्द का प्रयोग किया है।

इसके पूर्व (दूसरे बोल में) जो 'दर्शन-ज्ञान' आया था वह देखने-जानने की वात थी। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में 'दर्शन' शब्द से सम्यग्दर्शन की बात की है। शुद्ध-अभेद-चैतन्य-पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की रुचि 'सम्यग्दर्शन', उसका ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' और उसी में रमणता-स्थिरता 'सम्यक्चारित्र' है। उस दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से एक साथ स्वयं को एकत्वपने जानते हुए और परिणमन करते हुए आत्मा को स्वसमय जानो, ऐसा कहते हैं।

सात बोलों से जीव के स्वरूप को कहा – चारित्र-दर्शन-ज्ञान स्थित की व्याख्या करते हुए केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति की वात कही है। सर्व परद्रव्यों से भिन्न होकर 'दर्शन-ज्ञान' स्वभाव में नियतवृत्ति – अर्थात् त्रिकाली आत्मतत्त्व के साथ एकत्वपने बर्तता भेदज्ञान केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है।

एकसमय में केवलज्ञान, केवलदर्शन ज्योति से विराजमान चैतन्य-सूर्य भगवान अरहन्तदेव परमात्मा ने स्वसमय के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि – जो आत्मा पर से भिन्न पड़कर अपने दर्शन-ज्ञानस्वभाव में एकत्व को प्राप्त होता है उसे तू स्वसमय जान। ऐसी सर्वज्ञ की कही हुई वात यहाँ आचार्यदेव कहते हैं।

अहा ! कैसी स्पष्ट व्याख्या की है। सत् का ढिंढोरा पीटा है।

पाठ में 'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो' कहकर स्वसमय की वात पहले की है। अब परसमय की वात करते हैं। जब वह अनादि अविद्यारूपी केले की मूल गांठ की भांति मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की अधीनता से दर्शन-ज्ञानस्वभाव से निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से छूटकर, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुये मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवर्तता है, तब पुद्गलकर्म के कार्मण स्कन्धरूप प्रदेशों में स्थित होकर परद्रव्य को अपने साथ एकपने एककाल में जानता व रागादिरूप परिणमता है, वह परसमय है – इसप्रकार प्रतीत करने में आता है। यह सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा देखी गई आत्मा की वात है। दर्शन-ज्ञानस्वभावी आत्मा अनादि अज्ञान से मोह में पड़कर अपने स्वभाव से छूटकर, राग-द्वेष को एकत्वपने जानता व एकत्वपने परिणमता हुआ वर्तता है, तब पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने से इसे 'परसमय'

ऐसा प्रतीत करने में आता है अर्थात् वह परसमय है ऐसा जानने में आता है।

इसप्रकार जीव नाम के पदार्थ को स्वसमय और परसमय ऐसा द्विविधपना होता है।

स्वसमय और परसमय का फिर से थोड़ा विशेष स्पष्टीकरण किया जाता है। इस गाथा में जीव नाम का पदार्थ समय है। यह बात सात बोलों से पहले सिद्ध की है। अब उनमें स्वसमय व परसमय के परिणमन की बात करते हैं। तीनकाल व तीनलोक के द्रव्य-गुण-पर्याय की स्थिति को – स्वरूप को केवलज्ञान एकसमय में प्रकाशित करने को समर्थ है। सर्व पदार्थों के गुण, पर्याय, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, सभी एक समय में केवलज्ञान प्रकाशित करता है। ऐसा केवलज्ञान प्रगट करने की अपेक्षा से साध्य है। उसको उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति का उदय राग से भिन्न पड़कर स्वभाव की दृष्टि करने से होता है, ऐसे भेदज्ञान द्वारा जब यह जीव दर्शन-ज्ञानस्वभाव में नियतवृत्तिरूप – निश्चयपरिणमनतारूप – टिकनेरूप बर्तता है, अथवा त्रिकालध्रुव आत्मतत्त्व के साथ एकत्वपने से प्रवर्तता है – निश्चय रत्नत्रयरूप परिणति से बर्तता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से स्वसमय है – ऐसा जाना जाता है।

पहले जो समय कहा – वह द्रव्य-गुण-पर्याय सहित आत्मा समझना। अनादि द्रव्य-गुण-पर्यायवाले जीव का जो स्वरूप है उसका सात बोलों से वर्णन किया। इसमें से ध्येयरूप आत्मा की बात यहाँ कहते हैं। दर्शन-ज्ञानस्वभावरूप जो आत्मा उसके साथ एकत्वरूप से जो वर्तता है, वह स्वसमय है। ध्रुवरूप भगवान आत्मा – उसकी रुचि वह सम्यग्दर्शन, उसका ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान, उसमें स्थिरता वह सम्यक्चारित्र। इसप्रकार रत्नत्रयरूप से परिणमने को एकत्वगत हुआ – ऐसा कहने में आता है। अहा हा! रागरहित अकेला हो गया। दया, दान का राग विकल्प की एकतापने परिणमे और जाने वह परसमय है।

आत्मतत्त्व के साथ एकत्वरूप से परिणमन करता है अर्थात् एकपने की श्रद्धा, एकपने का ज्ञान और एकपने में रमणतारूप वर्तता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से स्वसमय है। पर्याय द्रव्य में स्थित हुई है, किन्तु द्रव्य स्वयं पर्याय में स्थित है, ऐसा कहा है। यहाँ तो परिणमन को सिद्ध करना है न? 'स्वसमय' के परिणमन का ध्येय तो त्रिकाली द्रव्य है, किन्तु यहाँ परिणमन बताकर उसे आत्मा कहने में आया है। रागरूप परिणमन करे वह अनात्मा है, ऐसा सिद्ध किया है।

लोग व्यवहार में अटक गये हैं। एकेन्द्रिय की दया पालना, छहकाय के जीवों की रक्षा करना आदि। अरे! यह तो तेरी स्वयं की दया पालने की बात चलती है। बापू! तू ज्ञान-दर्शनस्वभाव का पिण्ड परमात्मा है। यह तेरा चैतन्य जीवन है। निश्चय से त्रिकाल, एकरूप, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव चैतन्य प्राणों से जीवे वह जीव है। पहले 'जीवो' शब्द है न? यह जीव की व्याख्या चलती है। ऐसे शुद्ध जीव को यहाँ ध्येय बनाकर परिणमन करने की बात है। यह त्रिकाली निश्चय प्राणों की बात की है। अशुद्ध-निश्चय से अशुद्धभाव – क्षायोपशमिकभावप्राणों से जीवे वह जीव कहलाता है। अशुद्ध प्राणों से जीवे वह अज्ञानी है। तथा जड़, शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन, काया आदि से जीवे वह जीव है, ऐसा कहना वह असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। क्योंकि स्वयं जड़स्वभाव नहीं है, तो भी जड़ से जीवे ऐसा कहना यह असद्भूत व्यवहार है, वह असत्यार्थ है।

अमृतचन्द्राचार्य ने परिशिष्ट में 'जीवत्वशक्ति' कही है। यह जीवत्व-शक्ति दर्शन-ज्ञानस्वभावरूप शुद्ध चैतन्यभाव-प्राणरूप है। वह जीव का वास्तविक जीवपना है। शुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वभाव जो जीवत्व – उसकी रुचि, ज्ञान व रमणता हुई वह स्वसमय है। अनादि से परघर में भ्रमण करता था वह सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वघर में आया वह स्वसमय है। इससे उल्टा राग-द्वेष, दया-दान, पुण्य-पाप आदि परघर में भ्रमण करना वह परसमय है।

यह सब समझना पड़ेगा भाई! आबरू में, पैसा में, धूल में कुछ नहीं रखा है।

अब परसमय किसे कहते हैं यह स्पष्ट करते हैं। आत्मा के अनादि से अविद्या या अज्ञान से मोह पुष्ट है। मोहकर्म उसमें निमित्त है। मोहकर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोह के उदयानुसार अनादि से प्रवृत्ति करता है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया-दान आदि विकाररूप परिणमन करता है। इस विकारी परिणमन के आधीन हुआ वह दर्शन-ज्ञानस्वभावरूप आत्म-तत्त्व से छूट गया है। स्वसमय परिणमन में दर्शन-ज्ञानस्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप जो एकता होती है वह यहाँ विकारी परिणमन के अधीन होकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव से – निज शुद्धात्मतत्त्व से छूट जाता है, ऐसा कहा है। परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न यह मोह-राग-द्वेषादिभावों के साथ एक ही साथ एकपने को प्राप्त करता और जानता हुआ पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होने से परसमय है। पुण्य-पाप के विकारी भावों के साथ एकपना मानकर वर्तता है, वह मिथ्यादृष्टि परसमय है।

इस तरह जीव नामक पदार्थ को द्विविधपना प्रगट होता है, जो शोभास्पद नहीं है। एकपना ही शोभास्पद है। ऐसा आगे सिद्ध करेंगे। द्विविधपने में विसंवाद उत्पन्न हो जाता है। इसलिए वह सुन्दर नहीं है। ऐसा अगली गाथा ३ में कहेंगे।

गाथा २ के भावार्थ पर प्रवचन

जीव नाम की वस्तु को पदार्थ कहते हैं। जीव ऐसे अक्षरों का समूह वह 'पद' है। और उस पद से जो द्रव्य – पर्यायरूप अनेकांत स्वरूपपना निश्चित करने में आये वह पदार्थ है। यहाँ सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात नहीं है। यहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप सम्पूर्ण जीव पदार्थ कैसा है, वह सिद्ध किया है। पीछे जीव का स्वसमय, परसमयरूप परिणमन सिद्ध किया है।

अब सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन तथा मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

जो शुद्ध चैतन्यप्राणों से त्रिकाल जीवित रहे वह शुद्ध जीव है। क्षयोपशमभावरूप, अशुद्धभावप्राण और परदव्यरूप इन्द्रिय आदि प्राणों को दृष्टि में से हटाकर त्रिकाल शुद्धजीव की दृष्टि, रुचि, उसी का ज्ञान, और उसी में एकपने रमणता करना – यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यह आत्मा के सद्भूत व्यवहारप्राण हैं। यह स्वसमय है। इसे धर्मरूप परिणमन कहते हैं। यह धर्मकथा है। भाई! इसके सिवाय सब विकल्प है। कठिन है, पर वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा है।

आत्मा आत्मापने परिणमा, स्वभावपने परिणमा; वह स्वसमय है। यह स्वसमय परिणमनरूप है, अतः सद्भूत व्यवहार है। दर्शन-ज्ञान-स्वभाव यह त्रिकाल उपयोग है। उपयोग ही आत्मा है न? ऐसा त्रिकाल उपयोगरूप जो स्वभाव इसकी सत्तारूप जो शुद्ध आत्मतत्त्व उसकी रुचि, ज्ञान व रमणता, यह सम्यक्रत्नत्रयरूप धर्म है। इसी से जीव धर्मात्मा है, धर्मी है, वह स्वसमय है। और परस्वभावरूप – मोह-राग-द्वेषरूप होकर रहे, वह परसमय है अर्थात् अपने शुद्ध त्रिकाली स्वरूप से च्युत होकर पुण्य-पाप या राग-द्वेष को एकपने एक ही काल में जानता हुआ और परिणमता हुआ जो आत्मा है वह अनात्मा, अधर्मी तथा परसमय है – ऐसा जानने में आता है।

एकपने स्व-स्वरूप से परिणमन करे वह स्वसमय और अन्यपने रागादिरूप से परिणमे वह परसमय है। एक जीव को इस प्रकार विविधपना है। वह अशोभनीय है।

अथैतद्बाध्यते –

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ।।३।।

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके ।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ।।३।।

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते । समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः । ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केचनाऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमचुम्बंतोत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णंतो

अब, समय की द्विविधता में आचार्य बाधा बतलाते हैं :–

एकत्व-निश्चय-गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में ।
उससे बने बंधनकथा, जु विरोधिनी एकत्व में ।।३।।

गाथार्थ :– **[एकत्वनिश्चयगतः]** एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो **[समयः]** समय है वह **[लोके]** लोक में **[सर्वत्र]** सब जगह **[सुन्दरः]** सुन्दर है **[तेन]** इसलिये **[एकत्वे]** एकत्व में **[बंधकथा]** दूसरे के साथ बंध की कथा **[विसंवादिनी]** विसंवाद – विरोध करनेवाली **[भवति]** है ।

टीका :– यहाँ 'समय' शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से (एकत्वपूर्वक) अपने गुण – पर्यायोंको प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो समय है । इसलिये धर्म – अधर्म – आकाश – काल – पुद्गल – जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने जितने पदार्थ हैं वे सभी निश्चय से (वास्तव में) एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से उसमें सर्वसंकर आदि दोष आजायेंगे । वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं – स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करने से अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती इसलिये वे टंकोत्कीर्ण की भांति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और

नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यंते, प्रकारांतरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः। एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः। कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयत्वोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम्। अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ।।

समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं – टिकाये रखते हैं। इस प्रकार सर्व पदार्थों का भिन्न २ एकत्व सिद्ध होने से जीव नामक समय को बंध की कथा से ही विसंवाद की आपत्ति आती है; तो फिर बंध जिसका मूल है ऐसा जो पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना, वह जिसका मूल है ऐसा परसमयपना, उससे उत्पन्न होने वाला (परसमय–स्वसमयरूप) द्विविधपना उसको (जीव नाम के समय को) कहाँ से हो? इसलिये समय के एकत्व का होना ही सिद्ध होता है।

भावार्थ :– निश्चय से सर्व पदार्थ अपने २ स्वभाव में स्थित रहते हुए ही शोभा पाते हैं। परन्तु जीव नामक पदार्थ की अनादिकाल से पुद्गल कर्म के साथ निमित्तरूप बंध-अवस्था है; उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिए वह शोभा को प्राप्त नहीं होता। इसलिये वास्तव में विचार किया जाये तो एकत्व ही सुन्दर है; उससे यह जीव शोभा को प्राप्त होता है।

गाथा ३ की उत्थानिका पर प्रवचन

अब समय के द्विविधपने में आचार्यदेव बाधा बताते हैं। यह गाथा की तालिका है। पर्याय में एकपना – स्वसमयपना न होने से द्विविधपना है, वह विसंवाद – असत्यपना है।

एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है। जयसेनाचार्यदेव ने एकेन्द्रिय से लेकर सब जीव एकद्रव्यरूप (द्रव्यदृष्टि से एकरूप) होने से सुन्दर है, ऐसा सामान्यपने कहा है। यहाँ कहते हैं कि एकत्वनिश्चय को प्राप्त – अर्थात् भगवान शुद्ध स्वभावी चैतन्यघन प्रभु जो निज शुद्धात्मा उसका एकत्व में परिणमन अर्थात् सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्यायरूप परिणमन, वह समय है और वही सर्वत्र सुन्दर है। उससे एकत्व में दूसरे के साथ की बंध की कथा, निमित्त के संबंध की कथा कहना वह विसंवाद है, असत्य है। विसंवाद अर्थात् असत्य – ऐसा जयसेनाचार्य ने अर्थ किया है।

भगवान आत्मा आनंद का नाथ प्रभु, उसके साथ एकत्व परिणमन वह सुन्दर है, शोभास्पद है। वस्तु सुन्दर है और उसका परिणमन भी सुन्दर है क्योंकि सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन में वस्तु, जैसी सुन्दर है वैसी ख्याल में आती है। अकेला आत्मा जो त्रिकालद्रव्य है, वह तीनोंकाल सुन्दर है, भले निगोद में हो, परन्तु सुन्दर है।

यहाँ तो उससे भी विशेष कहते हैं कि जो सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणमन में आत्मा के सुन्दरपने का या स्वरूप की सत्ता का भान हुआ वह भी सुन्दर है, सत्य है। वस्तु श्रद्धा – ज्ञान में आते ही सुन्दरता की परिणति हुई, तब उसे सुन्दर कहने में आया है, इसे ही सत्यार्थ कहा जाता है। त्रिकाल शुद्धात्मा तो सत्यार्थ है ही, परन्तु इस सत्यार्थ को प्रतीति और ज्ञान में लिया, इससे सत्यार्थ कहा है।

इस वस्तु के एकत्व में दूसरे के साथ अर्थात् कर्म के निमित्त से हुये विकार – दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव या हिंसा, झूठ आदि अशुभभाव के साथ एकत्वपने की बंधकथा, बंधभाव, विसंवाद खड़ा करता है, इससे वह असत्य है। अबंधस्वभावी भगवान आत्मा के साथ बंधभाव का एकत्व असत्य है, दुःख उत्पन्न करने वाला है, इससे असुन्दर है।

स्वसमय और परसमय – इन दोनों में परस्पर विरोध है, क्योंकि परसमय में स्वनिश्चयगतपना नहीं रहा, ध्रुवपने रहा; किन्तु परिणमन में स्वगुण-पर्यायपने नहीं रहा और विकाररूप परिणमन हो गया।

गाथा ३ पर प्रवचन

एकत्वनिश्चय को प्राप्त समय नामक पदार्थ अपने गुण-पर्यायरूप तथा अभेद रत्नत्रयरूप से परिणमन करता हुआ लोक में सुन्दरता को प्राप्त होता है। द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत ध्रुव आत्मा के लक्ष्य से जो परिणमन अर्थात् पर्याय होती है, उसे यहाँ आत्मा कहा गया है। यहाँ अपनी पर्यायरूप परिणमन को आत्मा कहा है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत त्रिकालीध्रुव आत्मा की यहाँ बात नहीं है। 'एकत्वनिश्चयगत' कह कर ध्रुवद्रव्य में एकत्वपने परिणमे अर्थात् अपने स्वगुण-पर्यायपने परिणमे, यहाँ उसे स्वसमय कहा है और वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है।

पर के सम्बन्ध से परिणमन हो वह बाधारूप है, सत्य नहीं है। जयसेनाचार्यदेव ने उसे असत्यार्थ कहा है। एकत्व में दूसरों के साथ सम्बन्ध की कथा विसंवादनी है, विरोध उत्पन्न करने वाली है। वस्तु

स्वयं ध्रुवआत्मा है। उसके आश्रय से शुद्ध गुण-पर्यायपने परिणमन करे वह स्वसमय है। ऐसे स्वसमय के परिणमन को छोड़कर, निमित्ताधीन होकर परिणमन करे तो वह द्विविधता या विरोधपना उत्पन्न करने वाली है।

यह गाथा गंभीर है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में 'एकत्वनिश्चयगत' के तीन अर्थ किये हैं :—

१. एकेन्द्रियादि सभी पदार्थों में जीवद्रव्य सुन्दर है।

२. 'एकत्वनिश्चयगत' — जो अपने गुणों की पर्यायपने परिणमे वह सुन्दर है। यहाँ दूसरे बोल में विकारी और अविकारी सभी पर्यायोंरूप से परिणमे उसकी बात है।

३. 'एकत्वनिश्चयगत' — जो अभेद रत्नत्रयपने शुद्ध परिणमे, वह सुन्दर है, सत्य है।

एकेन्द्रियादि में जो द्रव्य है वह सुन्दर ही है, किन्तु यह बात किसके हृदय में बैठे? तो कहते हैं कि जिसके अभेद रत्नत्रय का परिणमन हुआ है — ऐसे ज्ञानी को 'सब सुन्दर है'; यह बात जँचती है, हृदय में बैठती है। अज्ञानी को तो खबर ही कहाँ है? यहाँ समय में भेद नहीं डालना है, किन्तु स्वसमय और परसमय — इसप्रकार परणति में दो भेद पड़ते हैं। 'समय' तो समय ही है। अपने ध्रुव आत्मा के साथ एकत्वरूप से परिणमन हो वह स्वसमय है और ध्रुव के साथ एकत्वपना छोड़कर राग के साथ एकत्वपने परिणमे वह परसमय है — यह दोपना ही असत्य है। यथार्थदृष्टि से इसमें दोपना कैसे हो सकता है?

बहुत गहरी बात है, भाई! ध्येय तो त्रिकाली ध्रुवद्रव्य ही है, उसमें कोई प्रश्न ही नहीं है; किन्तु जब यह ध्रुव के साथ एकत्व होकर शुद्ध परिणमे तब स्वसमय और ध्रुव को छोड़कर राग-विकार के अधीन होकर मिथ्या परिणमे तो परसमय है, द्विविधपना है, विरोध है। त्रिकाली ध्रुवद्रव्य निश्चय और उसके लक्ष्य से जो शुद्ध परिणमन हुआ वह — सद्भूत व्यवहार है। यह शुद्ध परिणमन जो है वह समय — आत्मा है ऐसा यहाँ कहा है। कर्त्ता-कर्म अधिकार गाथा ७१ (टीका) में यह बात ली है। वहाँ कहा है — 'इस जगत में जो वस्तु है वह अपने स्वभावमात्र ही है, और 'स्व' का भवन वह स्वभाव है। इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना, परिणमना, वह आत्मा है। और क्रोधादि का होना, परिणमना, वह क्रोधादि है। देखो, वस्तु तो त्रिकालध्रुव है, परन्तु पर के कर्त्तापने से, विभाव से पृथक् बताकर जो वस्तु का स्वभावरूप परिणमन है, उसे यहाँ कहा है।

कर्म के निमित्त से रागादि का परिणमन होता है; वह आत्मा नहीं – ऐसा सिद्ध किया है। दया, दान, व्रत आदि के विकल्परूप से परिणमना, जीव का परिणमन नहीं है। ध्रुव को ध्येय बनाकर निर्मलपने परिणमन को 'स्व-आत्मा' और कर्मों के सम्बन्ध से विकाररूप परिणमन को 'पर-आत्मा' कहा है। स्वभावपने परिणमना, वह जीव का कर्म है तथा विभावपने परिणमना जीव का कर्म नहीं है, बल्कि वह बाधा है, आपत्ति है।

नियमसार गाथा ५० में ऐसा कहा है कि निर्मलपर्याय भी परद्रव्य है। मूलगाथा में आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं ऐसा कहते हैं कि विकारीपर्याय तो परद्रव्य है ही, किन्तु निर्मलपर्याय को भी परद्रव्य कहा जाता है। मोक्षमार्ग की जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई – वह परद्रव्य है। पर्याय है न ? इस कारण उसे परद्रव्य कहा है। वहाँ दृष्टि का ध्येय एकमात्र ध्रुवद्रव्य बताया है, इसलिए निर्मलपर्याय को परद्रव्य कह दिया है। वह स्वद्रव्य नहीं, क्योंकि निर्मलपर्याय भी आश्रय करने लायक नहीं है। सम्यक्दर्शन का विषय तो मात्र ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव त्रिकाली है। उसमें निर्मलपर्याय को भी मिलावे तो दृष्टि एकदम विपरीत हो जाती है। मोक्षमार्ग की पर्याय को परद्रव्य कहा, क्योंकि उसमें से नयी पर्याय नहीं आती है। जैसे परद्रव्य में स नई पर्याय नहीं आती; उसीप्रकार मोक्षमार्ग की पर्याय में से भी दूसरी नयी पर्याय नहीं आती। इस अपेक्षा से निर्मल-पर्याय को परद्रव्य कहा है। ऐसा होते हुए भी यहाँ तो परिणमन की अपेक्षा है, इसलिए निर्मलपर्याय को स्वआत्मा—स्वसमय कहा है।

अहा ! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि मैंने जिनेश्वरदेव के उपदेश को बराबर जानकर पूर्वापर विरोध रहित बात यहाँ लिखी है, अपेक्षा से समझे तो समझ में आता है और विरोध नहीं रहता।

नियमसार के टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि जो यह टीका हुई, इसका बनाने वाला मैं नहीं हूँ। वस्तुतः यह टीका तो गणधरदेव से आयी है, इसमें कहा है कि—कारण परमात्मा—जो ध्रुव-वस्तु है वह एक ही मोक्षमार्ग का हेतु है, उसकी जो मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्याय प्रगटी वह परद्रव्य है, क्योंकि पर्याय है। यहाँ पर्याय को परद्रव्य कहा है। दृष्टि के विषय में पर्यायों को रखें तो महा विपरीत दृष्टि हो जाती है।

अहा हा····! क्या शास्त्र है ? समयसार, नियमसार में तो गजब बातें की हैं। भाई ! भगवान की गद्दी पर बैठकर जो बात चले तब तो भगवान कहते हैं, ऐसा अन्दर से आता है। (अर्थात् ऐसा अन्दर आत्मा में

महसूस होता है।) नियमसार में दृष्टि का विषय जो ध्रुवद्रव्य उसकी अपेक्षा से निर्मलपर्याय को परद्रव्य कहा और यहाँ समयसार में परिणमन अपेक्षा से निर्मलपर्याय को स्वआत्मा कहा है।

गाथा ३ की टीका पर प्रवचन

यहाँ समय शब्द से सामान्यपने सब पदार्थ कहे गये हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करे वह समय है। उससे धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो पदार्थ हैं, वे सब निश्चय से एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता पाते हैं; क्योंकि अन्यप्रकार से उनमें संकर, व्यक्तिकर आदि सर्व दोष आजाते हैं।

लोक में रहने वाले सभी पदार्थ एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से अर्थात् स्वयं में रहते हुए अपने स्वरूप को प्राप्त होने से सुन्दरता पाते हैं, उन द्रव्यों में पर की अपेक्षा नहीं है। जीव और पुद्गल दो द्रव्य विभावरूप परिणमन करते हैं। उनके विभाव परिणमन में पर की अपेक्षा नहीं है, स्वयं विभावपने से परिणमन करते हैं। अन्य चार द्रव्यों में तो विभाव परिणमन है ही नहीं, मात्र स्वभाव परिणमन ही है, इस प्रकार सब द्रव्यों में समयपना सिद्ध किया।

अन्य प्रकार से माने तो इनमें संकर व्यतिकर आदि दोष आजायेंगे। 'सर्वेषां युगपत् प्राप्ति स संकर: !' सब जड़ व चेतन द्रव्यों का मिलकर एक हो जाना संकर दोष है। तथा "परस्पर विषयगमनं' अर्थात् चेतन जड़ में और जड़ चेतन में आवे, यह व्यतिकर दोष है। आलापपद्धति में आठ दोषों का वर्णन आता है। यह न्याय का विषय है। यहाँ कहते हैं कि लोक में छह द्रव्य एकत्वनिश्चयगत होने से उनमें यह दोष लागू नहीं पड़ता, अन्यथा मानने से दोषों की आपत्ति आती है। वस्तु में दोष नहीं है। विपरीत मान्यता में दोष है।

वीतरागमार्ग और उसका स्वरूप क्या है? यह बात चलती है। केवली परमात्मा जिनेश्वर देव ही एक सच्चे देव हैं, जगत में कोई देव हैं तो यह एक ही हैं। वे अपनी दिव्यशक्ति केवलज्ञान द्वारा सब जानते हैं, लोकालोक जानते हैं, उनके द्वारा कहा गया यह तत्त्व है। उसे आचार्य भगवंत आढ़तिया होकर बताते हैं।

सभी द्रव्य एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से सुन्दरता पाते हैं, अन्य-प्रकार से इसमें संकरादि दोष आ जाते हैं, अर्थात् चैतन्यस्वरूप परमात्मा स्वयं स्वाधीन एकरूप न रहकर दूसरे में मिल जायगा अर्थात् दो होकर

एक हो जाय, इत्यादि दोष आजायेंगे। द्रव्य स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्यायपने स्वतन्त्र नहीं रहेगा, पररूप हो जायगा, पर में मिल जायगा इत्यादि आपत्ति आजाती है।

अरे! स्वयं आत्मा है, पर इसकी इसे कीमत कहाँ है? इसे तो धूल की (पैसे की), पुण्य की, पढ़ने की और क्षयोपक्षम ज्ञान की (विद्वत्ता की) कीमत भासती है, महिमा आती है, किन्तु ये सब तो 'पर' हैं।

अब कहते हैं कि कैसे हैं वे पदार्थ? अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहकर अपने अनंतधर्मों के चक्र का चुम्बन करते हैं–स्पर्श करते हैं, तो भी परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। परमाणु हो कि आत्मा हो, आकाश हो कि काल हो, प्रत्येक द्रव्य अपने अनंतगुण समूह का चुम्बन करता है, द्रव्य अपने गुण-पर्यायों को छूता है, परन्तु पर से अड़ता नहीं है, उसे छूता नहीं है। अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण-धर्म और उनकी अवस्थाओं को स्पर्श करता है, किन्तु पर के गुण-पर्यायों का स्पर्श नहीं करता। प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के बोल में तो ऐसा आता है कि द्रव्य अपने गुणों के भेद को स्पर्शता नहीं है। वहाँ अपेक्षा जुदी है। वहाँ तो अकेले अभेद को सिद्ध किया है। भगवान आत्मा एकरूप ध्रुव जो दृष्टि का विषय है, वह गुण-भेद को छूता नहीं है, आलिंगन करता नहीं है–ऐसा वहाँ कहा है। वहाँ द्रव्य के अन्दर-अन्दर दो अंश के बीच की बात है। जबकि यहाँ तो द्रव्य पर को स्पर्श नहीं करता, ऐसी छह द्रव्य की मर्यादा सिद्ध करने की बात है। यह तो अलौकिक मार्ग है, भाई!

पहले कहा है कि समय से स्वसमय और परसमय में ऐसा जो द्विविधपना आता है वह विसंवाद उत्पन्न करने वाला है, इसलिए उनके दोपने का निषेध किया है। (वहाँ राग आत्मा का स्वरूप नहीं है ऐसा बताया था)।

नयचक्र में कहा है कि प्रमाण में पर्याय का निषेध नहीं आता है, इसलिए प्रमाण पूज्य नहीं है। निश्चयनय के विषय में अकेला स्वभाव, ध्रुव, अखंडानंद प्रभु द्रव्य आता है, अतः इसमें पर्याय निषिद्ध है, इसलिए निश्चयनय पूज्य है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जो स्वपने परिणमन करे वह स्वसमय है, आत्मा है। जिस अपेक्षा से बात की हो वह अपेक्षा बराबर समझना चाहिए।

सम्पूर्ण पदार्थ अपने में अन्तर्मग्न अनंतधर्मों के समूह का चुम्बन करते हैं, छूते हैं, अड़ते हैं, आलिगंन करते हैं, तो भी वे सब परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अहा–हा······· ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता, आत्मा कर्म को छूता नहीं है। कर्म आत्मा का स्पर्श करते नहीं, एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्शते नहीं। एकप्रदेशी परमाणु में भी अनन्तप्रदेशी आकाश के बराबर अनंत गुणों की संख्या है। वे परमाणु द्रव्य अपने-अपने अनंतधर्मों के चक्र का चुम्बन करते हैं तो भी एक परमाणु दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं करता; क्योंकि एक दूसरे का एक दूसरे में अभाव है। अभाव में भाव का छूना कैसे बने ? वे द्रव्य परस्पर एक दूसरे को छूते नहीं है, अर्थात् एक परमाणु दूसरे परमाणु को, परमाणु आकाश को, आकाश परमाणु को, परमाणु आत्मा को, आत्मा परमाणु को, आत्मा आकाश को, आकाश आत्मा को परस्पर स्पर्श नहीं करते। आकाश नाम का एक पदार्थ है, उसमें अनन्त परमाणु रहते हैं, वहीं अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, कोई किसी को छूते नहीं हैं। एक निगोदिया जीव दूसरे निगोदिया जीव को छूता नहीं है। यह तो गजब की बात है, भाई !

इस तथ्य से 'कर्म जीव को हैरान करते हैं' यह बात उड़ जाती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया है'; परंतु ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है ऐसा कथन शास्त्र में आता है, उसे पकड़ लेता है। किन्तु यहाँ कहते हैं कि ज्ञानावरणी कर्म और आत्मा एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अतः यह कहना कि कर्म ज्ञान को रोकता है – इस अपेक्षा सर्वथा असत्य है।

शास्त्रों में कहीं परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाला कथन आवे तो समझना चाहिए कि वहाँ प्रयोजनवश विवक्षा-भेद होगा। क्योंकि जिनवाणी में परस्पर विरुद्ध कथन तो होता ही नहीं है। एक आचार्य का मत है, वही अनन्त आचार्यों का मत है। किस अपेक्षा से कथन किया है – यदि ठीक से समझे तो कहीं कोरा विरोध भासित होगा ही नहीं। एक निगोदिया के शरीर में अनन्त जीव हैं। एक-एक जीव के तेजस और कार्माण ऐसे दो-दो शरीर होते हैं, परन्तु वह एक जीव दूसरे जीव को छूता नहीं है, तथा जीव शरीर को भी नहीं छूता। देखो ! पर से पृथकता ! ऐसी प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता जिनेश्वर के मार्ग में बताई गई है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। परिचय न होने से ख्याल नहीं आता, परन्तु समझने जैसा है।

एक सिद्ध परमात्मा हैं, उसी क्षेत्र में अनन्त दूसरे सिद्ध जीव हैं, ऐसा होते हुए भी एक सिद्ध दूसरे अनन्त सिद्धों को नहीं छूते हैं, परस्पर स्पर्श नहीं करते। एकदम भेद करके समझाया है। प्रत्येक द्रव्य स्वयंसिद्ध है, स्वयं से स्वयं में परिणाम रहा है, पर का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

देखो, इस अंगुली में अनन्त परमाणु हैं, वे एक दूसरे को छूते नहीं हैं, क्योंकि एक दूसरे के बीच में सर्वथा अभाव है, अन्यत्व है। एक द्रव्य में – द्रव्य, गुण, पर्याय – तीनों के बीच में परस्पर अन्यत्व की बात प्रवचनसार शास्त्र में आती है। वहाँ जुदी अपेक्षा है, वहाँ तो अतद्भावरूप अन्यत्व कहा है। द्रव्य-गुण-पर्याय में वहाँ क्षेत्र-भिन्नता नहीं है, अतद्भाव है – एक है वह अन्य नहीं, ऐसा भाव है। किन्तु यहाँ तो द्रव्य-द्रव्य के बीच अभाव-रूप अन्यत्व है।

तत्त्वार्थसूत्र में आता है कि स्पर्शादि इन्द्रियाँ वस्तु को स्पर्श करके उनका ज्ञान करती हैं; परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, इन्द्रियाँ स्पर्श बिना ही जानती हैं। इन्द्रियाँ और वस्तु परस्पर एक दूसरे को छूते ही नहीं हैं; किन्तु परस्पर सन्निकट हैं, नजदीक हैं, इसलिए छूते हैं ऐसा कहा जाता है।

अब, क्षेत्र से बात करते हैं। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, तो भी जो सदाकाल अपने स्वरूप से हटते नहीं हैं। जहाँ आकाश का एक प्रदेश है, वहाँ अनन्त आत्मायें हैं। आत्मा का वास होते हुए भी आकाश को आत्मा छूता नहीं है। जहाँ आकाश है वहाँ आत्मा है, जहाँ आत्मा है वहाँ आकाश है; तो भी आत्मा अपना क्षेत्र छोड़कर आकाश के क्षेत्र में नहीं जाता और आकाश अपना क्षेत्र छोड़कर आत्मा में नहीं आता। आकाश के एक प्रदेश में अनन्त जीव, अनन्त परमाणु, धर्म, अधर्म, कालाणु सभी अत्यन्त निकट रहते हैं, तो भी वे सब कभी भी अपने स्वरूप से नहीं हटते, च्युत नहीं होते। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में ही रहता है, एक ही क्षेत्र में मिले हुए होने पर भी भिन्न रहता है। पररूप परिणमन नहीं करने के कारण से ही किसी भी वस्तु का नाश नहीं होता। जितनी वस्तु संख्या में हैं उतनी ही संख्या में कायम रहती हैं, अनन्त वस्तुएँ अनन्तपने स्वयं से रहती हैं। जितने द्रव्य हैं उनमें एक भी द्रव्य का नाश नहीं होता। सभी द्रव्य टंकोत्कीर्ण जैसे हैं वैसे स्थित रहते हैं, मानो टांकी से उकेरकर बनाये हों – ऐसे शाश्वत रहते हैं।

प्रवचनसार (गाथा ६७) में आता है कि विषय तो अकिंचित्कर हैं, वे जीव को विकार उत्पन्न नहीं कराते। इसीप्रकार शरीर, मन, वाणी, अच्छा भोजन – ये सब तेरा क्या करते हैं ? ये विषय तो तुझे छूते ही

नहीं, ये जीव को राग उत्पन्न कराते हैं – यह बात है ही नहीं। राग तो तब होता है जब जीव स्वयं राग करता है।

तू बालक को चुम्बन करता है और उससे राग होता है – ये दोनों बातें ही झूठी हैं। यहाँ तो कहते हैं कि होठ बच्चे को छूते ही नहीं और उस कारण राग भी नहीं होता। राग तो तू स्वयं करता है तब होता है – ऐसी बात है, भाई!

तथा टीकाकार कहते हैं कि समस्त विरुद्धकार्य व अविरुद्धकार्य के हेतुपने से जो सदैव विश्व का उपकार करते हैं, टिका कर रखते हैं। द्रव्य की पर्याय में जो उत्पाद-व्यय है वह परस्पर विरुद्ध कार्य है। धवल ग्रंथ में आता है कि एकसमय की पर्याय में उत्पाद-व्यय अर्थात् उपजना व विनशना इसप्रकार दो परस्पर विरुद्ध कार्य होते हैं। जिससमय द्रव्य की वर्त्तमान पर्याय उत्पन्न होती है, उसीसमय पूर्व की पर्याय का व्यय होता है। उत्पाद भावरूप है और व्यय अभावरूप है। इसकारण उत्पाद व्यय से विरुद्ध कहा जाता है। ऐसा होते हुए गुण गुणपने त्रिकाल कायम रहते हैं इससे वे अविरुद्ध हैं, ऐसा विरुद्ध-अविरुद्ध वस्तु का स्वरूप ही है।

आत्मा में विरुद्ध नाम की एक त्रिकाल शक्ति भी है, जिसके द्वारा आत्मा में तद्रूपता और अतद्रूपता होती है। इसलिए आत्मा स्वपने को छोड़ता नहीं और परपने को ग्रहण नहीं करता, ऐसी शक्ति है, किन्तु यहाँ वह बात नहीं है।

यहाँ तो एकसमय की पर्याय में जो उत्पाद-व्यय है वह परस्पर विरुद्धभाव है, ऐसा कहते हैं। और गुण कायम रहते हैं वह अविरुद्ध भाव है। इसतरह विरुद्ध और अविरुद्ध कार्य अर्थात् अनंतद्रव्यों का उत्पाद-व्ययरूप विरुद्धभाव और गुणरूप अविरुद्ध भाव–इन दोनों के हेतुपने से वे हमेशा विश्व का उपकार करते हैं। अर्थात् द्रव्य के गुण-पर्यायरूप स्वरूप के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थ जैसे हैं वैसे टिके रहते हैं।

अहा! विश्व में अनादि से प्रत्येक वस्तु ऐसी की ऐसी टिकी हुई है, स्थित है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' वह सत् अनादि से ऐसा का ऐसा टिक रहा है।

इसप्रकार सर्वपदार्थों के भिन्न-भिन्न एकपना सिद्ध होने से जीव नाम के पदार्थ को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति आती है।

अब यहाँ जीव की विशेष बात करते हैं। जीव नामक समय (पदार्थ) को कर्म के निमित्त से विभावरूप बंधभाव से विसंवाद खड़ा

होता है, आपत्ति आ पड़ती है। 'एकड़े एक अने बगड़े बै' अर्थात् दो हुए और काम बिगड़ा। दो हुये और बंध हुआ। एक स्वभाव और एक विभावभाव ऐसे दो हुए। इस बंधकथा से–बंधभाव से विसंवाद की आपत्ति आती है। बंध जिसका मूल है ऐसे पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होना अर्थात् विभाव – राग-द्वेष में स्थित होना परसमयपना है। आत्मा में विभाव का उत्पन्न होना परसमयपना है। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध राग का उत्पन्न होना द्विविधपना है। आनंदस्वरूप भगवान आत्मा विभाव में आ पड़े, वह दुःखरूप है। इससे वह सुन्दर नहीं है, शोभास्पद नहीं है।

भगवान ने इस जगत में छह द्रव्य देखे हैं। वे छह द्रव्य अपने-अपने में हैं। किन्तु जीव नामक 'समय' को बंधकथा से अर्थात् कर्म के निमित्त से–संबंध से होनेवाले विकारी अर्थात् दुःखरूप भावों से विसंवाद खड़ा होता है, असत्यपना आजाता है।

आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप 'समय' है, उसे कर्म के निमित्त से संबंध की अपेक्षा आने से परिणमन में विकार उत्पन्न हो जाता है। यही विसंवाद है और दुःख उत्पन्न करने वाला है। समय के (आत्मा के) एकपना प्रगट है, तो भी वह एकपने में स्थित न रहने से (उसके सम्मुख न होने से) कर्मों के प्रदेशों में स्थित होता है अर्थात् रागद्वेष में एकपना करता है, वह परसमयपना है, और वही विसंवाद है, दुःख है, अनंतसंसार का मूल है। भले ही ऐसा माने कि हम सुखी हैं, किन्तु यह तो उनकी अज्ञानता है।

स्वसमय परिणमे–यह तो सुन्दर है; किन्तु जहाँ परसमयरूप से परिणमन हुआ, वहीं एक में दूसरी वात आ गई। एक जीव नाम का समय, उसको स्वसमयरूप व परसमयरूप द्विविधपना कैसे हो ? नहीं हो सकता। दोपना अनादि से स्वयं ने प्रगट किया है। अपने आत्मा को छोड़कर शुभराग या अशुभराग के साथ एकत्वपना किया, यह दोपना है, यह परसमय है; और अपने शुद्ध आत्मा के साथ एकत्वपने निर्मल परिणमे, वह स्वसमय है, सुन्दर है।

जगत में सब पदार्थ भिन्न-भिन्नपने अपने स्वरूप में रहते हैं, फिर सच्चिदानंद शुद्धपरमात्मा को यह बंधपना क्यों हो ? इससे समय के एकपना होना ही सिद्ध होता है। रागरूप परिणमना और उसमें टिकना, यही परसमयपना है, विसंवाद है, झगड़ा है। उसमें जीव की सुन्दरता नहीं है, शोभा भी नहीं है।

अथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते –

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।।४।।

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा ।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ।।४।।

इह किल सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्त्तैः समुपक्रांतभ्रांतेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा । इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं

अब, उस एकत्व की असुलभता बताते हैं :–

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोगबंधन की कथा ।
पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना ।।४।।

गाथार्थ :– [सर्वस्य अपि] सर्व लोक को [कामभोगबन्धकथा] कामभोग संबंधी बन्ध की कथा तो [श्रुतपरिचितानुभूता] सुनने में आगई है, परिचय में आगई है, और अनुभव में भी आगई है, इसलिये सुलभ है; किन्तु [विभक्तस्य] भिन्न आत्मा का [एकत्वस्य उपलंभः] एकत्व होना कभी न तो सुना है, न परिचय में आया है, और न अनुभव में आया है, इसलिये [केवलं] एकमात्र वही [न सुलभः] सुलभ नहीं है ।

टीका :– इस समस्त जीवलोक को, कामभोग सम्बन्धी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद कराने वाली है (आत्मा का अत्यन्त अनिष्ट करने वाली है) तथापि पहले अनंत वार सुनने में आई है, अनन्त वार परिचय में आई है, और अनन्त वार अनुभव में भी आई

सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मल-विवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम् । अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ।।

है। वह जीवलोक, संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है, निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त परावर्तन के कारण भ्रमण को प्राप्त हुआ है, समस्त विश्व को एकछत्र राज्य से वश करने वाला महा मोहरूपी भूत जिसके पास बैल की भांति भार वहन कराता है, जोर से प्रगट हुए तृष्णारूपी रोग के दाह से अंतरंग में पीड़ा प्रगट हुई है, आकुलित हो होकर मृगजल की भांति विषयग्राम को (इन्द्रिय विषयों के समूह को) जिसने घेरा डाल रखा है, और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरों से कहकर उसी प्रकार अंगीकार करवाता है)। इसलिये कामभोग की कथा तो सबके लिये सुलभ है। किन्तु निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश से स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला यह मात्र भिन्न आत्मा का एकत्व ही है, – जो कि सदा प्रगटरूप से अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, तथापि कषायचक्र (– कषाय-समूह) के साथ एकरूप जैसा किया जाता है, इसलिये अत्यन्त तिरोभाव को प्राप्त हुआ है (– ढक रहा है); वह, अपने में अनात्मज्ञाता होने से (– स्वयं आत्मा को न जानने से)। और अन्य आत्मा को जानने वालों की संगति – सेवा न करने से, न तो पहले कभी सुना है, न परिचय में आया है और न कभी अनुभव में आया है, इसलिये भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।

भावार्थ :– इस लोक में समस्त जीव संसाररूपी चक्र पर चढ़कर पंच परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोहकर्मोदयरूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है, इसलिये वे विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होते हैं; और उस दाह का इलाज (उपाय) इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं; तथा परस्पर भी विषयों का ही उपदेश करते हैं। इस प्रकार काम तथा भोग की कथा तो अनन्तवार सुनी, परिचय में प्राप्त की और उसी का अनुभव किया इसलिये वह सुलभ है। किन्तु सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान अपने को अपने से कभी नहीं हुआ, और जिन्हें वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की; इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया, इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है।

गाथा ४ पर प्रवचन

सम्पूर्ण जगत ने कामभोग संबंधी बंध की कथा अनेकबार सुनी है, उसका अनेकबार परिचय भी प्राप्त किया है, तथा अनुभव किया है। काम अर्थात् इच्छा और भोग अर्थात् इच्छा का भोगना। इसप्रकार कामभोग संबंधी कथा अर्थात् इच्छा और इच्छाओं की पूर्ति सम्बन्धी भावों की कथा तो अनन्तवार सुनी है, अनुभवी है।

आचार्य जयसेन 'कामभोगबंधकथा' का अर्थ कामभोग संबंधी बंध की कथा न लेकर काम, भोग और बंध – इन तीनों की कथा लेते हैं। तथा 'काम' में स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषयों को तथा 'भोग' में घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय के विषयों को लेते हैं।

इसप्रकार की कामभोग की कथा अर्थात् पंचेद्रिय के विषयों की कथा इस जीव ने अनन्तबार सुनी है, अनुभवी है और इसका परिचय प्राप्त किया है। राग की – विकल्पों की जीव को आदत पड़ गई है। आशय यह है कि राग का अनुभव-वेदन इसने अनन्तबार किया है, अतः वह इसे सुलभ है।

मनुष्यपना इसे अनन्तबार मिला है, यह कोई पहली बार नहीं मिला, क्योंकि जीव तो अनादि-अनन्त है। इसमें कई बार तो दया, दान, पूजा आदि के शुभराग को तथा कई बार हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभराग को किया – इसप्रकार पुण्य-पाप के भावों की इसे आदत पड़ गई है। इसलिए कहते हैं कि रागभावों का होना और इनका भोगना सुलभ है, परन्तु राग से भिन्न भगवान आत्मा का एकत्वपना कभी सुना नहीं, राग से भिन्न, निर्मलपर्याय से भी पृथक् अन्दर ज्ञायक तत्त्व पड़ा है – ऐसी बात कभी नहीं सुनी। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा राग से भिन्न है, वह राग के लक्ष्य से जाना नहीं जाता, किन्तु राग से भिन्न पड़कर निर्मलदशा में शुद्ध आत्मा जाना जाता है, ऐसी बात कभी नहीं सुनी, तो फिर परिचय में व अनुभव में तो कहाँ से आवे ?

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावलिंगी संत थे, अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्व-संवेदन करते थे। वे महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास गये थे। सीमंधर अर्थात् स्वरूप की पूर्णता की सीमा को धारण करने वाले 'सीमंधरनाथ' के पास वे साक्षात् सदेह गये थे, वहाँ केवली और श्रुतकेवली की वाणी सुनी थी। उन कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह शास्त्र बनाया है। वे कहते हैं कि भिन्न आत्मा का एकपना अर्थात् पर से भिन्न,

सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मल-विवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम् । अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ।।

है । वह जीवलोक, संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है, निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त परावर्तन के कारण भ्रमण को प्राप्त हुआ है, समस्त विश्व को एकछत्र राज्य से वश करने वाला महा मोहरूपी भूत जिसके पास बैल की भांति भार वहन कराता है, जोर से प्रगट हुए तृष्णारूपी रोग के दाह से अंतरंग में पीड़ा प्रगट हुई है, आकुलित हो होकर मृगजल की भांति विषयग्राम को (इन्द्रिय विषयों के समूह को) जिसने घेरा डाल रखा है, और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरों से कहकर उसी प्रकार अंगीकार करवाता है) । इसलिये कामभोग की कथा तो सबके लिये सुलभ है । किन्तु निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश से स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला यह मात्र भिन्न आत्मा का एकत्व ही है, – जो कि सदा प्रगटरूप से अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, तथापि कषायचक्र (– कषाय-समूह) के साथ एकरूप जैसा किया जाता है, इसलिये अत्यन्त तिरोभाव को प्राप्त हुआ है (– ढक रहा है); वह, अपने में अनात्मज्ञाता होने से (– स्वयं आत्मा को न जानने से) । और अन्य आत्मा को जानने वालों की संगति – सेवा न करने से, न तो पहले कभी सुना है, न परिचय में आया है और न कभी अनुभव में आया है, इसलिये भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है ।

भावार्थ :– इस लोक में समस्त जीव संसाररूपी चक्र पर चढ़कर पंच परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं । वहाँ उन्हें मोहकर्मोदयरूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है, इसलिये वे विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होते हैं; और उस दाह का इलाज (उपाय) इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं; तथा परस्पर भी विषयों का ही उपदेश करते हैं । इस प्रकार काम तथा भोग की कथा तो अनन्तवार सुनी, परिचय में प्राप्त की और उसी का अनुभव किया इसलिये वह सुलभ है । किन्तु सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान अपने को अपने से कभी नहीं हुआ, और जिन्हें वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की; इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया, इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है ।

गाथा ४ पर प्रवचन

सम्पूर्ण जगत ने कामभोग संबंधी बंध की कथा अनेकवार सुनी है, उसका अनेकबार परिचय भी प्राप्त किया है, तथा अनुभव किया है। काम अर्थात् इच्छा और भोग अर्थात् इच्छा का भोगना। इसप्रकार कामभोग संबंधी कथा अर्थात् इच्छा और इच्छाओं की पूर्ति सम्बन्धी भावों की कथा तो अनन्तबार सुनी है, अनुभवी है।

आचार्य जयसेन 'कामभोगबंधकथा' का अर्थ कामभोग संबंधी बंध की कथा न लेकर काम, भोग और बंध – इन तीनों की कथा लेते हैं। तथा 'काम' में स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषयों को तथा 'भोग' में घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय के विषयों को लेते हैं।

इसप्रकार की कामभोग की कथा अर्थात् पंचेद्रिय के विषयों की कथा इस जीव ने अनन्तवार सुनी है, अनुभवी है और इसका परिचय प्राप्त किया है। राग की – विकल्पों की जीव को आदत पड़ गई है। आशय यह है कि राग का अनुभव-वेदन इसने अनन्तवार किया है, अतः वह इसे सुलभ है।

मनुष्यपना इसे अनन्तबार मिला है, यह कोई पहली बार नहीं मिला, क्योंकि जीव तो अनादि-अनन्त है। इसमें कई बार तो दया, दान, पूजा आदि के शुभराग को तथा कई बार हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभराग को किया – इसप्रकार पुण्य-पाप के भावों की इसे आदत पड़ गई है। इसलिए कहते हैं कि रागभावों का होना और इनका भोगना सुलभ है, परन्तु राग से भिन्न भगवान आत्मा का एकत्वपना कभी सुना नहीं, राग से भिन्न, निर्मलपर्याय से भी पृथक् अन्दर ज्ञायक तत्त्व पड़ा है – ऐसी बात कभी नहीं सुनी। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा राग से भिन्न है, वह राग के लक्ष्य से जाना नहीं जाता, किन्तु राग से भिन्न पड़कर निर्मलदशा में शुद्ध आत्मा जाना जाता है, ऐसी बात कभी नहीं सुनी, तो फिर परिचय में व अनुभव में तो कहाँ से आवे ?

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावलिंगी संत थे, अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्व-संवेदन करते थे। वे महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास गये थे। सीमंधर अर्थात् स्वरूप की पूर्णता की सीमा को धारण करने वाले 'सीमंधरनाथ' के पास वे साक्षात् सदेह गये थे, वहाँ केवली और श्रुतकेवली की वाणी सुनी थी। उन कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह शास्त्र बनाया है। वे कहते हैं कि भिन्न आत्मा का एकपना अर्थात् पर से भिन्न,

राग से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न ऐसा एकपना इसने अनन्तकाल में नहीं सुना ।

मुनिराज पद्मनंदी ने कहा है :-

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ।।

अध्यात्म की, राग से भिन्न आत्मा की, बात भी जिस जीव ने प्रसन्न-चित्त से – रुचिपूर्वक सुनी है वह निश्चित ही भव्य है और भविष्य में मोक्ष का पात्र है ।

यहाँ कहते हैं कि ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा में एकपना स्वीकार कर एकाग्र होना – यह बात इसने कभी सुनी नहीं, राग और पर का लक्ष्य छोड़ कर ध्रुवस्वभाव में लक्ष्य करना, शुद्धात्मा में एकाग्रतारूप परिणमन करना – ऐसी बात कभी नहीं सुनी । इसके परिचय में और अनुभव में भी कभी नहीं आई । इस कारण उस एक आत्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है ।

इसने एक ध्रुवस्वभाव को दृष्टि का विषय नहीं बनाया, द्रव्य-पर्याय दोनों को दृष्टि का विषय मानना भूल है । नियमसार में कहा है कि – अन्तस्तत्वस्वरूप भगवान आत्मा और बहिर्तत्व ऐसी निर्मलपर्याय – इन दोनों की मान्यता (श्रद्धा) यह व्यवहार-समकित है । दोनों को विषय करना राग है । (इससे जीव को राग ही उत्पन्न होता है)। व्यवहार-समकित यह रागरूप परिणाम है । दोपना जिसका विषय है, वह राग है और एकपना (निज ध्रुवस्वभाव) सम्यग्दर्शन का विषय है । यहाँ कहते हैं कि ऐसी एकपनेरूप परिणमन की बात अनन्तकाल में सुनी ही नहीं है, इससे यह सुलभ नहीं है ।

गाथा ४ की टीका पर प्रवचन

समस्त संसारी जीवों को कामभोग की कथा एकपने के विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद को उत्पन्न करने वाली है । यह कथा इस जीव को पहले अनंतवार सुनने में आ चुकी है, परिचय में आ चुकी है, और अनंतवार अनुभव में भी आ चुकी है । यहाँ समस्त जीवलोक लिया है, इसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त संसारी प्राणी आ गये हैं । काम अर्थात् शुभाशुभ इच्छा का होना और भोग अर्थात् इनका भोगना – इन सम्बन्धी बात जो एकपने के विरुद्ध है और आत्मा का अत्यन्त अहित

करने वाली है, सबने अनंतवार सुनी है। यहाँ सबजीवलोक में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय जीव भी आगये हैं।

आलू के एक 'राई' बराबर टुकड़े में निगोद के जीवों के असंख्य औदारिक शरीर हैं। एक-एक शरीर में अनंत निगोदिया जीव हैं। कहते हैं कि इन निगोद के जीवों ने भी राग की एकता की बात (कामभोग की बात) अनंतवार सुनी है। किन्तु इनके तो कान ही नहीं, तो कैसे सुनी है ? भाई ! वे विकल्प का अनुभव करते हैं न ? एकेन्द्रिय जीवों के कर्णेन्द्रिय न होते हुए भी अनंतकाल से राग का वेदन (अनुभवन) है। वे राग के साथ एकता का अनुभव करते हैं। इससे बंधकथा सुनी है, ऐसा कहा जाता है। अनादि से कितने ही जीव ऐसे हैं कि जो निगोद में पड़े हैं तथा कभी बाहर निकले ही नहीं हैं और निकलेंगे भी नहीं — ऐसे जीवों ने भी राग के एकत्व की बात सुनी है, क्योंकि वे राग का अनुभव एकत्वपने कर रहे हैं और उन्हें उसी का परिचय है।

अहा ! इस राग के साथ एकत्व की बंधकथा विसंवाद करने वाली है, जीव का अत्यन्त अहित करने वाली है, अकथनीय दुःख देने वाली है। राग विकल्प है — पुण्य का हो या पाप का; इसका करना और भोगना जीव को अत्यन्त दुःखदायक है, क्योंकि एकपने से विरुद्ध है। अरेरे ! तो भी अनादिकाल से जीव ने इसी बात को अनंतवार सुना है। भगवान आत्मा ध्रुवचैतन्य और आनन्दस्वरूप है। इन्द्रियों की ओर झुकने का भाव कामभोग सम्बन्धी कथा है — मात्र दुःख की कथा है। यह पहले अनंतबार सुनने में आयी है, परिचय में आयी है, और अनुभव में भी आयी है। राग से भिन्न भगवान ध्रुवत्रिकाली का लक्ष्य व वेदन होना चाहिए, वह वेदन कभी आया नहीं है।

अब विशेष कहते हैं कि वह जीवलोक कैसा है ? संसाररूपी चक्र के बीच में स्थित है। जैसे चक्की के दो पाटों के बीच में दाना हो तो वह पिस जाता है; उसी प्रकार यह समस्त जीवलोक अनादि से संसाररूपी चक्र अर्थात् पुण्य व पाप दो भावरूपी पाटों के बीच पिस रहा है, दुःखी हो रहा है।

समस्त संसारी जीव अनादिकाल से निरंतर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूप पंचपरावर्तन में परिभ्रमण कर रहे हैं।

द्रव्यपरावर्तन अर्थात् इस जगत में अनन्त जीवों से अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं का सम्बन्ध अनंतबार हो चुका है। शरीर के रजकण मिट्टी (पुद्गल) के हैं, पैसा, धन, भवन इत्यादि — कर्म-नोकर्म भी धूल (पुद्गल)

के ही रजकण हैं। ये सब पुद्गल अनंतबार सम्बन्ध में आगये हैं। यह धन-सम्पत्ति, रूपवान शरीर, भवन इत्यादि का सम्बन्ध कोई नया नहीं है, अपूर्व नहीं है। एकमात्र शुद्धात्मा की अनुभूति ही अपूर्व है। यद्यपि ऐसे भी अनंत पुद्गल हैं, जिनका सम्बन्ध आज तक इस जीव से नहीं हुआ; तथापि रागसहित होने से इस जीव में उन पुद्गल परमाणुओं से सम्बन्ध करने की योग्यता तो है ही। इसी अपेक्षा यह कहा है कि सब पुद्गल अनंतबार सम्बन्ध में आये।

तथा यह जीव अनंतबार क्षेत्रपरावर्तन भी कर चुका है। चौदह राजू प्रमाण क्षेत्र है। उसके प्रत्येक प्रदेश में अनंतबार जन्मा और मरा है, प्रत्येक क्षेत्र में अनंतबार परिभ्रमण कर चुका है, भावपाहुड़ में आता है कि – हजारों रानियों को छोड़कर अनेकबार नग्नदिगम्बर मुनिपना धारण किया, ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ा, परन्तु आनंद के नाथ त्रिकाली भगवान आत्मा का अनुभव और दृष्टि नहीं की। द्रव्यलिंग धारण कर मुनिपना लेकर भी प्रत्येक प्रदेश में अनंतबार जन्म-मरण कर चुका है। जहाँ सिद्ध भगवान विराजते हैं, उस क्षेत्र में भी अनंतबार जन्मा-मरा है, कोई क्षेत्र बाकी नहीं है। इसप्रकार इस जीव ने अनंत क्षेत्रपरावर्तन किये हैं।

तथा जीवों ने निरंतररूप से अनंत कालपरावर्तन किया है। कालचक्र के उत्सर्पणी और अवसर्पणी – ऐसे दो भाग हैं। प्रत्येक दश-कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। एक सागर असंख्य अरब वर्षों का होता है। इन उत्सर्पणी, अवसर्पणी काल के प्रत्येक के प्रथम समय से लेकर क्रमशः प्रत्येक समय में जीव ने जन्म-मरण किया है। इसप्रकार एक-एक समय में जन्म-मरण करते हुये अनंतबार जन्मा और मरा है, परन्तु आत्मज्ञान और आत्मदर्शन क्या है, इसकी बात कभी नहीं सुनी। रुपया-पैसा अनंतबार आया और गया। यह रुपया-पैसा और धंधा-पानी की कथा तो दुःख की, पीड़ा की कथा है। भाई! तुमने निज की बात सुनी नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा जिसे आत्मा कहते हैं, उसकी बात कभी सुनी नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय-आनन्द का कन्द है। पुण्य और पाप यह लाल छाल जैसे है। यह पुण्य-पापरहित आत्मा अतीन्द्रिय-आनंद का कंद है, इसे कभी सुना नहीं। जो सुनने लायक है, उसे नहीं सुना और जो सुनने लायक नहीं हैं, उसे सुना है। अरे! रुपया तेरा कहाँ है? 'रुपया मेरा है' – ऐसी मान्यता मूर्खों की है। जो जड़ है, वह जीव का कैसे हो सकता है? जो जड़ है, उसे कौन दे, कौन रखे और इसकी कौन रक्षा करे। इसका आना, जाना, यह सब अपने आप होता है। जड़ की रक्षा जड़ से ही

होती है, इसमें आत्मा क्या करे ? ऐसी बात कभी सुनी नहीं। इससे प्रतिसमय जन्म-मरण सहित अनन्तकाल से दुःख में ही रखड़ रहा है।

तथा जीव निरन्तरपने अनंत भवपरावर्तन कर चुका है। मनुष्य, नारकी, देव और तिर्यञ्च के भव अनंतबार धर चुका है। राजा, महाराजा, सेठ और करोड़पति के भव अनंतबार मिले हैं। भाई ! ये सब भिखारी की तरह दुःखी हैं, क्योंकि इन्हें आत्मा के आनन्द की खबर नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेव ने आत्मा को अनंत आनन्द और शांति से भरा हुआ अनंतज्ञान लक्ष्मी का भंडार कहा है। परन्तु प्रभु ! तुझे तेरी लक्ष्मी की खबर नहीं है और बाहर दौड़ा-दौड़ी करके दुःखी हो रहा है। अहा ! दुनियाँ मूर्ख है, आत्मा को समझे बिना मूर्ख है। राग की और पुण्य की क्रिया मेरी है – ऐसा मानने वाला मूर्ख है। अरे ! अनंत-अनंत अनाकुल आनन्द की मूर्ति भगवान आत्मा है, इसकी खबर नहीं; और यह करो, वह करो, ऐसी पुण्य-पाप करने की बात अनादि से सुन-सुनकर अनंतभव के कष्ट सहे हैं। भाई ! निगोद के दुःख की कथा तो कौन कह सकता है ? यह राग की कथा, बंध की कथा, आत्मा का अत्यन्त अहित करनेवाली है।

इसीप्रकार जीव को अनंत भावपरावर्तन हुए हैं। शुभ और अशुभ-भावरूपी भावपरावर्तन अनंतबार हो गये हैं। दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति आदि शुभभाव जीव ने अनंतबार किये हैं। एकेन्द्रिय को भी शुभभाव होते हैं। इसप्रकार दया, अहिंसा आदि के शुभभाव और कमाना, परिग्रह रखना, विषय-वासना आदि पापभावोंरूप परावर्तन जीव ने अनंतबार किये हैं। ऐसा पंचपरावर्तनरूप अनंत परावर्तनों को लेकर जीव का चार गति में परिभ्रमण होता रहा है। इससे संसारचक्र की चक्की में पिस रहा है, दुःखी हो रहा है।

अब कहते हैं कि – समस्त विश्व को एकछत्र राज्य से वश में करने वाला बड़ा मोहरूपी भूत उससे बैल की भांति भार ढुलाता है। जिसका राज्य होता है उसका सिक्का चलता है। यहाँ परमात्मा कहते हैं कि एकेन्द्रिय से लेकर सब संसारी अज्ञानी जीवों में मिथ्यात्वरूपी विपरीत मान्यता का सिक्का चल रहा है। मिथ्यात्व का एकछत्र राज्य विश्व में चल रहा है। हजारों रानियों को छोड़कर नग्न दिगम्बर साधु हुआ, किन्तु अन्तर में शुद्धज्ञान को ग्रहण नहीं किया, मिथ्या अभिमान करके भ्रमणा के वश हुआ है। एकछत्र राज्य से वश करनेवाली विपरीतश्रद्धा अर्थात् पर में सावधानीरूप बड़े मोह के भूत के आधीन हुआ है। ऐसे मोह के भूत के पास यह जीव बैल की भाँति भार ढ़ो रहा है।

नया बैल (बछड़ा) हो तो गाड़ी के जूड़े के नीचे आसानी से नहीं आता, उसे निकासना पड़ता है, किन्तु अभ्यास होने के बाद बैल झट से जूड़े के नीचे आजाता है। उसीप्रकार जीव को अनादि का अभ्यास–आदत पड़ गई है। 'हमें स्त्री-बच्चे पालना चाहिए, हमें व्यवहार पालना चाहिए, धंधे में ध्यान रखना चाहिए'–इसप्रकार निरन्तर पर-सन्मुख होकर राग-द्वेष किया करता है। आनंदस्वरूप भगवान आत्मा के प्रति रुचि करने के बदले अनेक प्रकार के पुण्य-पापों के भावों में अटक कर बैल की तरह भार ढ़ोता है, राग-द्वेष का बोझ ढ़ोता है। वीतरागी संत उन्हें करुणा करके मार्ग बताते हैं।

पुण्प-पाप के विकल्पों की एकता में बैल की तरह बोझा ढोता है। पाँच-पच्चीस लाख रुपया (धूल) हो, उसे रखना, संभालना, देना-लेना, यह सब मुफ्त की मजूरी है; मोहरूप भूत यह सब मजूरी कराता है। पाप करके स्त्री-पुत्र को पालता है, लड़के-लड़कियों की शादी करता है। भाई! यह तो वीतरागी संतों की बात है, जो जगत को जाहिर करती है कि यह मोहरूपी भूत जगत के जीवों को बैल की भांति जोतता है, और उस मोह-भूत के जोर से प्रगट हुए तृष्णारूपी रोग के दाह से अन्तरंग में पीड़ा प्रगट हुई है, उससे अधीर होकर मृग-जल की भांति विषयों के चक्कर लगाता है। मोहवश भ्रमण में पड़कर 'यह चाहिए, वह चाहिए'–ऐसा तृष्णारूपी रोग तुझे हुआ है। इस तृष्णारूपी रोग से तू अत्यन्त पीड़ित है। यह पीड़ा की दाह तुझे जलाती है। विषयों की जलन से बचने के लिए इन्द्रियों के विषयों की तरफ दौड़ता है। तृष्णारूपी रोग की पीड़ा सहन नहीं होने से आकुल–व्याकुल होकर स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, और शब्द–इन विषयों की ओर दौड़ता है, विषयों में ही जाने का दुःसाहस करता है। परन्तु अरे! रे!! ये विषय तो मृग-जल जैसे हैं।

जैसे खारी जमीन में सूर्य की किरणें पड़ें तो वे पानी जैसी दीखती हैं; पानी है नहीं, मात्र दीखता है; उसीप्रकार पंचेन्द्रियों के विषय रम्य हैं नहीं, मात्र रम्य दीखते हैं। इसप्रकार यह पंचेन्द्रियों के विषय तो मृग-जल जैसे हैं, देखने मात्र के रम्य हैं। 'इसे जानलूँ, इसे खालूँ, इसे सुनलूँ, इसे भोगलूँ, स्त्री, मकान इत्यादि का भोग करलूँ'–इसप्रकार एक साथ विषयों के समूह में कूद पड़ता है।

अहा! सत्तर-सत्तर वर्ष की आयु वीत गई, जिसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्पों की मजूरी ही इसने की है। करोड़पति और अरवपति मनुष्य बड़े भारी तृष्णारूपी रोग की दाह को शान्त करने के लिए मृग-

जल की भांति विषयों का सेवन करते हैं, परन्तु उनमें कुछ भी सुख नहीं मिलता।

तथा वे जीव परस्पर आचार्यत्व भी करते हैं अर्थात् एक-दूसरे को समझाते हैं, शिक्षा देते हैं कि – "तुम को ऐसा करना चाहिए, वैसा करना चाहिए, स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, लड़कों-बच्चों को पढाना चाहिए, पालन-पोषण करना चाहिए, उनकी शादी वगैरह करनी चाहिए, धंधे-पानी से लगाना चाहिए आदि। व्यवहार में तो सब करना चाहिए न ? धर्म तो वृद्धावस्था में करेंगे। अभी तो हमको अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए",–इत्यादि प्रकार से परस्पर आचार्यपना करते हैं।

इन जीवों को मिथ्यात्वरूपी भ्रमणा हो रही है। जैसे – वघूला में उड़ता हुआ तिनका उड़कर कहाँ जा पड़ेगा – इसकी खबर नहीं है; उसी-प्रकार संसार में रखड़ते जीव मरकर कौआ, कुत्ता आदि न जाने किस पर्याय में चले जायेंगे ? अरे ! चौरासी के अवतार कर-करके जीव दुःखी हो रहे हैं, दुःख में पिल रहे हैं।

अन्दर आनंद का नाथ स्वयं लबालब सुख से भरा है, उसकी ओर आज तक नजर नहीं की। आनन्द के सागर प्रभु परमात्मा की ओर दृष्टि नहीं की, तथा कामभोग की कथाऐं ही अनंतकाल से अनन्तबार सुनीं, उन्हीं का बार-बार परिचय किया, उन्हीं का अनुभव भी किया, – इससे काम-भोग-बंधन की कथा सबको सुलभ है।

कामभोग की कथा अनन्तबार सुनी – ऐसा कहकर विषय सम्बन्धी राग की, राग के भोगने की कथा अनन्तबार सुनी, – ऐसा कहा है। विषयभोग का अर्थ अकेला काम-भोग नहीं है, क्योंकि जीव स्त्री के शरीर को नहीं भोगता, शरीर तो हाड़-मांस-चमड़ा है, वह तो अजीव है, जड़ है; इसे जीव इष्ट मानकर राग करता है, वह राग का अनुभव करता है, राग को ही भोगता है, शरीर को नहीं। मैसूरपाक वगैरह जीव नहीं खाता, वह क्रिया तो जड़ की है। उसके ऊपर लक्ष्य जाता है, उस लक्ष्य-रूप राग को जीव भोगता है। जड़ को कैसे भोगे ? आत्मा तो अरूपी है, रूपी को वह किस प्रकार भोगे ? अरे ! रे !! कभी सुना नहीं। जैसे कुत्ता सूखा हाड़ चबाता है और उसकी डाढ़ में से खून निकलता है, तब वह ऐसा मानता है कि हाड़ में से खून निकलता है; उसीप्रकार अज्ञानी लड्डू, दाल-भात खाता है, वहाँ अपने राग का स्वाद आता है, पर ऐसा मानता है कि लड्डू-भात आदि में से स्वाद आता है। क्या भोगा जाता है, उसकी उसको खबर नहीं है। उसने कभी आत्मा की बात सुनी ही नहीं है।

अरे ! यह प्रवचन सुनने की जो इच्छा है, यह भी विषय है। इस
प्रीति में रुक जाता है, वह भी विषय है। भाई ! गंभीर बात है।
तो अध्यात्म की कथा है। यहाँ जीव की भूल क्या है और यह कैसे हो
है यह बताते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव, देव, सेठि
करोड़पति आदि जो सब धूल के धनी कहलाते हैं, उन सब ने राग
बातें सुनी हैं, और राग को ही भोग रहे हैं। इससे यह तो सबको सुल
है, परन्तु राग से भिन्न सहज शुद्ध आत्मा का एकपना सुलभ नहीं है।

निर्मल भेदज्ञानरूप प्रकाश से स्पष्ट भिन्न देखने में आता हु
आत्मा का एकपना ही सुलभ नहीं है। देखो ! राग से भिन्न और परलक्ष
ज्ञान से भी भिन्न और अपने से अभिन्न – ऐसा आत्मा का एकपना निर्म
भेदज्ञानरूप प्रकाश से स्पष्ट भिन्न देखने में आता है। इस जीव ने प
लक्ष्यी ज्ञान अनन्तबार किया है, किन्तु इससे आत्मा का एकपना भिन्न न
दीखता। ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान है, वह भी परलक्ष्यी ज्ञान है
राग और पर का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य के ध्येय व लक्ष्य से जो भेदज्ञ
होता है, इस भेदज्ञान से आत्मा का एकपना दिखाई देता है। जैसे – प्रका
में ही वस्तु स्पष्ट दीखती है; उसीप्रकार भेदज्ञान प्रकाश में आत्मव
स्पष्टरूप से भिन्न दिखाई देती है। निर्मल भेदज्ञान प्रकाश से हम आत
का एकपना स्पष्ट देखें – यह मुद्दे की बात है। भाई ! इसके अतिरि
सिर्फ दया पालो, भक्ति करो, व्रत करो, आदि सब थोथा है, व्यर्थ है।

अहो ! यह एकत्व-विभक्त आत्मा स्वभाव से सदा ही प्रगटरूप
अन्तरंग में प्रकाशमान है, वह भेदज्ञानरूप प्रकाश से ही दिखाई देता है
आनंद का नाथ चैतन्य-चमत्कार प्रभु अन्दर में प्रकाशमान है। उस
भेदज्ञान प्रकाश से देखने की कभी दरकार नहीं की। अन्दर में चकचक
करती हुई इस आत्मवस्तु का एकपना, कषायचक्र के साथ एकरूप जै
होने से, अत्यन्त तिरोभूत हो रहा है, ढक रहा है, दया-दान-भक्ति आ
शुभविकल्पों और हिंसादि अशुभविकल्पों में एकरूप मानता हुआ भगवा
आत्मा का एकपना ढक गया है।

अहाहा ! भेदज्ञान प्रकाश से स्पष्ट देखने में आता है, ऐसी अन्तरंग
चकचकाट करती ज्ञानरूपी प्रकाश की मूर्ति, असंख्य प्रकार के शुभाशु
विकल्पों के साथ एकरूप जैसी मानने में आने से, ढक गई है, राग क
एकत्वबुद्धि से यह दृष्टि में नहीं आती है।

राग के विकल्प और परलक्ष्यी ज्ञान ही मेरी चीज है – ऐसी मान्यत
के कारण ज्ञायक प्रकाशमान चैतन्यज्योति ढक गई है। अपनी आत्मा

ज्ञान का अभाव होने से अन्दर प्रकाशमान चैतन्य-चमत्कार वस्तु पड़ी है उसे कभी जाना नहीं, अनुभव किया नहीं। अपनी आत्मा का एकत्व नहीं जानने से, आत्मा के ज्ञाता सन्तों की संगति नहीं करने से, पर से भिन्न आत्मा का एकत्व कभी सुना नहीं, परिचय किया नहीं, और अनुभव में भी आया नहीं। आत्मज्ञ सन्तों ने राग से व परलक्ष्यी ज्ञान से भिन्न आत्मा का एकत्व कहा, परन्तु वह इसने माना नहीं; इससे ऐसा कहने में आया कि इस जीव ने उनकी संगति व सेवा नहीं की। गुरु ने जैसा आत्मा का स्वरूप कहा वैसा इसने नहीं माना, परन्तु बाह्य प्रवृत्ति में जीव रुक गया। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति इत्यादि के शुभराग में धर्म मानकर जीव रुक गया है।

भाई ! जैसा लोक मानते हैं, उससे मुक्ति का मार्ग बिल्कुल भिन्न है। सम्यग्दर्शन और उसका विषय, जिससे जन्म-मरण का अन्त आता है, यह बात जगत की मान्यता से सर्वथा जुदी है। दिगम्बर संतों ने और केवलियों ने जो कहा है, उसे सुना है, परन्तु माना नहीं है। इसकारण संगति नहीं की, ऐसा कहते हैं। सुनने को तो मिला है, क्योंकि अनंतवार समवशरण में गया है। समवशरण में अर्थात् त्रिलोकीनाथ देवाधिदेव अरहंत परमात्मा की धर्मसभा – जहाँ इन्द्र और एक भवावतारी पुरुष, बाघ और सिंह आदि बैठे रहते हैं, वहाँ अनंतवार गया। परन्तु केवली के समक्ष भी कोरा रह गया, क्योंकि केवली भगवान ने जैसा शुद्धात्मा भिन्न बताया, वैसा नहीं माना। भगवान की दिव्यध्वनि का सार जो शुद्धात्मा – वह अभिप्राय में ग्रहण नहीं किया। मात्र द्रव्यक्रिया का अभिप्राय ग्रहण करके द्रव्यसंयम पालने में मग्न हो गया। ऐसा द्रव्यसंयम पाल कर अनंतबार नवमें ग्रैवेयक का देव हुआ। छहढाला में आता है :–

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो ।।

द्रव्यसंयम पालने का भाव तो शुभभाव था। उससे स्वर्ग का ऋद्धि-धारी देव हुआ, परन्तु वहाँ से पीछे गिरा। बाह्यसंयम भले पाला, परन्तु आत्मज्ञान बिना किंचित् भी सुख नहीं मिला, भवभ्रमण से नहीं छूटा।

गाथा ४ के भावार्थ पर प्रवचन

इस लोक में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सर्व मिथ्यादृष्टि-जीव संसाररूपी चक्रपर चढ़कर पंचपरावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। अनादि से पुण्य-पापरूपी भावकर्म में लग रहे हैं। अनंत परावर्तन में यह शरीरादि-

रूप पुद्गल अनेकबार संयोग में आ गया है। प्रत्येक क्षेत्र में अनेकबार जन्म ले-लेकर मर चुका है। प्रत्येक काल में अनन्त जन्म-मरण किया है। इसप्रकार प्रत्येक भव में अनंतबार परिभ्रमण किया है। इस रीति से शुभाशुभ भाव भी अनंतबार कर चुका है। इस पांच-परावर्तनरूप भ्रमण में इसे मोहकर्म का उदयरूप पिशाच-भूत जोत रहा है। उल्टी मान्यतारूप भूत ने इसे राग की एकतारूप संसार में जोत दिया है। स्त्री-पुत्रादिक का पालन करना, देश की सेवा करना, शरीर की संभाल करना – ऐसे मिथ्यात्व से, अपना स्वभाव नहीं जानने से, राग के एकत्वरूप जोत में जुता है। उससे वह विषयों की तृष्णारूप दाह से जल रहा है। यह सुनूं, यह खाऊँ, यह चखूँ, यह सूँघूँ, यह स्पर्श करूँ – ऐसे पाँच इन्द्रियों के विषयों की तृष्णारूप अग्नि से अन्दर जल रहा है। उस दाह का इलाज इन्द्रियों के विषय हैं – ऐसा जानकर अपने उपयोग को उस तरफ जोड़ता है। उन विषयों के जानने में और भोगने में मग्न रहता है तथा परस्पर उपदेश भी करता है। अपने को ऐसा करना चाहिए, इसके किए बिना कैसे चलेगा ? अपन तो अभी संसारी हैं – ऐसा एक-दूसरे को परस्पर उपदेश करते हैं। परन्तु कोई अन्तर-स्वभाव में जाने की बात नहीं करते।

अज्ञानी जीव विषय-भोग और राग की ही कथा करते हैं। एक कहता है, दूसरा समर्थन करता है, हुंकार भरता है।

इसप्रकार विषयों की इच्छा और विषयों का भोगना – ये काम तथा भोग की कथा तो जीवों ने अनन्तबार सुनी है, परिचय में ली है, और अनुभवी भी है, इसलिए सुलभ है।

परन्तु परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्य-चमत्कारस्वरूप अपने आत्मा का ज्ञान कभी नहीं हुआ। जिन्हें यह ज्ञान हुआ, उन पुरुषों की संगति कभी नहीं की, अर्थात् संतों ने कहा उसे सुना, पर अन्दर में माना नहीं। माना नहीं, इससे वास्तव में तो सुना ही नहीं – यह ही कहा जायगा। इसप्रकार निज परमात्मस्वरूप आत्मा की कथा न कभी सुनी, न परिचय की, न कभी उसका अनुभव किया – इससे चैतन्य-चमत्कारस्वरूप आत्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है। राजपाट और देवपद – यह तो अनंतवार मिला, परन्तु निज शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हुई।

अत एवैतदुपदर्श्यते –

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।। ५ ।।

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ।।५।।

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो

अब आचार्य कहते हैं कि इसीलिये जीवों को उस भिन्न आत्मा का एकत्व बतलाते हैं :–

दर्शाऊँ एक विभक्त को, आत्मा तने निज विभव से ।
दर्शाऊँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने ।। ५ ।।

गाथार्थ :– [तं] उस [एकत्वविभक्तं] एकत्वविभक्त आत्मा को [अहं] मैं [आत्मनः] आत्मा के [स्वविभवेन] निजवैभव से [दर्शये] दिखाता हूँ; [यदि] यदि मैं [दर्शयेयं] दिखाऊँ तो [प्रमाणं] प्रमाण (स्वीकार) करना, [स्खलेयं] और यदि कहीं चूक जाऊँ तो [छलं] छल [न] नहीं [गृहीतव्यं] ग्रहण करना ।

टीका :– आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निजवैभव है, उस सब से मैं इस एकत्वविभक्त आत्मा को दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्णय) किया है । मेरे आत्मा का वह निजवैभव इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है, और 'स्यात्' पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म – अर्हन्त का परमागम है, उसकी उपासना से उसका जन्म हुआ है । ('स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी प्रकार से किसी अपेक्षा से कहना । परमागम को शब्दब्रह्म कहने का कारण यह है कि – अर्हन्त के परमागम में सामान्य धर्मों के – वचनगोचर समस्त धर्मों के नाम आते हैं और वचन से अगोचर जो विशेषधर्म हैं उनका अनुमान कराया जाता

विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि। किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यम्। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम्॥

है; इसप्रकार वह सर्ववस्तुओं का प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता है, और इसीलिये उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) समस्त विपक्ष – अन्यवादियों के द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से उस निजवैभव का जन्म हुआ है। और निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु – सर्वज्ञदेव और अपरगुरु – गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, – उनके प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है उससे निजवैभव का जन्म हुआ है। निरन्तर झरता हुआ – स्वाद में आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रा से युक्त प्रचुरसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से निजवैभव का जन्म हुआ है। यों जिस-जिसप्रकार से मेरे ज्ञान का वैभव है उस समस्त वैभव से दिखाता हूँ। मैं जो यह दिखाऊँ तो उसे स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना; और यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणों में चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करने में सावधान मत होना। शास्त्रसमुद्र के बहुत से प्रकरण हैं, इसलिये यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है; इसलिये अर्थ की परीक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ :– आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, पर और अपर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन – यों चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं। हे श्रोताओ ! उसे अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से प्रमाण करो; यदि कहीं किसी प्रकरण में भूल जाऊँ तो उतने दोष को ग्रहण मत करना। कहने का आशय यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है; उससे शुद्ध स्वरूप का निश्चय करो।

गाथा ५ पर प्रवचन

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि पर से भिन्न और स्व से एकत्वरूप इस आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा को मैं निजवैभव से दिखाता हूँ, जो दिखा सकूँ तो स्वानुभव से परीक्षा करके प्रमाण करना, मात्र ऊपर-ऊपर से हाँ मत करना। स्व-संवेदनज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करके

स्वीकार करना, ऐसा कहा है। यह आत्मा पूर्णानन्द का नाथ स्वभाव से एकत्वरूप है, राग से विभक्त है; उसे तू स्व-संवेदनज्ञान की पद्धति द्वारा जान। 'स्वसंवेदन ज्ञानेन परीक्ष्य' ऐसा कहा – इसका अर्थ है कि जो द्रव्यस्वभाव है, उसे स्व-संवेदनज्ञान से अनुभव करके प्रमाण करना, मेरे कहने से मत मान लेना। आचार्य कहते हैं कि इसे मैंने स्वयं जाना है। भगवान ने कहा है, इसलिए कहता हूँ – ऐसा नहीं, परन्तु स्व-संवेदन अनुभव से आत्मा को मैंने जाना है। यह हम तुझे बताते हैं, इसलिए तू भी अनुभव द्वारा प्रमाण करना।

पूर्णानन्द का नाथ अभेद वस्तु है, पर्याय उसका स्वीकार करती है कि यह निजपरमात्मा है। समयसार गाथा ३२० में (आचार्य जयसेन की टीका में) आता है कि – पर्याय ऐसा जानती है कि 'सकलनिवारण-अखण्डएकप्रत्यक्षप्रतिभासमय अविनश्वरशुद्धपारिणामिक परम भाव-लक्षण निज परमात्म-द्रव्य वह ही मैं हूँ।' ऐसा वस्तु का यथार्थ स्वीकार स्व-संवेदनज्ञान से ही होता है।

और कहते हैं कि – यदि कही चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना। अनुभव में तो चूक नहीं है, परन्तु भाषा में, छंद में या व्याकरण में कहीं कुछ कम-बढ़ आजाय तो, छल ग्रहण कर अर्थ का अनर्थ मत कर बैठना। हम जो कहना चाहते हैं, उस भाव को ध्यान में रखकर सही अर्थ–भाव ग्रहण करना, शब्दों को नहीं पकड़ना। वस्तु के निर्णय करने में स्व-संवेदन प्रधान है, उससे ही भगवान पूर्णानन्द का नाथ स्व-संवेदन में में आता है। इस रीति से तू प्रमाण करना।

गाथा ५ की टीका पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरा आत्मा का निजवैभव है, उस सबसे मैं यह एकत्वविभक्त आत्मा दर्शाऊँगा। बाल-बच्चे, पैसा-मकान, धन-दौलत – ये सब आत्मा का वैभव नहीं हैं। अन्दर पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी आत्मा का वैभव नहीं। त्रिकालीध्रुव ज्ञायक के अव-लम्बन से मेरी निर्मल पर्याय में मुझे जो वीतरागता प्रगट हुई है, यह मेरा निजवैभव है। इस निजवैभव से मैं स्वभाव से अभिन्न और विभाव से भिन्न भगवान आत्मा को दिखाऊँगा – ऐसा मैंने व्यवसाय किया है, उद्यम किया है, प्रयत्न किया है, निश्चय किया है।

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौत्तमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलं॥

यहाँ मंगलाचरण में प्रथम तीर्थंकरदेव, दूसरे गणधरदेव और तुरंत ही तीसरे स्थान पर कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं। वे ऐसा कहते हैं कि मेरे आत्मा में निजवैभव प्रगट हुआ है। इस वैभव से मैंने स्व से एकत्व और पर से विभक्त आत्मा को बताने का निश्चय किया है।

मेरे आत्मा का निजवैभव कैसा है ? इस लोक में समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने वाला और स्यात्पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म अर्हन्त का परमागम – उसकी उपासना से जिसका जन्म है। ग्रंथ प्रारंभ करते हुए स्वयं को जो निजवैभव प्रगट हुआ है, उसका निमित्त कौन था, ऐसा कहते हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव अर्हन्त परमात्मा ने ओंध्वनि – दिव्यध्वनि द्वारा जो उपदेश किया, उसके अनुसार परमागम की रचना हुई, उस परमागम की उपासना से निजवैभव प्रगट हुआ है। भगवान की वाणी को शब्दब्रह्म कहते हैं, क्योंकि वह ब्रह्मस्वरूप पूर्ण आनन्द का नाथ भगवान आत्मा को बताने वाली है। वह शब्दब्रह्म स्यात्पद की मुद्रावाला है और लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला है।

अरहंत के परमागम में सामान्यधर्म—वचनगोचर सर्व धर्मों के नाम आते हैं – अस्तित्व, वस्तुत्व, ज्ञान, दर्शन, आनंद इत्यादि धर्मों के नाम आते हैं। और वचन से अगोचर जो विशेष धर्म हैं, उनका अनुमान करने में आता है। इसप्रकार वह सर्व वस्तुओं के स्वरूप का प्रकाशक है, इसलिए सर्वव्यापी कहा जाता है। इससे भगवान के परमागम को शब्दब्रह्म कहते हैं।

'स्यात्' पद की मुद्रावाला शब्दब्रह्म है। स्यात् अर्थात् कथंचित् किसी अपेक्षा से कथन करना। भगवान की वाणी अनेकान्तस्वरूप वस्तु को किसी अपेक्षा से कथन करती है, उसे 'स्यात्' पद की मुद्रा कहते हैं। भगवान सबको जानते हैं, इसलिए सर्वव्यापी कहलाते हैं – और वाणी सर्व तत्त्वों को कहने वाली है, उससे उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि मुझे जो वैभव प्रगट हुआ, इसमें यह शब्दब्रह्मरूपी परमागम निमित्त है, अन्य वादियों की वाणी इसमें निमित्त नहीं हो सकती।

और कैसा है मेरा निजवैभव ? सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ, अतिनिष्तुप निर्बाधयुक्ति के अवलम्बन से निजवैभव प्रगट हुआ है। इसने सम्यक्युक्ति से एकान्तपक्ष का खण्डन करके उसका निराकरण कर दिया है, तथा सर्वज्ञदेव की वाणी द्वारा निरूपित वीतराग मार्ग को ग्रहण कर लिया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समय से लगभग १०० वर्ष पूर्व श्वेताम्बरमत निकल चुका था। दिगम्बर सनातनमत में से जुदा पड़कर नया श्वेताम्बर मत प्रारंभ हुआ है। हमसे कितने ही लोग समन्वय की बातें करते हैं। किन्तु समन्वय किसके साथ करें ? भाई ! हमको किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है, सब भगवान आत्मा हैं, हमको तो सबसे मैत्री है। परन्तु पर्याय में जो भूल है, उसे बराबर समझना चाहिए।

आचार्य कहते हैं कि निर्बाधयुक्ति के अवलम्बन से हमने एकांतवादी अन्यमतों का निराकरण कर दिया है। अर्थात् एकान्तवाद सत्यमार्ग नहीं है, कल्पित है, ऐसा निर्णय करके हमने यथार्थ अनेकान्तरूप वीतरागमार्ग को धारण किया है। इसप्रकार हमको निजवैभव प्रगट हुआ है।

और वह कैसा है निजवैभव ? – निर्मल विज्ञानघन आत्मा में निमग्न परम सर्वज्ञदेव तथा अपरगुरु गणधरदेव से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त – सभी के द्वारा दिये गये प्रसादस्वरूप शुद्धात्मतत्त्व के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है।

अहाहा ! क्या टीका है ! सर्वज्ञदेव से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त-सभी शुद्ध विज्ञानस्वरूप आत्मा में अन्तर्निमग्न अर्थात् विशेषनिमग्न थे। हमको ऐसा ज्ञान हुआ, और ऐसा भान वर्तता है। दूसरों को सम्यग्दर्शन हुआ, इसका पता नहीं चलता – ऐसा कुछ लोग कहते हैं, किन्तु यह बात सही नहीं है। क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि विज्ञानघन आत्मा में हमारे गुरु अन्तर्निमग्न थे। उन आत्मज्ञानी गुरु के प्रसादरूप उपदेश के निमित्त से हमारे निजवैभव का जन्म हुआ है।

भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पूर्व भरतक्षेत्र में हुए थे, वे सदेह महाविदेह क्षेत्र में भगवान सीमन्धर स्वामी के समवशरण में गये थे। महाविदेह क्षेत्र में भगवान सीमन्धर स्वामी अभी भी अरहंतपद में विराजमान हैं, उनकी ५०० धनुष की काया व कोड़ पूर्व की आयु है; उन सीमन्धर परमात्मा की सदैव दिव्यध्वनि खिरती है। वहाँ संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे, वहाँ भगवान की वाणी सुनकर भरतक्षेत्र में आये। यहाँ आकर शास्त्र बनाये। समयसार की रचना करते हुए वे कहते हैं कि – मैं एकत्वविभक्त आत्मा बताऊँगा। पर से पृथक् तथा स्व से एकत्व – ऐसा भगवान आत्मा निजवैभव से बताऊँगा।

अन्तरआत्मा सत्चिदानन्द प्रभु सिद्धसमान विराजता है। समयसार नाटक में कहा है :–

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्ध समान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो।।

आत्मा चैतन्यरूप आनन्दघन है। आत्मा शरीर, मन, वाणी से तो भिन्न है हीं, किन्तु पर्याय में दया, दान, भक्ति आदि के विकल्प उठते हैं, उनसे भी भिन्न है और अपने स्वभाव से अभिन्न है। ऐसे आत्मा में अन्तर्निमग्न होने से जो अनुभव प्रगट होता है, वह सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म है।

आचार्यदेव कहते हैं कि पर से भिन्न आत्मा का मुझे स्वाद आया है, अनाकुल आनन्दरस के पिण्ड आत्मा में निमग्न होने पर मुझे अतीन्द्रिय आनन्द का संवेदन हुआ है; मैं ऐसे अपने निजवैभव से एकत्वविभक्त आत्मा का स्वरूप बताता हूँ। उसे तुम राग से पृथक् होकर अपने आनन्द-स्वरूप का अनुभव करके प्रमाण करना, तभी धर्म होगा।

अरे! अनंतकाल से चौरासी में अवतार लेते-लेते नवमें ग्रैवेयक के भी अनन्तभव धारण किये हैं। अनन्तबार नग्न दिगम्बर मुनि हुआ। बारह-बारह मास के उपवास आदि क्रियाकाण्ड करके नवमें ग्रैवेयक गया, परन्तु अन्तर अनुभवपूर्वक वस्तुस्वरूप को समझा नहीं, उसे यथार्थ माना नहीं। राग की क्रिया से मेरा स्वरूप भिन्न है, ऐसा भान नहीं किया, – इससे आनन्द का स्वाद नहीं आया।

सवेरे प्रवचन में प्रश्न उठा था कि बारहवें गुणस्थान तक अशुद्ध-नय है तो अशुद्धनय के स्थान में शुद्धोपयोगरूप धर्म कहाँ से आया?

शुद्धनय की पूर्णता केवलज्ञान होने पर होती है। इस सम्बन्ध में श्री प्रवचनसार की गाथा १८१ (जससेनाचार्य की टीका) में तीन बोलों से स्पष्टीकरण आया है।

(१) 'शुद्धात्म अवलम्बनत्वात्' – त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप ध्रुवआत्मा के अवलम्बन से शुद्धोपयोगरूप धर्म पर्याय में प्रगट होता है।

(२) 'शुद्धध्येयत्वात्' – अशुद्धनय भले बारहवें गुणस्थान तक हो, पूर्ण शुद्धता भी भले अभी न हुई हो; किन्तु जहाँ पूर्णानंद शुद्ध को ध्येय बनाकर पर्याय प्रगट हुई, वहाँ शुद्धोपयोगरूप धर्म होता है।

(३) 'शुद्धसाधकत्वात्' – शुद्धोपयोग जो त्रिकाल है – उसका साधन करने पर पर्याय में शुद्धोपयोगरूप धर्म प्रगट होता है।

बारहवें गुणस्थान के नीचे अशुद्धनय का स्थान है, तो भी शुद्ध का आलम्बन, शुद्ध का ध्येय और शुद्ध का साधकपना होने से शुद्धोपयोगरूप वीतरागी पर्याय प्रगट होती है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये वीतरागी पर्यायें हैं और यही धर्म है। वीतरागी पर्याय का नाम जैनधर्म है, धर्म कोई वाड़ा या सम्प्रदाय नहीं। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अरे! अनंतकाल में सम्यग्दर्शन और इसका ध्येय क्या है? यह लक्ष्य में नहीं लिया।

आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यघन आत्मा को दृष्टि में लेकर उसे ध्येय और साधन बनाने से हमको शुद्धोपयोगरूप धर्म हुआ है, पर्याय में निराकुल शान्ति और आनन्द प्रगट हुआ है। वह हमारा निज-वैभव है। ऐसे निजवैभव से मैं आत्मा बताता हूँ, उसे तुम अनुभव करके प्रमाण करना, स्वीकार करना।

और वह निजवैभव कैसा है? कहते हैं कि निरंतर झरता हुआ, आस्वाद में आता हुआ, सुन्दर आनन्द की मुद्रावाला प्रचुर स्व-संवेदन, उससे जिसका जन्म हुआ है। आचार्य कहते हैं—अहा! आत्मा अनाकुल आनन्दरस से भरा हुआ है, उसमें एकाग्र होने से सुन्दर आनन्द का स्वाद आता है। जैसे—पहाड़ से पानी झरता है, वैसे ही आत्मा में एकाग्र होने पर अतीन्द्रिय आनन्द आता है। आबाल-गोपाल सब के अन्दर पूर्ण आनन्द का नाथ भगवान आत्मा विराजता है। उसकी दृष्टि करते ही पर्याय में आनन्द झरता है, उसका नाम धर्म है।

अज्ञानी जीव मौसम्मी वगैरह का स्वाद लेकर ऐसा कहते हैं कि 'हमने मौसम्मी का स्वाद लिया', परन्तु यह स्वाद तो जड़ है, जड़ का स्वाद तो आत्मा में आता ही नहीं है, किन्तु उसके ऊपर लक्ष्य करके राग का स्वाद लेता है, यह अधर्म का स्वाद है। अज्ञानी शब्द, रस, गंध, वर्ण, स्पर्श का लक्ष्य करके विषय को मैं भोगता हूँ—ऐसा मानता है। परन्तु कोई भी पर को भोगता ही नहीं है, राग को उत्पन्न करता है और उस राग को ही भोगता है। विषय का आनन्द तो रागरूप है, और राग का अनुभव वह जहर का अनुभव है। कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्ष अधिकार की (गाथा ३०६) में शुभराग को विषकुंभ अर्थात् जहर का घड़ा कहा है। ज्ञानी को भी अशुभ से बचने के लिए शुभराग आता है, परन्तु यह सब हेय है।

अहो! देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की वाणी को झेलकर भगवान का आड़तिया होकर कुन्दकुन्दाचार्य घोषणा करते हैं कि भगवान का माल यह

है। निरन्तर झरता हुआ, आस्वाद में आता हुआ, सुन्दर आनन्द की छाप वाला, प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप संवेदन वह हमारा निजवैभव है—चारित्र है। अहो ! धर्म की मुद्रा क्या ? तो कहते हैं कि जैसे नोट (रुपया) पर मुद्रा (मुहर) मुख्य है; उसीप्रकार अतीन्द्रिय आनन्द में झूमता दिगम्बर संतों का कहा हुआ वीतरागमार्ग अपूर्व है। उनका रचा हुआ यह शास्त्र ही परमागम है।

सम्यग्दर्शन में राग से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न एकत्वविभक्त आत्मा की दृष्टि होती है, वहाँ भी अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अल्प मात्रा में होता है। चौथे गुणस्थान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अल्प आता है और पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक को वह स्वाद विशेष आता है, तथा मुनियों को तो प्रचुर स्व-संवेदन होता है अर्थात् अधिक घना आनन्द आता है। आचार्य कहते हैं– ऐसे प्रचुर आनन्द की मुद्रावाले चारित्ररूप धर्म से मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है।

इसप्रकार जैसा मेरा ज्ञान का वैभव है उस समस्त वैभव से मैं आत्मा दिखाता हूँ। जो दिखा सकूँ तो स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना। आचार्यदेव जिज्ञासु श्रोता से कहते हैं कि पुण्य-पापों के भावों से भिन्न और अपने स्वरूपचैतन्य से अभिन्न एकत्वविभक्त आत्मा को मैं सर्ववैभव से बताता हूँ, उसे तुम प्रत्यक्ष अनुभव करके प्रमाण करना। हमने कहा है, इसलिए ठीक है, ऐसा मत मान लेना। किन्तु अन्दर में जो 'शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति, सुखधाम' – ऐसा आत्मा विराजता है उसका स्वानुभव-प्रत्यक्ष से निश्चय करना। उससे ही तुमको सुख होगा, मोक्ष होगा। समयसार नाटक में कहा है :–

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप।।

हमारा वैभव तो हमारे पास रहेगा। उससे तू राग से भिन्न पड़कर स्वयं अपनी ही शान्ति और आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन करके प्रमाण करना, उससे तुझे धर्म होगा। आठ वर्ष की बालिका भी अन्तरस्वभाव का भान करके ऐसा अनुभव कर सकती है।

धर्म तो आत्मानुभव की चीज है, भाई ! कोई जीव प्रभावना में करोड़ों रुपया खर्च करे, लाखों मन्दिर बनवाए, इससे उसे धर्म हो जायगा, ऐसा नहीं है। उस मन्दिर निर्माण के समय राग मंद करे तो शुभभाव होने से पुण्य-बन्ध हो, किन्तु धर्म नहीं होता है। मन्दिर बनने की क्रिया

तो जड़परमाणुओं से होती है, वह आत्मा नहीं कर सकता, हाँ आत्मा यह कर सकता है कि—पुण्य-पाप से भिन्न पड़कर अन्तर-अनुभव से अनाकुल शान्ति और आनन्द अनुभव करे, और यही निश्चयधर्म है। व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, यह बात झूँठी है।

अरे! यह बात सुनने को भी नहीं मिलती है तो अन्दर अनुभव कैसे करे, कहाँ से करे, धर्म बहुत दुर्लभ वस्तु है। भाई! क्रियाकांड तो अनंतबार किया, उससे वह सब तो सुलभ हो गया, परन्तु राग से भिन्न होकर चैतन्यमूर्ति आनन्दस्वरूप में आरूढ होना महादुर्लभ है।

अब कहते हैं—जो कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरण में चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करने में सावधान नहीं रहना। शास्त्र-समुद्र में बहुत प्रकरण होते हैं, यहाँ तो स्व-संवेदनरूप अर्थ की मुख्यता है, इसलिए अर्थ की परीक्षा करना।

हमको तो स्वानुभव की बात बताना है। तू व्याकरण में निष्णात हो और तेरे लक्ष्य में कोई व्याकरण सम्बन्धी भूल आ जावे तो तू वहाँ अटकना नहीं। शास्त्र के बहिर्लक्ष्यीज्ञान और पण्डिताई के साथ अनुभव का कोई सम्बन्ध नहीं है। शास्त्र की पण्डिताई जुदी चीज है और स्व-संवेदनज्ञान जुदी चीज है। 'यह भूल है,' 'वह भूल है,'—ऐसे पण्डिताई के घमण्ड में अटक जायगा तो तेरा बुरा होगा। यहाँ तो भगवान आत्मा अनादिकाल से जो पुण्य-पाप का ही वेदन करता है, वह मिथ्यात्वभाव है। उसके स्थान पर स्व-संवेदन करके स्वरूप के अनुभव करने की मुख्यता है।

पं० बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में कहा है :—

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम॥

अहा! वस्तु यानी आत्मा!! जो अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है, उसका विचार करने से, ध्यान करने से, मन अनेक विकल्पों के कोलाहल से विश्राम पाता है, शान्त हो जाता है, और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है—उसे आत्मानुभव कहते हैं, वह सम्यग्दर्शन है, धर्म है। ऐसे अनुभव से वस्तु का निश्चय करने की मुख्यता है, शास्त्र के बहिर्लक्ष्यी ज्ञान का यहाँ काम नहीं है।

अहो! आचार्यदेव अमृतचंद्र ने टीका में अमृत वर्षाया है। ऐसी अनुभव-अमृत की अद्भुत बात सुने नहीं, स्वाध्याय करे नहीं, और बाह्य क्रिया आचरण करने से धर्म होगा, ऐसा मानकर वाह्य क्रियाकाण्ड

व्यवहार करे, किन्तु उससे भव-भ्रमरा नहीं मिटता। भाई! धर्म का पंथ, अनुभव का पंथ जगत से जुदा है।

गाथा ५ के भावार्थ पर प्रवचन

आचार्यदेव कहते हैं कि हमने आगम का सेवन किया है। भगवान सर्वज्ञदेव की परम्परा से चली आई जिनवाणी की सेवा करने से हमारा ज्ञानवैभव प्रगट हुआ है। दूसरे प्रकार से कहें तो हमारे सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने में परम्परा से सर्वज्ञदेव की वाणी का निमित्त है। अज्ञानी की वाणी के निमित्त से सम्यग्दर्शन नहीं होता। अन्य सम्प्रदाय का आगम वीतराग की वाणी नहीं है। सर्वज्ञ से परम्परागत सनातन सत्य दिगम्बर पंथ चला आ रहा है, वही सत्य है। सम्यग्दर्शन में निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरुओं की वाणी निमित्त बनती है। किसी के प्रति बैर-विरोध की यह बात नहीं है। परन्तु जिससे दृष्टि विपरीत हो अर्थात् जिससे श्रद्धा विपरीत होने का भय हो उसका ज्ञान यथार्थ करना चाहिए। यह तो पहली बात हुई।

दूसरी बात यह है कि हमने युक्ति का अवलम्बन लिया है। इससे वीतरागदेव क्या कहते हैं? विरोधी अन्यमत वादी क्या कहते हैं? इसका निर्णय युक्ति के अवलम्बन से किया है। सत्य क्या है? इसका युक्ति द्वारा हमने सच्चा निर्णय किया है।

तीसरे हमको परम्परा गुरु का उपदेश मिला है। सर्वज्ञदेव परमगुरु और गणधरदेव अपरगुरु – उनके प्रसादरूप उपदेश के निमित्त से हमारा आत्मवैभव प्रगट हुआ है।

चौथे अतीन्द्रिय आनन्द की छापवाला प्रचुर स्व-संवेदन होने से, ज्ञायक ध्रुवस्वरूप आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा हमें ज्ञानवैभव प्रगट हुआ है।

इसप्रकार चार तरह से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से मैं एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाता हूँ। हे श्रोताओ! तुम अपने स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से उसे प्रमाण करना। कहीं किसी व्याकरणादि के प्रकरण में भूल जाऊँ तो दोष (छल) ग्रहण नहीं करना। यहाँ अनुभव की प्रधानता है। अतः शुद्धस्वरूप का निश्चय करो, ऐसा अभिप्राय है।

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत् –

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥६॥

यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है, जिसका स्वरूप जानना चाहिए ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है ॥६॥

गाथार्थः—**[यः तु]** जो **[ज्ञायकः भावः]** ज्ञायक भाव है वह **[अप्रमत्तः अपि]** अप्रमत्त भी **[न भवति]** नहीं और **[न प्रमत्तः]** प्रमत्त भी नहीं है; **[एवं]** इसप्रकार **[शुद्धं]** इसे शुद्ध **[भणंति]** कहते हैं; **[च यः]** और जो **[ज्ञातः]** ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ **[सः तु]** वह तो **[स एव]** वही है, अन्य कोई नहीं ।

टीका :– जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से), अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसार की अवस्था में अनादि बन्धपर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर नीर की भांति कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (–कषाय समूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्त्तमान पुण्य–पाप को उत्पन्न करने वाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता) इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और

शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति। एष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं, यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव।

अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

और जैसे दाह्य (– जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती, उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ वह स्वरूपप्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी, दीपक की भांति, कर्त्ताकर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है–स्वयं जानने वाला है इसलिए स्वयं कर्त्ता और अपने को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म है। (जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है, और अपने को–अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए।)

भावार्थ :– अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। उसमें मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है, और पर्याय (अवस्था) – दृष्टि से देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है। इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है; और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; यह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त–अप्रमत्त के भेद हैं वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्याय हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं हैं इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिविम्ब जब झलकता है तब

ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। 'यह जो मैं जानने वाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं' – ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्त्ता स्वयं ही है, और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वयं शुद्ध है। – यह शुद्धनय का विषय है। अन्य जो परसंयोगजनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है ऐसा आशय समझना चाहिए।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये; क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता–दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्त्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है। अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। इसप्रकार दुःख मिटाने के लिये शुद्धनय का उपदेश प्रधान है। अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से यह न समझना चाहिए कि आकाश के फूल की भांति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है; इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिए। स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है वह है – यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार निश्चय करना योग्य है।

यहाँ, (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है ऐसा कहा है। वह गुणस्थानों की परिपाटी में छट्ठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाता है। किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी में है; शुद्धनय से तो आत्मा ज्ञायक ही है।

गाथा ६ पर प्रवचन

जो ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है। इसप्रकार इसे शुद्ध कहा है; तथा जो ज्ञायकरूप से जानने में आया, वह तो वही है, दूसरा कोई नहीं।

ज्ञायकभाव त्रिकाल एकरूप स्वभावभावरूप है उसे यहाँ परम-परिणामिकभाव न कहकर ज्ञायकभाव कहा है, उसका कारण यह है कि परिणामिकभाव तो सर्व द्रव्यों में है; पर जानना, जानना, जानना – ऐसा जो सामान्यज्ञायकभाव है, वह एक जीव द्रव्य में ही है। वह ज्ञायकभाव अप्रमत्त नहीं है तथा प्रमत्त भी नहीं है, अर्थात् पहले से चौदह गुणस्थान तक की समस्त पर्यायें इसमें नहीं हैं।

प्रमत्त और अप्रमत्त यह तो पर्याय के भेद हैं और ये अशुद्धनय के विषय हैं। पहले से छठे गुणस्थानपर्यन्त की पर्यायें प्रमत्त हैं और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक की पर्यायें अप्रमत्त हैं। इसमें अब कौनसी पर्याय बाकी रह गई? भगवान आत्मा इन सभी प्रमत्त व अप्रमत्त पर्यायों के भेद से रहित शुद्धनयस्वरूप एक ज्ञायकभाव है। ११वीं गाथा में इसे ही भूतार्थ कहा है। अहो! जो दृष्टि का विषय है अर्थात् सम्यक्दर्शन का विषय है वह ज्ञायकभाव अप्रमत्त नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार इसे शुद्ध कहा है।

तथा जो ज्ञायकपने जाना – वह तो वही है, दूसरा कुछ नहीं। यहाँ ज्ञायक को जाननेवाली पर्याय की बात की है। ज्ञायक को जाननेवाली पर्याय ज्ञायक की स्वयं की है; इस पर्याय का कर्त्ता वह स्वयं ही है। ज्ञान की पर्याय ज्ञेय अथवा निमित्त का कार्य नहीं है। स्वयं ज्ञायकभाव जो पर्याय में जाना गया, उसमें भले ही ज्ञेय का ज्ञान हो; किन्तु यह ज्ञान ज्ञेय का कार्य नहीं है, स्वयं का ही कार्य है।

अहाहा!! भगवान, तू अनादि-अनंत नित्यानन्दस्वरूप एक पूर्ण ज्ञायकभाव है, जिसमें पर्याय का – भेद का अभाव है। परद्रव्य, परद्रव्य का भाव तथा कर्म के उदयादि का लक्ष्य छोड़कर जब दृष्टि ज्ञायक त्रिकाली पर गई, तब परिणति शुद्ध हुई। इस शुद्ध परिणमन में ज्ञायक शुद्ध है, ऐना जाना – इसी को शुद्ध है, ऐसा कहा। खाली शुद्ध है, शुद्ध है, ऐसा कहना मात्र से कुछ नहीं होता, इस ज्ञायकभाव को जानना, अनुभावना, यह सर्वसिद्धान्त का सार है।

पंडित श्री दौलतरामजी ने कहा है :–

लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ।
तेरि सकल जगदंद-फंद निज आतम ध्याओ।।

अरे भगवान! तूने अपनी जाति को नहीं जाना। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का यह संदेश है कि भगवान आत्मा नित्यध्रुव त्रिकाल

एकरूप, परमपरिणामिकभावरूप, ज्ञायकरूप है, शुद्ध है, पवित्र है, प्रगट है। किन्तु किसको ? कि जिसने पर का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर्मुख होकर एक इस ज्ञायकभाव की सेवा-उपासना की, उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र का अंश प्रगट हुआ तब उसने 'ज्ञायकभाव परम शुद्ध है' – ऐसा जाना। उसकी अपेक्षा ही यह कहा जा सकता है कि ज्ञायकभाव परम शुद्ध है। ज्ञायकभाव की दृष्टि होने पर जो शुद्धता प्रगट हुई, उसे इस शुद्धता में स्व का और पर का ज्ञान परिणमनरूप हुआ। यह ज्ञान पर का, निमित्त का या ज्ञेय का कार्य नहीं है, अपनी ज्ञान की पर्याय जो परिणमित हुई उसका कर्त्ता वह स्वयं ही है और जो पर्याय परिणमी, वह उसका स्वयं का कार्य है।

अहो ! यह छठी गाथा अलौकिक है। यह तो छठी का अफर लेख है। लौकिक में 'छट्ठी का लेख' कहावत प्रसिद्ध है। कहते हैं – बालक के जन्म के छह दिन बाद विधाता भाग्य लेख लिखने आता है, वहाँ कागज वगैरह रखते हैं; परन्तु वहाँ तो कागज ऐसा का ऐसा कोरा ही रहता है, क्योंकि वहाँ कोई विधाता नहीं है। परन्तु जो भगवान चिदानन्द का नाथ स्वयं पर्याय में ज्ञात हुआ – वही निश्चय विधाता है। उसने यह लेख लिखा कि अब इस आत्मा को अल्पकाल में मुक्ति है। ज्ञायक के सन्मुख होने पर, जब ज्ञायक शुद्ध जानने में आया, तब मुक्ति-लेख निश्चित लिखा जाता है, ऐसी अलौकिक बात इस गाथा में है।

गाथा ६ की टीका पर प्रवचन

वस्तु स्वयं स्वयं से ही सिद्ध होने से अनादि सत्तास्वरूप है। ध्रुव-ज्ञायकभाव का अस्तित्व स्वयं से ही है, किसी ईश्वर ने इसे बनाया नहीं है। सत्स्वरूप आत्मा अनादि सत्तावाला है अर्थात् इसका अनादि से ही अस्तित्व है। इसकी सत्ता कोई नई नहीं है। तथा कभी विनाश नहीं होगा, अतः अनंत है। भविष्य में भी निरन्तर ध्रुवस्वरूप रहेगा। इसप्रकार आदि – अंतरहित ध्रुवज्ञायकभाव अनादि-अनंत सत्तारूप है। यह पर्यायरहित ध्रुव की बात है। पर्याय तो नाशवान है। केवलज्ञान की क्षायिक पर्याय हो तो भी वह एकसमय की पर्याय है, इससे नाशवान है। यह तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव चैतन्यप्रकाश के नूर के पूर से भरा हुआ भगवान आत्मा है, वह अनादि-अनंत अविनाशी वस्तु है।

अब वर्त्तमान की बात करते हैं कि नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है अर्थात् जैसा वर्त्तमान है वैसा का वैसा ही त्रिकाल है, वर्त्तमानपने

स्वयं स्थित रहनेवाला है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है। अहाहा....! पर की अपेक्षा रखे बिना स्वयं, स्वयं के ज्ञान में स्पष्ट ज्ञात होता है। ऐसी चैतन्यज्योति स्वयं है। प्रवचनसार गाथा १७२ की टीका में अलिंगग्रहण के छठे बोल में आता है कि आत्मा अपने स्वभाव से जाना जा सके, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। सर्वत्र इस शैली से ही बात की है। भगवान आत्मा मतिश्रुतज्ञान में स्वयं से प्रत्यक्ष जाना जा सके, ऐसी चैतन्यज्योति है। आत्मा परोक्ष या ढका हुआ नहीं रहता। अहा! ज्ञायकदेव जिनके ज्ञान में समाया है, उनकी यह बात है।

ऐसा ज्ञायक एकभाव है। भाषा तो देखो! ज्ञायक एकभाव है अर्थात् एकस्वरूप है। उपशमभाव, क्षायिकभाव आदि पर्यायभाव तो अनेक हैं; यह तो त्रिकाल एकरूप, सदृश-सदृश, सामान्य ज्ञायक, स्वयं एकभाव है। ताश के खेल में जैसा हुकम का इक्का होता है; उसीप्रकार यह ज्ञायक हुकम के इक्का जैसा सर्वोपरि है, सदा ही इसकी जीत है।

अहा! आचार्यदेव की कथनी कैसी है? इसका वाक्य भी कैसा है? भगवान आत्मा ज्ञायक एकभाव है। वह संसार अवस्था में अनादि-बन्ध पर्याय की निरूपणा से दूध-पानी की तरह कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप है। यह पर्याय की बात है। संसारी अवस्था में अनादिबंध पर्याय की अपेक्षा से कर्मपुद्गलों के साथ दूध और पानी की तरह एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। वस्तुतः तो दूध दूधपने, पानी पानीपने है। उसीप्रकार ज्ञायक ज्ञायकपने तथा कर्मपुद्गल पुद्गलपने हैं। किन्तु दोनों के बीच मात्र एकसमय की पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यह आत्मा कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से देखें तो दुरंतकषायचक्र के उदय की विचित्रता के वश से प्रवर्तमान, पुण्य-पाप को उत्पन्न करने वाले अनेकरूप शुभ-अशुभभाव-रूप से परिणमित नहीं होते। कषायचक्र का मिटना बड़ा कठिन है। यह जीव उस कषायचक्र के उदय की विचित्रता के वश हो जाता है। कर्म का उदय इस जीव को वश में नहीं करता, वल्कि यह जीव स्वयं कर्म के वश में हो जाता है।

द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखें तो ज्ञायक एकभाव पुण्य-पाप के कारणरूप अनेक शुभाशुभभाव आत्मा (ज्ञायक) के स्वभावरूप से परिणमन नहीं करते, क्योंकि शुभाशुभभावों में ज्ञायकपना नहीं है। शुभाशुभभाव रागादिरूप अचेतन हैं, उनमें ज्ञान का अंश नहीं है। रागादि स्वयं को नहीं जानते और पर को भी नहीं जानते।

देखो ! कितना खुलासा किया है। शुभ-अशुभ भाव तो एकेन्द्रिय जीव में – निगोद में भी होता है। किन्तु चेतनस्वरूपी ज्ञायकमूर्ति चैतन्य के नूर का पूर भगवान आत्मा अचेतन शुभाशुभभावरूप कैसे हो ?

भाई ! तेरी ध्रुववस्तु अनादि-अनंत ऐसी की ऐसी पड़ी है, एकरूप है; शुभाशुभभाव तो अनेकरूप हैं। पंचमहाव्रत के परिणाम, दया-दान के परिणाम, विषय-कषाय के परिणाम इत्यादि अनेक शुभ-अशुभभावोंरूप ज्ञायक शुद्धद्रव्य कभी नहीं हुआ।

अरे ! यह तो अन्तर की निज घर की वात है। लोगों ने इसे सुनने की दरकार नहीं की। कहते हैं कि – आत्मा प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। वह तो ज्ञायक एकभावरूप सम्यग्दर्शन का ध्येय और विषय है। आत्मा शरीर, मन, वाणी और जड़कर्मरूप से तो होता ही नहीं है, किन्तु पुण्य और पाप को उत्पन्न करने वाले शुभाशुभभावपने भी नहीं होता। ऐसी शुद्धसत्ता का अन्तर में स्वीकार हुआ, यह अलौकिक बात है। 'मैं' एक ज्ञायक शुद्ध हूँ' – ऐसा अन्तर सन्मुख होकर जिसने ज्ञायक को जाना, अनुभव किया, उसे मुक्ति का केन मिल गया अर्थात् उसकी मुक्ति-कन्या से सगाई हो गई, ऐसा यह छठी का लेख है।

नियमसार (शुद्धभाव अधिकार) में ऐसा कहा है कि – औदयिक आदि चार भाव त्रिकालीस्वरूप में नहीं हैं। शुभ-अशुभभाव जो औदयिक-भाव हैं, उसरूप ज्ञायक परिणमता नहीं है, क्योंकि वे औदयिकभाव अचेतन हैं, यह बात तो ठीक; परन्तु क्षयोपशमभाव, क्षायिकभाव तो ज्ञायक को प्रसिद्ध करने वाली ज्ञान की पर्याय है, वह भी वस्तु में नहीं हैं; त्रिकाली-द्रव्य को जानने वाली ज्ञान की पर्याय भी ज्ञायक में नहीं है। गजब बात है न ? अहा ! इन्द्रों व गणधरों की उपस्थिति में देवाधिदेव त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनि में यह अलौकिक बात आती होगी, तब सुनने वाला कैसा नाच उठता होगा ?

नियमसार में जो औपशमिक आदि भावों को अगोचर आत्मा कहा, वे चारों ही भाव पर्यायस्वरूप हैं। उनसे या उनके आश्रय से आत्मा जाना जाय, ऐसा नहीं है। ध्रुवनित्यानन्दस्वरूप आत्मा अपने आश्रय से ही जाना जाता है। यह त्रिकालशुद्ध आत्मा ही दृष्टि का विषय है। वह सम्यग्दृष्टि को ही दृष्टिगोचर होता है, जानने में आता है। एकतरफ गोचर कहें; और दूसरी ओर अगोचर भी कहते हैं, दोनों ही बातें ठीक हैं, यथार्थ हैं। जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ वैसा समझना चाहिए।

अहाहा ! द्रव्यस्वभाव, पदार्थस्वभाव, तत्त्वस्वभाव या वस्तुस्वभाव जो चैतन्यभाव है उसको उसके निजस्वरूप से देखें तो पुण्य-पाप को उत्पन्न करने वाले जो समस्त अनेक शुभ-अशुभभाव है उन रूप में वह चैतन्य-स्वभावी आत्मा कभी भी नहीं परिणमता। अहिंसा, सत्य, दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि शुभराग ही शुभभाव हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना इत्यादि अशुभराग अशुभभाव हैं। ये दोनों भाव जड़ हैं और मलिन हैं। यहाँ कहते हैं कि निर्मलानंद चैतन्यप्रभु आत्मा कभी भी शुभ-अशुभभावपने जड़रूप या मलिनरूप नहीं हुआ। इससे वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है।

टीका में 'प्रमत्त' शब्द पहले लिया है, गाथा में 'अप्रमत्त-प्रमत्त' इस क्रम में पहले 'अप्रमत्त' लिया है। यह तो शब्दों की योजना है, क्योंकि गाथा तो पद्यरूप है न ? इसलिए छन्दानुरोध से अप्रमत्त-प्रमत्त लिया है, इसका कोई विशिष्ट अभिप्राय नहीं है।

यह तो वस्तु के स्वरूप की बात है। जैनशासन तो वस्तु का स्वरूप है। जैन अर्थात् अन्दर जो ध्रुवज्ञायकभाव विराजता है, जो कभी रागरूप, जड़रूप या मलिनतारूप नहीं होता, ऐसे ज्ञायक के सन्मुख होकर जो उसे दृष्टि में ले, उसे जैन कहते हैं। जैन कोई बाड़ा या वेष नहीं है, यह तो वस्तुस्वरूप है। धर्म के बहाने बाहर में हो-हल्ला करे, पुण्य की क्रियायें करे, रथयात्रा-जुलूस निकाले, किन्तु यह सब तो राग है। और जो राग है वह आत्मा नहीं है। तथा आत्मा कभी भी रागरूप नहीं हुआ है। ज्ञायक में राग का अभाव है, राग में ज्ञायक का अभाव है। ऐसा होते हुए अज्ञानी कहते हैं कि शुभभाव करते-करते धर्म होता है, यह अचरज की बात है। अचेतनभाव करते-करते चेतन कैसे प्रगट होगा ? राग करते-करते वीतरागता कैसे हो ? ऐसा कभी बनता नहीं है। इससे आत्मा जो एक ज्ञायकभावरूप है वह प्रमत्त-अप्रमत्त के भेदरूप नहीं है, ऐसा न्याय कहा।

अब इसे शुद्ध कैसे कहना ? यह बात करते हैं।

वही आत्मा समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नपने उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। यहाँ 'अन्यद्रव्य' का अर्थ कर्म का उदय और उसका भाव ग्रहण किया है, यहाँ राग की बात नहीं है। जीव का कर्म के उदय और उनके भावों पर अनादि से लक्ष्य है, कर्म के उदय के वश होकर स्वयं अटकता है, इसलिए पुद्गलकर्म और उनके भावों का लक्ष्य छोड़कर एक ज्ञायकभाव का लक्ष्य करने की बात है।

परभावों के तीन प्रकार हैं :–

(१) कर्म का भाव वह परभाव है।
(२) रागादि विकार को भी परभाव कहते हैं।
(३) निर्मलपर्याय को भी स्वभाव की अपेक्षा से परभाव कहा जाता है।

यहाँ तो जड़द्रव्य और इसके भाव को परद्रव्य कहा है। चैतन्यदेव-ज्ञायक को परभाव से भिन्नपने सेवन करते हुए शुद्ध कहा जाता है। अर्थात् निमित्त का लक्ष्य छोड़कर ज्ञायक के ऊपर लक्ष्य किया तब उसने ज्ञायक की उपासना की, ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक को जाना। इसप्रकार 'वह शुद्ध है' – ऐसा कहने में आता है। जिसने जाना नहीं, उसको शुद्ध है ऐसा कैसे कहें अर्थात् उसको शुद्ध कैसे कहा जा सकता है? अहा! नित्य ध्रुव-स्वभाव पर लक्ष्य जाते ही शुद्धता उत्पन्न होती है, तब यह कहा जाता है कि इसने ध्रुवद्रव्य की सेवा की और शुद्धज्ञायक को जाना। अन्दर लक्ष्य गये बिना 'शुद्ध है' – ऐसा भी कहे तो उसका कोई अर्थ नहीं है।

अहा! भगवान आत्मा चैतन्यरस-कंद है। ऐसा आत्मा कभी देखा-जाना नहीं और इसकी बात भी सुनने की परवाह नहीं की। दुनियाँ की चतुराई में लगा रहा, बाहर में कारखाना, धंधा-व्यापार आदि के धमाल में अटक गया। परन्तु भाई! यह तो पागलपना है। यह तो देवाधिदेव तीर्थंकरदेव का केन आया है कि जाननस्वभाववाला ज्ञायक है तथा अजानन (जड़) स्वभाववाले कर्मपुद्गल हैं, यह आत्मा में इनके भावरूप कैसे हों? अहो! आत्मा ऐसा का ऐसा चैतन्यरस के तत्त्व से भरा हुआ है। वह पर से, कर्म से, निमित्त से भिन्न करके उपासना करने में आता है अर्थात् ज्ञायक को पर्याय में स्वीकार करने पर वह 'शुद्ध है' – ऐसा जानने में आता है। वह सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्रथम सीढ़ी कही जाती है। तथा शुद्धनय का विषयभूत उस एक ही का उग्र-आश्रय – सेवन करने पर विशेष-विशेष शुद्धतारूप रत्नत्रय धर्म प्रगट होता है।

आगे ११वीं गाथा में तो ज्ञायक को 'शुद्धनय' कहा है। और इस एक के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, इससे 'शुद्धनय' ही एक आदरणीय है। आत्मा के आश्रय से जो शुद्धपरिणमन हुआ, उसे ही शुद्धनय हुआ – ऐसा कहा जाता है। अर्थात् शुद्धनय के आश्रय से जो पर्याय हुई, उस पर्याय में शुद्ध का भान हुआ, इसलिए उसे शुद्धनय कहा है। समयसार आस्रव अधिकार कलश १२० में आया है कि शुद्धनय का आश्रय करके जो निरन्तर

एकाग्रता का अभ्यास करता है वह बंधरहित होकर समय के सार को देखता है, अनुभव करता है।

'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ' – ऐसा जो आत्मद्रव्य में परिणमन, वह शुद्धनय है। इसका अर्थ यह है कि त्रिकाली वस्तु ज्ञान में आयी, उसे शुद्धनय कहा। साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर होता है। केवलज्ञान होने पर चैतन्य का आश्रय सम्पूर्णरूप से पूरा हो गया, इस अपेक्षा से केवलज्ञान को साक्षात् शुद्धनय कहा है। तथा शुद्धनयस्वरूप द्रव्यस्वभाव में केवलज्ञान की पर्याय का अभाव है तथा पर्याय होने से केवलज्ञान को सद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा है। जहाँ जो अपेक्षा हो वहाँ वैसा ही समझना चाहिए।

जीव अनादि से कर्म के उदय के वश होकर परिणमन करता हुआ रागादिक का सेवन करता था, उससे संसार था। यहाँ ज्ञायक को लक्ष्य में लेकर उस एक की ही उपासना की, इसकारण रागादिकरूप संसार छूटने से शुद्ध कहने में आया है। उत्पाद-व्ययरहित एकरूप ज्ञायकभाव के लक्ष्य से जो निर्मल परिणमन हुआ, उसमें आत्मा शुद्ध प्रतिभासित हुआ, उसे शुद्ध कहा जाता है। इसप्रकार तीन पदों की व्याख्या हुई।

अब चौथे पद की बात चलती है। दाह्य अर्थात् जलने योग्य पदार्थ के आकार से होने वाली अग्नि को दहन कहते हैं। छाणा (कंडा), लकड़ी, कोयला वगैरह ईंधन को दाह्य कहते हैं। अग्नि इनके आकार होती है उससे अग्नि को दहन कहते हैं। किन्तु दाह्यकृत अशुद्धता अग्नि में नहीं है। जलने योग्य पदार्थ के आकार अग्नि हुई, वह अपने स्वयं के परिणमन की योग्यता से हुई है। ईंधन के आकार अग्नि परणमी, इसलिए अग्नि ईंधन के आधीन–पराधीन नहीं हो गई। ज्ञेय के आकार अग्नि का परिणमन होने से अग्नि में अशुद्धता नहीं आ जाती। स्वयं अग्नि ईंधन के आकार परिणमित हुई है। ईंधन के आकार परिणमने वाली अग्नि ईंधन के कारण नहीं परिणमी है, किन्तु स्वयं अपने कारण ही वह ईंधन के आकार से परिणमित हुई है।

यह तो दृष्टान्त हुआ, अब सिद्धान्त कहते हैं।

ज्ञेयाकार होने से उस भाव को ज्ञायकपना प्रसिद्ध है। जैसा राग हो, पुण्य-पाप का भाव हो, उसी स्वरूप से ही ज्ञान जानता है। जब शरीर, मन, वाणी, राग आदि ज्ञान में ज्ञात हों, उससमय ज्ञान ज्ञेयाकार

परिणमित होता है, तो भी ज्ञेय के कारण ज्ञान ज्ञेयाकार होता है, ऐसी पराधीनता वस्तुस्वरूप में नहीं है।

जाननेवाला ज्ञेयाकाररूप से ज्ञानपने परिणमता है, इससे उसको ज्ञायकपना प्रसिद्ध है, तो भी ज्ञेयपदार्थों के कारण ज्ञान नहीं परिणमता है; ज्ञेयकृत अशुद्धता ज्ञान में नहीं है। पर के कारण ज्ञान ज्ञेयाकाररूप नहीं होता, परन्तु स्वयं की परिणमन की योग्यता से अपना ज्ञान-आकार स्वयं से हुआ है।

ऐसा वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं समझे और सामायिक करे, प्रोषध करे, प्रतिक्रमण-उपवासादि करे; तो भी उससे कोई लाभ होने वाला नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञायक पर-ज्ञेयों का ज्ञाता है। पर-ज्ञेय जैसे हों, उसी आकार में ज्ञान का परिणमन होता है, तो भी ज्ञान का परिणमन अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि रागादिक-ज्ञेयाकार की अवस्था में ज्ञायकपने जो जाना गया, वह स्वरूप-प्रकाशन की अवस्था में भी ज्ञायक ही है। जैसे दाह्यकृत अशुद्धता अग्नि में नहीं है; उसीप्रकार ज्ञेयकृत अशुद्धता ज्ञान में नहीं है। ज्ञायकभाव के लक्ष्य से जो ज्ञान में परिणमन हुआ, उसमें स्व का ज्ञान हुआ और ज्ञेयों का भी ज्ञान हुआ, वह अपनी योग्यता के कारण हुआ है। जो ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकपने जाना वह अपने स्वरूप को जानने की अवस्था में भी दीपक की तरह कर्त्ता-कर्म का अनन्यपना होने से, ज्ञायक ही है। स्वयं जाननेवाला है इसलिए स्वयं कर्त्ता और स्वयं को जाना इसलिये स्वयं ही कर्म। ज्ञेय को जाना ही नहीं, परन्तु ज्ञेयाकार हुए अपने ज्ञान को जाना है। अहा हा........! वस्तु तो सत्, सहज, और सरल है, परन्तु इसका अभ्यास नहीं, इसकारण कठिन लगती है। क्या करें ?

जैसे दीपक घट-पट को प्रकाशित करने की अवस्था में दीपक है; और स्वयं को – स्वयं की ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है। दीपक घट-पट आदि को प्रकाशित करे तब भी दीपक-रूप ही है, घट-पटादिरूप नहीं होता; और अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करे तब भी दीपक, दीपकरूप ही है, अन्य कुछ भी नहीं है। उसी-प्रकार ज्ञायक को भी समझना। ज्ञायक घट-पटादि और रागादि ज्ञेयाकारों को जानने की हालत में भी ज्ञायक ही है; और स्वयं को जानने की अवस्था में भी ज्ञायक ही है। घट-पटादि या रागादि को जानने के काल में भी ज्ञान की पर्याय ज्ञानरूप ही है, घट-पटादि अन्यरूप नहीं है; तथा स्वयं की पर्याय को जानने के काल में भी ज्ञान की पर्याय ज्ञानरूप ही है, अन्यरूप नहीं है।

मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई ! अनादि की शल्य पड़ी है, इससे यह बात समझने में कठिन पड़ती है, परन्तु इसके समझे बिना जन्म-मरण का अंत नहीं आ सकता। भाई ! प्रयत्न करके भी यह समझना पड़ेगा।

ज्ञायक ज्ञानरूप से परिणमता है, वह ज्ञेयाकार से परिणमता ही नहीं है। यह ज्ञायकरूपीदीपक दया, दान, भक्ति, पूजा इत्यादि ज्ञेय-परिणामों को जानने के काल में ज्ञानरूप रह कर ही जानता है, अन्य ज्ञेयरूप नहीं होता। 'ज्ञेय का ज्ञान' ज्ञान की ही अवस्था है, ज्ञेय की नहीं। ज्ञान की पर्याय ज्ञेय को जाननेरूप हुई, इसलिए उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। साक्षात् तीर्थंकर भगवान सामने हों और उनके जानने के आकाररूप ज्ञान का परिणमन हो, वह ज्ञेय के कारण नहीं हुआ। उससमय ज्ञान का परिणमन स्वतंत्र स्वयं से ही है, पर के कारण नहीं हुआ। भगवान के जानने के काल में भी भगवान ने नहीं जनाया है, किन्तु वस्तुतः तत्सम्बन्धी उसी ज्ञान ने जाना है।

आत्मा जाननेवाला है, वह जानता है। वह पर को जानता है या नहीं ? तो कहते हैं कि पर को जानने के काल में भी स्वयं का परिणमन – ज्ञान का परिणमन स्वयं से हुआ है, पर के कारण नहीं। इस शास्त्र के शब्द जो ज्ञेय हैं, इन ज्ञेयों के आकार से ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञेय के कारण ज्ञान का परिणमन त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। उसीसमय ज्ञान के परिणमन की योग्यता से अर्थात् ज्ञेय के ज्ञान होने की स्वयं की योग्यता से ज्ञान हुआ है। ज्ञान ज्ञेय के आकार परिणमता है, वह ज्ञान की पर्याय की स्वयं की योग्यता से परिणमता है, ज्ञेय के कारण नहीं परिणमता।

अब सुगम भाषा में भावार्थ कहते हैं।

गाथा ६ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा में अशुद्धपना परद्रव्य के संयोग से आता है। वहाँ मूलद्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप होता नहीं है, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। देखो, आत्मा में पुण्य-पाप की मलिनदशा कर्म के निमित्त से आती है। दया, दान, भक्ति, पूजा इत्यादि विकल्प राग है, मलिनता है और परद्रव्यरूप कर्म के उदय के संयोग से आता है। किन्तु उससे मूल-द्रव्य ज्ञायकभाव रागादिरूप मलिन नहीं हो जाता, वह त्रिकाल ज्ञायक-स्वरूप ही रहता है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्यायदृष्टि से देखने में मलिन ही दिखाई देता है। इसप्रकार आत्मा का स्वभाव

ज्ञायकमात्र है, और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन हो रही है।

पण्डित जयचंदजी ने बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है कि – "पर्यायदृष्टि से देखो तो वह मलिन ही दिखाई देता है। और द्रव्यदृष्टि से देखने पर ज्ञायकपना तो ज्ञायकपना ही है, जड़रूप नहीं हुआ है।"

यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है कि – पर्याय में जो प्रमत्त – अप्रमत्त का भेद है, वह तो परद्रव्य के संयोगजनित पर्याय है। यहाँ प्रमाद के भावरूप मलिन पर्याय अर्थात् प्रमत्तदशा परद्रव्य के संयोगजनित है। किन्तु इसके अभाव से जो अप्रमत्त दशा होती है उसे भी परद्रव्य के संयोग-जनित कही है। निमित्त का सद्भाव और अभाव की अपेक्षा के कारण प्रमत्त-अप्रमत्त सभी पर्यायों को संयोगजनित कहकर ज्ञायकस्वभाव में नहीं है, ऐसा कहा है।

नियमसार में औदयिकादि चार भावों को आवरणसंयुक्त कहा है। वहाँ औदयिकभावों में कर्म के उदय के निमित्त की अपेक्षा आती है, इसलिए वह आवरणवाला है यह तो ठीक; किन्तु उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव तो निरावरण हैं, तो भी निमित्त के अभाव की अपेक्षा से चारों ही भावों को आवरणसंयुक्त कह दिया है।

पण्डितजी ने बहुत सरस स्पष्ट किया है कि निमित्त के सद्-भाववाली प्रमत्तदशा और निमित्त के अभाववाली अप्रमत्त दशा ये दोनों संयोगजनित हैं। नित्यानन्द, ध्रुव, प्रभुज्ञायक में ये पर्यायभेद नहीं हैं। भाई! यह समझे बिना जन्म-मरण का फेरा नहीं मिटता। प्रमत्त-अप्रमत्त की अवस्थायें आत्मा में नहीं हैं। अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है। यहाँ प्रमत्त-अप्रमत्त दोनों अवस्थाओं को अशुद्धता में डाल दिया है, क्योंकि दोनों संयोगजनित हैं। ये चौदह गुणस्थानों की पर्यायें अशुद्धनय की विषय हैं। यहाँ द्रव्यदृष्टि में चौदह गुणस्थानों को अशुद्ध कहकर – गौण करके व्यवहार, अभूतार्थ, असत्यार्थ, उपचार कहा है। चौदहवाँ गुणस्थान अभावरूप है, इसकारण असत्यार्थ है, ऐसा नहीं है; परन्तु द्रव्यदृष्टि में गौण है, लक्ष्य में लेने योग्य नहीं है, और त्रिकाली द्रव्य में ये अवस्थायें नहीं हैं; इस कारण असत्यार्थ, अभूतार्थ कही हैं। द्रव्य में तो अशुद्धता है ही नहीं, पर्याय में है, वह द्रव्यदृष्टि में गौण हो जाती है।

यह छठ्ठी गाथा बहुत सूक्ष्म है। समयसार का सार जो ज्ञायक उसकी शुरूआत यहाँ से हो जाती है। निहाल भाई ने 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश'

में कहा है कि सम्पूर्ण समयसार में छट्ठी गाथा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन का मुख्य विषय 'ध्रुव' आ गया है। छट्ठी गाथा में सर्वोत्कृष्ट बात आयी है कि मैं प्रमत्त नहीं, अप्रमत्त भी नहीं; अब कौनसी पर्याय शेष रही ? अहा हा ! दृष्टि का विषय जो ज्ञायकबिम्ब – उसमें पर्यायें हैं ही नहीं।

वस्तुस्वभाव की दृष्टि से देखिये तो स्वभाव त्रिकालशुद्ध है, द्रव्य द्रव्यरूप ही है। इसकी वर्त्तमान अवस्था परद्रव्य के निमित्त से अशुद्ध हुई है, परन्तु यह गौण है। आत्मा में दो प्रकार हैं – एक त्रिकाली स्वभावभाव और दूसरा वर्त्तमान पर्यायभाव। वहाँ त्रिकालीस्वभाव जो ज्ञायकभाव है वह कभी भी प्रमत्त व अप्रमत्त ऐसे चौदह गुणस्थानरूप नहीं हुआ, निरन्तर ज्ञायकपने शुद्ध रहा है। इसलिए वर्त्तमान पर्याय को गौण करके इस शुद्ध-ज्ञायक को दृष्टि में लेना सम्यग्दर्शन और इसे ही जानना सम्यग्ज्ञान है। यह वीतरागमार्ग की मूल बात है। द्रव्य में तो अशुद्धता है ही नहीं, परन्तु दृष्टि में भी अशुद्धता नहीं है। संसारीजन पर्याय पर से दृष्टि हटाकर, खींचकर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि तो करते नहीं और बाहर के धमाल में रुक जाते हैं, अटक जाते हैं। व्रत करते हैं, यात्रा करते हैं, भक्ति आदि करते है; परन्तु इनसे क्या हो ? यहाँ तो कहते हैं कि तुम ज्ञायक महाप्रभु हो, उसमें दृष्टि एकाग्र करना ही भक्ति है और यही मोक्षमार्ग है।

वर्त्तमान पर्याय में अशुद्धता है, वस्तु स्वयं अशुद्धरूप नहीं हुई। वस्तु तीनकाल में कभी अशुद्ध होती भी नहीं, क्योंकि वस्तु में विकार हो – ऐसा कोई गुण नहीं है। आत्मवस्तु में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि अनंत-अनंत गुण हैं, परन्तु ऐसा कोई गुण नहीं है जो विकार को उत्पन्न करे। विकार तो पर्याय में परनिमित्त से होता है। गुण में विकार नहीं होता, परन्तु परनिमित्त से या परके लक्ष्य से पर्याय विकारी होती है। द्रव्यदृष्टि में इस अशुद्धता को गौण करके व्यवहार, असत्यार्थ, अभूतार्थ, उपचार कहा है। उसका आशय यह है कि पर्याय की अशुद्धता का लक्ष्य छुड़ाकर आत्मवस्तु की दृष्टि कराना है। वस्तुस्वभाव की मुख्यता में पर्याय गौण है, इससे उसे व्यवहार कहकर झूठी है, असत्यार्थ है, ऐसा कहा जाता है। पर्याय है तो अवश्य, पर उसका लक्ष्य करने योग्य नहीं है, इससे द्रव्यदृष्टि में उसे गौण करके उपचार कहा है।

अहा हा·······! सुखनिधान प्रभुआत्मा, दुःखरूप कैसे परिणमे ? दुःखपने तो पर्याय परणमी है, यह पर्याय अशुद्ध है, और पर के लक्ष्य से

विकारी हुई है, गुण कभी विकारी नहीं हुए। तीनलोक के नाथ जिनेन्द्रदेव का यह कथन है। जैनदर्शन के सिवा और कहीं ऐसी बात नहीं है।

अशुद्ध पर्याय तो द्रव्य में है ही नहीं, परन्तु शुद्ध पर्याय भी द्रव्य में नहीं है; किन्तु यह बात यहाँ नहीं है, क्योंकि शुद्ध पर्याय तो द्रव्य का आश्रय करती है। यहाँ तो अशुद्धता को द्रव्यदृष्टि में गौण करके असत्यार्थ कहा है। द्रव्यदृष्टिरूप निर्मल पर्याय का विषय त्रिकालीद्रव्य है। जो पर्याय द्रव्य की तरफ झुकी उस पर्याय में भी अशुद्धता नहीं है, यहाँ तो यह कहना चाहते हैं। पर्याय द्रव्य की तरफ झुकी इसमें अशुद्धता गौण है। बहुत प्रकार से कथन आता है, वह अपेक्षा बराबर समझना चाहिए।

द्रव्यदृष्टि शुद्ध है। द्रव्यदृष्टि अर्थात् वस्तुस्वभाव से देखने पर द्रव्य शुद्ध है और वस्तुस्वभाव पर लक्ष्य करने से जो द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई, वह स्वयं भी शुद्ध है और शुद्धद्रव्य इस द्रव्यदृष्टि का ध्येय है। बापू! यह तो आत्मकथा है, जैनकुल में जन्म लेकर भी यह पता न चले कि द्रव्य किसे कहते हैं? इसका स्वभाव क्या है? और किस विषय का लक्ष्य छोड़ना तथा किस विषय का लक्ष्य करना? भाई! इनके सबके जाने बिना धर्म नहीं होगा।

दृष्टि का विषय शुद्ध है और दृष्टि भी शुद्ध है। दृष्टि ने त्रिकाली-शुद्ध की प्रतीति की, शुद्ध में 'शुद्ध' जाना। यह वीतरागमार्ग सूक्ष्म है भाई! आत्मा परमात्मस्वरूप शुद्ध है – इस दृष्टि से देखो तो वस्तु शुद्ध है। पर यहाँ तो यह कहा है कि द्रव्यदृष्टि शुद्ध है; द्रव्य शुद्ध है – ऐसा नहीं कहा। इसका अर्थ यह है कि शुद्ध की दृष्टि जब होती है तब वस्तु शुद्ध है, ऐसा जाना – कहा जाता है।

शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करने पर अशुद्धता गौण हो जाती है और उसका अभाव होने पर शुद्धि प्रगट होते ही मुक्ति हो जाती है।

और कहते हैं कि द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है।

द्रव्य का स्वभाव अभेद है। उस पर दृष्टि जाने से दृष्टि भी अभेद है। त्रिकालीद्रव्य अभेद है, इसलिए उसके आश्रय से प्रगट हुई जो दृष्टि वह भी अभेद है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ अशुद्ध पर्याय को व्यवहार कहा है और उसी अपेक्षा शुद्ध पर्याय अर्थात् दृष्टि को निश्चय कहा है। त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि से

देखें तो द्रव्य निश्चयसत् है और इसके आश्रय से प्रगट हुई दृष्टि भी निश्चयसत् है।

आत्मवस्तु त्रिकाल है, यह भूतार्थ है। ऐसे भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि होने पर द्रव्यदृष्टि भी भूतार्थ है।

त्रिकाली द्रव्यवस्तु सत्य है। ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि करने वाली द्रव्यदृष्टि भी सत्यार्थ है। पीछे पर्याय की अशुद्धता को गौण करके उपचार कहा था, यहाँ इस अन्तिम बोल में उपचार की अपेक्षा द्रव्यदृष्टि परमार्थ है, ऐसा कहा है। वस्तु – द्रव्य स्वयं परमार्थ है। इसकी दृष्टि करने से यह दृष्टि भी परमार्थ है।

इसलिए कहते हैं कि आत्मा ज्ञायक ही है, इसमें भेद नहीं है; इससे प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। देखो! स्पष्ट करते हैं कि चैतन्यरस का कंद प्रभुआत्मा एक ज्ञायक, ज्ञायक ही है, उसमें पर्याय नहीं है, प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्थायें नहीं हैं। अहा हा....! सम्यग्दर्शन की पर्याय ज्ञायक को विषय करती है, किन्तु यह पर्याय ज्ञायक में नहीं है। ज्ञायक पर्याय के भेदरूप नहीं होता। जानने वाला-जानने वाला-जानने वाला, ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव – ऐसा ज्ञायक में कोई भेद नहीं है। कोई कहे कि अनेकान्त करो न कि आत्मा ज्ञायक भी है और विकारी भी है। तो यहाँ कहते हैं कि आत्मावस्तु एकान्त ज्ञायक ही है, अभेद है, इससे प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जगत के समक्ष परमसत्य जाहिर किया है।

अब चौथे पद का अर्थ करते हैं। 'ज्ञायक' यह नाम भी ज्ञेय को जानने के कारण कहने में आया है, क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। रागादि, विकारादि जितने ज्ञेय हैं, उतने ही यहाँ ज्ञान में जाने जाते हैं, तो भी ज्ञेयकृत अशुद्धता ज्ञान में नहीं है। राग को जानता है, इसलिए राग के कारण ज्ञान नहीं परिणमा है। राग है, इसलिए उसका ज्ञान हुआ – ऐसी भी अशुद्धता ज्ञायक में नहीं है। ज्ञान की पर्याय स्वयं ही इस रीति से जाननेरूप परिणमित हुई है।

जैसे दर्पण के सामने कोयला या श्रीफल आदि जैसी वस्तु हो वैसी उसमें झलके या जानी जाय, उस वस्तुरूप दर्पण ही परिणमा है, वह दर्पण की ही अवस्था है। दर्पण में झलकता कोयला और श्रीफल, कोयला व श्रीफल नहीं है, वह तो दर्पण की ही अवस्था है। उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय में शरीरादि ज्ञेय जाने जाते हैं, वह ज्ञान की पर्याय स्वयं की है, यह शरीरादि पर के कारण नहीं हुई है; क्योंकि जो ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित

हुये, वे ज्ञायक का अनुभव करते हुए ज्ञायक ही हैं। ज्ञायक ज्ञायक ही रहा है, ज्ञेयरूप नहीं हुआ है। ज्ञेयपदार्थ का जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान स्वयं का स्वयं से है, ज्ञेय से नहीं।

यह जो ज्ञायक है, वह मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। ज्ञेयपदार्थ का ज्ञान हुआ उसको जानने वाला मैं ही हूँ, मैं ज्ञेयरूप नहीं हूँ। ऐसा स्वयं को, स्वयं का अभेदरूप अनुभव हुआ। तब यह जाननेरूप क्रिया का कर्त्ता स्वयं ही है और जिसको जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। ज्ञान की पर्याय ने त्रिकालीद्रव्य को जाना, तब ज्ञेय को भी एक साथ जाना। यह ज्ञेय को नहीं, अपनी पर्याय को स्वयं ने जाना है। जाननक्रिया का कर्त्ता भी स्वयं और जाननेरूप कर्म भी स्वयं। ऐसा एक ज्ञायकपनामात्र स्वयं शुद्ध है। ऐसा शुद्ध जाना—तब शुद्ध कहा जाता है। जाने बिना शुद्ध किसे कहा जाय ?

शुद्धनय का विषय त्रिकाली ज्ञायकमात्र है। अन्य परसंयोगजनित सभी भेद भेदरूप-अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। शुद्धनय का विषय तो अपना ध्रुवस्वभाव ज्ञायक है। किन्तु उसका परिणमन निर्मल हुआ, उसे शुद्धनय कहा है। परिणमन ने ध्रुव को जाना, जानने का कार्य हुआ, उसे शुद्धनय कहा। विषय तो ध्रुव है, किन्तु इसे ध्रुव जाना किसने ? शुद्ध परिणमन हुआ तब ही ध्रुव है, ऐसा जाना। इसलिए शुद्ध परिणमन को भी शुद्धनय कहा।

पर्याय में जो अशुद्धता है, वह तो परसंयोगजनित भेद है, और जो निर्मलपर्याय हुई उसे अभेद में गिन लिया। अशुद्धता को भेद में गिनकर वह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है, यह कहा है। द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध है और द्रव्य की पर्याय विकारपने हुई है। इससे उसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय कहा है। यह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है। इससे व्यवहारनय ही है, ऐसा जानना। 'पर्याय' ऐसा भेद पड़ा, अतः वह अशुद्ध है, व्यवहार है। शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिकनय व्यवहारनय ही है।

यहाँ आत्मा जो ध्रुववस्तु है उसे सत्यार्थ, भूतार्थ और परमार्थ कहा और अशुद्धनय का विषय जो रागादि है उसे असत्यार्थ, अभूतार्थ और उपचार कहा। द्रव्य के स्वभाव का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए ऐसा कहा है। ध्रुव को ध्येय बनाकर उसका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं, इसलिए द्रव्य की मुख्यता में पर्याय को गौण करके उसका लक्ष्य छुड़ाने के लिए उसे असत्यार्थ कहा है।

यहाँ ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इससे अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना। पर्याय में विकार है ही नहीं, मलिनता है ही नहीं, ऐसा नहीं मानना। पर्याय में विकार है, उस अपेक्षा से व्यवहार को सत्यार्थ जानना; परन्तु सम्यग्दर्शन के ध्येय में द्रव्य और पर्याय दोनों आजाते हैं – ऐसा नहीं समझना।

वस्तु जो त्रिकालीध्रुव द्रव्यस्वभाव है, उसके आश्रय से धर्म की प्राप्ति होती है। पर्याय का आश्रय करने जाय तो वहाँ विकल्प उठते हैं, राग उत्पन्न होता है। इससे उसको असत्यार्थ कहकर त्रिकाली ध्रुवज्ञायक का अवलम्बन लेने को कहा है। परन्तु ऐसा नहीं मानना कि पर्याय में शुद्धता-अशुद्धता कोई वस्तु ही नहीं है। कारण कि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं, और जो वस्तुधर्म है, वह वस्तु का सत्व है। अशुद्धता भी आत्मा की पर्याय का सत्व है, सर्वथा असत्य या झूठी नहीं है। मार्ग सूक्ष्म और गंभीर है भाई! इसे अपेक्षा से न समझे तो गड़बड़ी हो। विकारी अवस्था को भी जीव ने धारण कर रखा है। जैसे द्रव्य ने गुणों को धारण कर रखा है, वैसे ही जीव ने पर्याय में अशुद्धता को भी धारण कर रखा है। अशुद्धता है ही नहीं – ऐसा कहें तो पर्याय उड़ ही जायगी अर्थात् पर्याय का नाश ही हो जायगा और अशुद्धता का आश्रय लें तो धर्म नहीं होता। इसलिए पर्याय में अशुद्धता है, यह सत्यार्थ है; परन्तु वह आश्रय करने योग्य नहीं है, इससे असत्यार्थ है। यह अपेक्षा यथार्थ समझना चाहिए।

अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है, यही फेर है। विकारीभाव कर्म के संयोग से होते हैं। वे स्वभाव नहीं हैं, इस अपेक्षा से संयोग से होते हैं – ऐसा कहा है। परन्तु ये भाव स्वयं में, स्वयं से होते हैं। विकारी-भाव हैं तो जीव के ही पर्यायसत्व, और वे अपने षट्कारक से स्वतंत्रपने पर्याय में होते हैं। विकार की कर्त्ता विकारी पर्याय, विकार स्वयं का कर्म, विकार स्वयं साधन, स्वयं सम्प्रदान, स्वयं अपादान और स्वयं आधार। इसप्रकार विकार एकसमय की पर्याय में अपने षट्कारकों से उत्पन्न होता है। विकार पर के संयोग से होता है, यह कहना तो निमित्त की प्रधानता का कथन है। वस्तुतः विकार पर के कारण नहीं होता है।

अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है। अशुद्धनय का विषय जो संसार है, उसे जीव अनादि से अपना मान कर चारगति में रगड़ता है और दुःख भोगता है।

अशुद्ध पर्याय तो हेय है ही, पर नियमसार में निर्मल पर्याय को भी हेय कहा है। यहाँ तो द्रव्य त्रिकालीशुद्ध है, उसकी ओर दृष्टि कराने और पर्याय में जो अशुद्धता है, उसका लक्ष्य छुड़ाने के लिए अशुद्धता को असत्यार्थ कहकर हेय कहने में आया है। जीव की अनादि से पर्यायदृष्टि है और अशुद्धता तथा पर्याय के भेदों का लक्ष्य भी अनादि से है। वह यहाँ छुड़ाने का प्रयोजन है।

अहा हा.......! ध्रुवज्ञायकभाव भूतार्थ है, सत्यार्थ है, निश्चय है, परमार्थ है; और जो पर्याय की अशुद्धता है वह अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ है, व्यवहार है, उपचार है,—इससे अशुद्धनय हेय है, क्योंकि उसका विषय संसार है और संसार में जीव क्लेश भोगता है। चारों ही गतियों में मिथ्याश्रद्धान और राग-द्वेष की दावाग्नि में सन्तप्त होकर जीव दुःखी हो रहा है। पैसे वाला मोटा सेठिया हो या राज्य का मालिक, मोटा राजा-महाराजा हो, ये सब अज्ञानवश महादुःखी हैं। लोग अज्ञान से सुखी कहते हैं, किन्तु वस्तुत वे सब अत्यन्त दुःखी हैं, जीव स्वर्ग में जावे तो वहाँ भी तृष्णावश भारी दुःखी है। नरक-निगोद के दुःख तो अपरम्पार, अकथनीय हैं हीं।

अब कहते हैं—जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न हो, तब संसार मिटे और जब संसार मिटे तब क्लेश मिटे। इसप्रकार दुःख मिटाने के लिए शुद्धनय का उपदेश प्रधान है। परद्रव्य और अशुद्धता का लक्ष्य छोड़कर आनन्द का नाथ भगवानआत्मा त्रिकालध्रुव ज्ञायकप्रभु का आश्रय लेने पर संसार या विकार मिटे तब क्लेश मिटकर सुख हो। नरक के क्षेत्र में अनाज का दाना नहीं है, पानी की बूंद नहीं है, तो भी वहाँ समकिती सुखी है, सातवें नरक के स्थान में भी कोई-कोई जीव त्रिकाली-द्रव्य का आश्रय लेकर सम्यग्दृष्टि होता है। उससे पर्याय में उसे सुख प्रगट होता है। त्रिकालीद्रव्य आत्मा स्वयं सुख का निधान है। पर्याय की दृष्टि छोड़कर जब द्रव्यदृष्टि करे तब सुख प्रगट होता है और दुःख मिटता है, इससे शुद्धनय का उपदेश प्रधान है। सम्यग्दर्शन पाने के बाद शुद्धनय का आश्रय लेने पर अन्तर में विशेष-विशेष लीन होने से चारित्र प्रगट होता है वहाँ विशेष-विशेष सुख होता है। शुद्धनय का आश्रय सम्पूर्ण होने पर सम्पूर्ण वीतरागता, केवलज्ञान और अनंतसुख प्रगट होता है। सुखी होने का यह एक ही मार्ग है।

अशुद्धनय को असत्यार्थ कहा, उससे ऐसा नहीं समझना कि आकाश के फूल की तरह उसका विषय वस्तुधर्म सर्वथा है ही नहीं। ऐसा सर्वथा

एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है। जैसे आकाश का फूल नहीं है वैसे जीव की अवस्था में अशुद्धता है ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। मुख्य-गौण करके सत्यार्थ-असत्यार्थ की व्याख्या की है। मुख्य को सत्य कहकर गौण को असत्य कहा जाता है। किन्तु पर्याय में अशुद्धता नहीं हो, ऐसा नहीं है। अशुद्धता पर्यायधर्म का सत्व है। द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों सत् हैं। स्वभावदृष्टि की मुख्यता में विकार को असत्यार्थ कहा है, वह पर्याय को देखते हुए सत्यार्थ है। पर्याय में विकार नहीं तो दुःख नहीं, दुःख नहीं तो संसार नहीं है, तो फिर उसे टालने का उपाय भी क्यों होगा ? अतः पर्याय में अशुद्धता है – ऐसा जानना, सर्वथा एकान्त नहीं मानना।

अतः स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का अवलम्बन करना चाहिए। पर्याय में अशुद्धता है, उसका यथार्थ ज्ञान करके उसका लक्ष्य छोड़ना और एकमात्र ध्रुवज्ञायक को सत्यार्थ स्वीकार करके उसका आश्रय करना; उससे रत्नत्रय धर्म प्रगट होता है। पर्याय में अशुद्धता है, वह अपनी ही भूल से है। रागरूप से परिणमन करे, वह अपना पर्यायधर्म है। धर्म अर्थात् मोक्षमार्गरूप धर्म की बात यहाँ नहीं है। अशुद्धता अपनी पर्याय में धारण कर रखी है। इससे वह पर्यायधर्म है – ऐसा कहा है। इसतरह स्याद्वाद की शरण लेकर अर्थात् जहाँ जैसी अपेक्षा है, उसका यथार्थ ज्ञान करके शुद्धनय का आलम्बन करना। स्वरूप की प्राप्ति के पश्चात शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। अर्थात् जब पर्याय में स्वरूप प्रगट हो गया, पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट हो गया तब शुद्धनय का आलम्बन पूरा हो गया। पश्चात् आलम्बन करने का प्रयोजन ही नहीं रहा। आलम्बन भी नहीं रहा। जो वस्तु का स्वरूप है, वह है – यह प्रमाणदृष्टि है। द्रव्य का सम्पूर्ण आश्रय लेकर केवलज्ञान हुआ तब आत्मा का प्रमाणज्ञान हो गया, पूर्ण वीतरागता प्रगट हो गई। ऐसा निश्चय करना चाहिए।

यहाँ ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है – ऐसा कहा है। गुणस्थान की परिपाटी में छठे गुणस्थान तक तो प्रमत्त कहलाते हैं और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाते हैं। परन्तु यह सर्व गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी है, शुद्धनय से आत्मा ज्ञायक ही है।

आत्मा जो त्रिकालीध्रुव ज्ञायकस्वरूप है, वह एकान्तसत्य है, वह किसी भी अपेक्षा से असत्य नहीं होता। सत्य-असत्य की अपेक्षा पर्याय में लागू पड़ती है। पर्याय स्वयं 'होनेपने' की अपेक्षा से सत्य है और त्रिकाली-ध्रुव की दृष्टि करने से गौण है, असत्य है। सर्व गुणस्थान अशुद्धनय के

विषय हैं – इससे गौण हैं, असत्यार्थ हैं, क्योंकि उनका आश्रय ले तो संसार बढ़ता है और त्रिकाली शुद्धद्रव्य का आश्रय ले तो दुःख मिट जाता है और मोक्ष होता है।

शुद्धनय से आत्मा ज्ञायक ही है। अर्थात् आत्मा जो एक चैतन्य-चैतन्य सामान्य एकरूप अभेद ध्रुवस्वरूप है, वह ज्ञायक ही है। उसमें १४ गुणस्थानों का भेद नहीं है। द्रव्य और पर्याय – ये दोनों वस्तु में होते हुए भी इस एकरूप ज्ञायकभाव में पर्याय नहीं है। मलिन विकारी पर्याय तो है ही नहीं, किन्तु संवर, निर्जरा और मोक्ष की शुद्ध पर्याय भी नहीं है – ऐसा एकरूप अभेद ज्ञायकभाव ही ध्येयरूप है। यहाँ अशुद्ध का लक्ष्य छुड़ाया – इसका अर्थ यह है कि जो निर्मल पर्याय है वह तो द्रव्य का ही आश्रय लेती है। अशुद्धता है वह पर्याय में है, द्रव्य व गुण में नहीं है। इससे अशुद्धता को गौण करके निर्मलानंद, ध्रुवज्ञायक का लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं और वह धर्म है।

भाई ! यह ज्ञायक तो वीतराग होने का कारखाना है। कोई कहता है कि सोनगढ़ में सिद्ध बनने की फैक्ट्री है। बात सच्ची है। यह तत्त्व समझ कर कोई द्रव्य का – ध्रुव का आश्रय ले तो जरूर सिद्धपद प्राप्त करे, यह ऐसी अफर बात है। शुद्ध पर्याय द्वारा त्रिकालीद्रव्य का आश्रय लिया जाना ही मुक्ति का मार्ग है। आगे गाथा ३२० की आचार्य जयसेन की टीका में आया है कि – "ध्याता पुरुष ऐसी भावना करता है कि जो सकल निरावरण अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अनिश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ।" पर्याय ऐसा जानती है, अनुभव करती है कि – 'त्रिकालीद्रव्य मैं हूँ'। निहाल भाई ने भी कहा है कि – 'पर्याय मेरा ध्यान करे तो करो, मैं किसका ध्यान करूँ ?' इसलिए अकेला जो ज्ञायक ध्रुवभगवान है वह एक ही दृष्टि का विषय – आश्रय करने लायक है; निर्मल पर्याय भी आश्रय करने योग्य नहीं – ऐसा निश्चय करना।

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत् –

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ।। ७ ।।

आस्तां तावद्बन्धप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यन्ते । यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरिणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं

अब, प्रश्न यह होता है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र को आत्मा का धर्म कहा गया है, किन्तु यह तो तीन भेद हुए; और इन भेदरूप भावों से आत्मा को अशुद्धता आती है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

चारित्र, दर्शन, ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानि के ।
चारित्र नहिं, दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान, ज्ञायक शुद्ध है ।। ७ ।।

गाथार्थ :– [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी के [**चरित्रं दर्शनं ज्ञानं**] चारित्र, दर्शन, ज्ञान – यह तीन भाव [**व्यवहारेण**] व्यवहार से [**उपदिश्यते**] कहे जाते हैं; निश्चय से [**ज्ञानं अपि न**] ज्ञान भी नहीं है, [**चरित्रं न**] चारित्र भी नहीं है, और [**दर्शनं न**] दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक [**ज्ञायकः शुद्धः**] शुद्ध ज्ञायक ही है ।

टीका :– इस ज्ञायक आत्मा को बन्धपर्याय के निमित्त से अशुद्धता तो दूर रहो, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं; क्योंकि अनन्तधर्मोंवाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं हैं – ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मी को बतलानेवाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का – यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तथापि नाम से भेद करके – व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है । किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो अनन्त पर्यायों को

ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः । परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किंचिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं, ज्ञायक एवैकः शुद्धः ।

एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है ऐसे कुछ – मिले हुए आस्वादवाले, अभेद, एकस्वभावी (तत्त्व) – का अनुभव करनेवाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, एक शुद्ध ज्ञायक ही है ।

भावार्थ :– इस शुद्ध आत्मा के कर्मबन्ध के निमित्त से अशुद्धता होती है, यह बात तो दूर ही रहो, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भी भेद नहीं है, क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मरूप एकधर्मी है । परन्तु व्यवहारी-जन धर्मों को ही समझते हैं, धर्मी को नहीं जानते; इसलिये वस्तु के किन्हीं साधारण धर्मों को उपदेश में लेकर अभेदरूप वस्तु में भी धर्मों के नामरूप भेद को उत्पन्न करके ऐसा उपदेश दिया जाता है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है । इस प्रकार अभेद में भेद किया जाता है, इसलिए वह व्यवहार है । यदि परमार्थ से विचार किया जाये तो एकद्रव्य अनन्त पर्यायों को अभेदरूप से पी कर बैठा है, इसलिये उसमें भेद नहीं है ।

यहाँ कोई कह सकता है कि पर्याय भी द्रव्य के ही भेद हैं, अवस्तु नहीं; तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ? उसका समाधान यह है :– यह ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश दिया है । अभेददृष्टि में भेद को गौण कहने से ही अभेद भली भाँति मालूम हो सकता है । इसलिये भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है । यहाँ यह अभिप्राय है कि भेददृष्टि में भी निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी के विकल्प होते रहते हैं; इसलिये जहाँ तक रागादिक दूर नहीं हो जाते वहाँ तक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है । वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है, वहाँ नय का आलम्बन ही नहीं रहता ।

गाथा ७ पर प्रवचन

ज्ञानी के चारित्र, दर्शन और ज्ञान – ये तीनों भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, और दर्शन भी नहीं; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है ।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र – ये तीन भाव भी ज्ञानी के नहीं हैं – ऐसा कह कर यह कहना चाहते हैं कि त्रिकाली ज्ञायक में यह दर्शन, यह ज्ञान, यह

चारित्र; ऐसे भेद नहीं हैं। ज्ञायक तो अखंड अभेदरूप है। ज्ञायक में तीन भेद डालें तो विकल्प उठते हैं, राग होता है। त्रिकाली ज्ञायकपरमात्मा में निर्मल पर्याय को भी इकट्ठा (अभेद) मानें तो व्यवहार हो जाता है, अशुद्धनय हो जाता हैं। अशुद्धनय कहो, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहो, पर्यायार्थिकनय कहो या व्यवहारनय कहो – ये सब एकार्थ वाचक हैं।

आचार्य भगवान ने जिस अपेक्षा जो बात कही हो, उसे ठीक से समझना चाहिए। उसमें कुछ भी फेरफार करे तो उल्टा हो जायगा। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान – ये तीन भाव व्यवहार से कहने में आते हैं, अर्थात् वे असत्यार्थ कहे जाते हैं। निश्चयदृष्टि में गुण-गुणी का भेद है ही नहीं। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। अहा हा........! आत्मवस्तु शुद्ध ज्ञायक ही है। अभेद में ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुण हैं – यह कहना व्यवहार है। गुण हैं अवश्य, किन्तु गुण-भेद नहीं है। अभेददृष्टि से देखने वाले को भेद दीखते ही नहीं हैं। प्रवचनसार में अलिंगग्रहण के अठारहवें बोल में कहा है कि – 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगन नहीं करता, ऐसा शुद्धद्रव्य है।' कहते हैं कि गुणी आत्मा गुण-भेद को नहीं छूता, आलिंगन नहीं करता। अहा हा.......! मात्र अभेद है, अभेद है। अभेद में – यह ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है – ऐसा भेद उपजने पर पर्याय में राग उत्पन्न होता है, सम्यग्दर्शन नहीं होता।

यहाँ यह छठवीं गाथा से भी आगे की बात चल रही है। छठवीं गाथा में तो व्यवहार के तीन प्रकारों का निषेध किया; अब यहाँ चौथा अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय का भी निषेध करते हैं।

आगे ग्यारहवीं गाथा में व्यवहारनय के चारों ही भेदों का निषेध करेंगे। सभी व्यवहार अभूतार्थ हैं – ऐसा कहकर जैनदर्शन का वास्तविक स्वरूप बताया है। असद्भूत व्यवहार को दो भेद – एक उपचरित असद्भूत और दूसरा अनुपचरित असद्भूत। तथा सद्भूतव्यवहार के भी दो भेद – एक उपचरित सद्भूतव्यवहार और दूसरा अनुपचरित सद्भूत। उसमें तीन भेदों का छठी गाथा में निषेध किया है। और अनुपचरित् सद्भूत व्यवहार का इस सातवीं गाथा में निषेध करते हैं।

ज्ञानआत्मा, दर्शनआत्मा, चारित्रआत्मा – ऐसा भेद ज्ञायक में नहीं है। यह भेद अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। ज्ञायतोक ज्ञायक–अभेदमात्र है। आठवीं गाथा में 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो हमेशा प्राप्त हो – वह आत्मा है', ऐसा भेद डालकर समझाया है। नवमी-दशवीं

गाथा में 'ज्ञान है, वह आत्मा है', ऐसा भेद डालकर कथन किया है, वह सद्भूतव्यवहारनय है। उनका यहाँ निषेध करके कहा है कि आत्मा तो एक शुद्धज्ञायक ही है, उसमें कोई भेद नहीं हैं।

गाथा ७ की टीका पर प्रवचन

इस ज्ञायक आत्मा के बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धपना तो दूर रहो, किन्तु इसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं; त्रिकाली वस्तु अभेद है, इसमें भेद कहाँ है? आचार्य जयसेन की टीका में अग्नि का दृष्टान्त दिया है। अग्नि में पाचक, प्रकाशक, और दाहक – ऐसे तीन गुण हैं। इसप्रकार आत्मा में दर्शनगुण पाचक है, ज्ञानगुण प्रकाशक है, चारित्र-गुण दाहक है – यह तीन भेद डालना व्यवहार है। निश्चय से इसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं। अभेद की उपस्थिति में भेद का अस्तित्व नहीं रहता है। अहा हा........! त्रिकाल एक ज्ञायकभाव की दृष्टि करने पर पर्यायभेद नहीं दीखता है। यह तो ठीक; किन्तु अन्दर गुण होते हुए भी गुणभेद नहीं दीखता।

इस मूलवस्तु के जाने बिना जन्म-मरण नहीं मिटता। अकेला अभेद ज्ञायक वह मूलवस्तु है। इसे पर्याय में अनादि से कर्मबन्ध है। उसे बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धपना आवे – यह तो दूर रहो; किन्तु इसमें अशुद्धता का भेद भी नहीं है। अशुद्धता तो है ही नहीं, किन्तु भगवान ज्ञायक एकरूप वस्तु में दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, शुद्ध है, वह भी विद्यमान नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय या निर्विकल्प ध्यान का विषय जो त्रिकालीध्रुव एकरूप ज्ञायक – उसमें सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध पर्यायों का भेद नहीं। अहा हा.......! अकेले, अभेद, ज्ञायक में अशुद्धता तो नहीं है; किन्तु दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय के भेदों का भी अवकाश नहीं है।

कहा है न कि ज्ञायक में ज्ञान, दर्शन, चारित्र विद्यमान नहीं हैं। अर्थात् अभेददृष्टि में यह भेद ज्ञात नहीं होते, वे भेद अभेददृष्टि के विषय नहीं हैं। भेद का लक्ष्य करने पर विकल्प होते हैं, राग होता है। भेददृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती है। सम्यग्दर्शन निर्विकल्प दशा है; वह कैसे प्रगट हो, इसकी यह अद्भुत बात है। आत्मा शुद्ध ज्ञायक है, उसके साथ ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शुद्ध पर्याय मिलायें तो निर्विकल्प समकित नहीं होता। अशुद्धपने की वात तो छोड़ दो, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धपर्याय के भेद भी अखण्ड ज्ञायक की दृष्टि से वाहर रह जाते हैं। अभेददृष्टि में पर्यायभेद नजर में आता ही नहीं।

अब कहते हैं कि अनंतधर्मोंवाले एक धर्मी के समझने में जो निष्णात नहीं हैं, ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को धर्म और धर्मी के स्वभाव से अभेद वस्तु में भेद करके व्यवहार से ऐसा उपदेश किया है कि ज्ञानी को दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं।

आत्मा एक ज्ञायक वस्तु है। इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनंत धर्म हैं। ऐसे अनंतधर्मोंवाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं है अर्थात् अनंतधर्म होते हुए अभेद-एकत्वरूप धर्मी का जिसको ज्ञान नहीं, अनुभव नहीं – ऐसे निकटवर्ती शिष्य को भेद करके समझाया जाता है।

यहाँ निकटवर्ती शिष्य लिया है। शिष्य दो प्रकार से निकट है – क्षेत्र से और भाव से। अर्थात् पात्र होकर मुमुक्षुपना प्रगट करके जिज्ञासा से तत्त्व समझने हेतु समीप में आया है; ऐसे शिष्य को भेद करके व्यवहार से समझाया जाता है। अनंतधर्मोंवाला धर्मी आत्मा एक है, स्वभाव से अभेदरूप है, तो भी शिष्य को भेद करके समझाना पड़ता है, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है। ज्ञानी को ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है – भेद उत्पन्न करके आचार्यों ने व्यवहार से ही ऐसा उपदेश दिया है।

जैसे सूखी लकड़ी में सुगंध है, वजन है, इत्यादि नाममात्र भेद करके समझाने में आता है। वास्तव में उसमें ऐसे भेद नहीं हैं; उसीप्रकार इस भगवान आत्मा में भेद नहीं हैं, वह तो अभेद एकवस्तु है। परन्तु जिसको उस अभेद, एक शुद्धद्रव्य का ज्ञान नहीं – ऐसे पात्र शिष्य को उपदेश करने वाले आचार्य कथनमात्र भेद करके वस्तुतत्त्व समझाते हैं कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है।

संसार में सब पढ़ते हैं। कोई मैट्रिक, बी. ए., एलएल. बी., एम. डी. वगैरह होते हैं न? ये तो सब पाप की विद्या है। ऐसी विद्या तो अनंतवार प्राप्त की है, किन्तु यह अध्यात्मज्ञान की विद्या एक वार भी प्राप्त नहीं की। अखंड, एकरूप, ज्ञायक, भगवानआत्मा को जानने व अनुभव करने की विद्या अनंतकाल में एक वार भी प्राप्त नहीं की। एक वार भी ज्ञायक में डुवकी लगाये तो भव-भव का दुःख मिट जाय।

अहा हा·······! आचार्यों ने भेद करके व्यवहार से शिष्य को उपदेश दिया कि आत्मा दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। परन्तु परमार्थ से देखने में आवे तो अनंत पर्यायों को एक द्रव्य पी वैठा है। अतः एकरूप, किंचित्

एकमेक मिला हुआ आस्वादरूप अभेद एकस्वभाव वस्तु का अनुभव करनेवाले ज्ञानी पुरुषों को दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं और चारित्र भी नहीं है। वह तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

वस्तुस्वरूप की दृष्टि से देखें तो अनंत पर्यायों को एक द्रव्य पी गया है, अतः एकरूप है। यहाँ पर्याय शब्द का अर्थ गुण करना, क्योंकि गुण को सहवर्ती पर्याय भी कहा जाता है। समयसार गाथा २९४ की टीका में आत्मा का स्वलक्षण बताया है। यहाँ गुणों को सहवर्ती पर्याय और बदलती दशा को क्रमवर्ती पर्याय कहा है। सभी गुण द्रव्य में एक साथ रहते हैं, इससे गुणों को सहवर्ती पर्याय कहते हैं। इन सब अनंत गुणों को एक द्रव्य पी बैठा है अर्थात् वे अनन्त गुण द्रव्य में अभेदरूप से हैं। कभी भेदरूप नहीं होते; इसलिए द्रव्य एकरूप है।

और वह अनंतगुणों का स्वाद एकमेक मिलकर अभेद है। ज्ञान का स्वाद, आनन्द का स्वाद, ऐसे सभी स्वाद मिलकर अभेद हैं। जैसे—गर्मी में ठंडाई बनाते हैं न? उसमें बादाम, चिरौंजी, पिस्ता इत्यादि भिन्न-भिन्न हैं, तो भी सब का स्वाद मिलकर अभेद एक है। अहा! अशुद्धता का लक्ष्य छोड़कर, भेद का भी लक्ष्य छोड़कर, अकेले ज्ञायक पर दृष्टि डालने पर अभेद एकमेक मिलकर आस्वाद वाला एकस्वभावी तत्त्व अनुभव में आता है।

जिसे आत्मकल्याण करना हो, सुखी होना हो, जन्म-मरण से छूटना हो, उसे क्या करना चाहिए? तो कहते हैं कि – जो एक ज्ञायकभाव अभेद वस्तु है उसे अनुभव में ले। ऐसे एकस्वभावी अभेद आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाले ज्ञानी पुरुष के दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं, और चारित्र भी नहीं है; वह तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। अहाहा…………! मात्र चैतन्य ज्ञायकभाव, अभेदस्वभाव, एकस्वभाव, सामान्यस्वभाव, नित्यस्वभाव, ध्रुवस्वभाव, सदृशएकरूपस्वभाव, ये ही एक सम्यग्दर्शन का विषय है। यह तो सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर द्वारा कहा गया अलौकिक वीतराग दर्शन है।

गाथा ७ के भावार्थ पर प्रवचन

इस शुद्ध आत्मा को कर्मबंधन के निमित्त से अशुद्धपना तो आता ही नहीं, उसमें तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भेद भी नहीं है, क्योंकि वस्तु अनंतधर्मरूप एक धर्मी है। वस्तु तो अभेद एक है।

व्यवहारीजन धर्मों को ही समझते हैं, धर्मी को नहीं जानते। ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा – इसप्रकार व्यवहारीजन धर्मों को जानते हैं, किन्तु

अखंड एकरूप धर्मी – जो ज्ञायक है, उसे नहीं जानते। इस कारण वस्तु के कोई असाधारण धर्म को लक्ष्य में लेकर अभेद वस्तु में भी धर्मों के नामरूप भेदों को उत्पन्न करके उपदेश दिया जाता है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है।

वस्तु में अस्तित्त्व, वस्तुत्त्व, द्रव्यत्त्व इत्यादि साधारण धर्म हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि आत्मा के असाधारण धर्म हैं। अभेद वस्तु में परमार्थ से भेद नहीं होते हुए भी इन असाधारण धर्मों द्वारा कथन मात्र भेद उत्पन्न करके आचार्य उपदेश देते हैं कि आत्मा के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। जो ज्ञानी नहीं हैं उन्हें नाममात्र भेद करके समझाते हैं। व्यवहार है इसलिए अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। आगे आठवीं गाथा में कहेंगे कि व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है, परन्तु अनुसरण करने योग्य नहीं है। अर्थात् व्यवहार है अवश्य, भेद से समझाने की शैली है अवश्य, किन्तु भेद अनुसरण करने लायक नहीं है। भेद के लक्ष्य से अशुद्धता आती है, निर्विकल्पता नहीं होती।

परमार्थ से विचार करें तो अनंत पर्यायों को एक द्रव्य अभेदरूप से पी बैठा है, इससे इसमें भेद नहीं है। द्रव्य सब भेदों को पी बैठा है। वस्तु अन्दर एकाकार अभेदरूप से स्थित है, इससे उसमें भेद नहीं है। जो भेद से समझाने में आता है वह कथनमात्र है। यह धर्म सूक्ष्म है भाई! सामान्यजन इसे समझते नहीं हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, यात्रा, भक्ति आदि वाह्यक्रिया करते हैं, किन्तु सत्य हाथ लगे बिना चौरासी के अवतार में भटकना ही है। जब अभेददृष्टि से आत्मा को देखें तब सत्य हाथ आता है।

यहाँ शिष्य को प्रश्न उत्पन्न होता है कि पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है, अवस्तु तो नहीं; तो फिर उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? प्रथम शिष्य का प्रश्न बराबर ठीक से समझना चाहिए। भेद जो पर्याय है वह द्रव्य का स्वयं का ही अंश है, अवस्तु अर्थात् परवस्तु तो नहीं है। जैसे शरीर पर है, कर्म पर है, वैसी पर्याय पर नहीं है। पर्याय तो स्वद्रव्य का अंश है; इससे स्ववस्तु है, अपनी है, अपने में है, निश्चय है – तो उसे व्यवहार कैसे कहा? भाषा तो सीधी-सादी है, किन्तु भाव बहुत गहरा है, गंभीर है। भाई, अहो! पं० जयचंदजी ने कैसा खुलासा किया है?

यह तो सत्य है कि पर्याय भी वस्तु का ही भेद है परन्तु यहाँ द्रव्य-दृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश है।

द्रव्य और पर्याय दोनों आत्मा की वस्तु हैं, पर्याय भी वस्तु है, अवस्तु नहीं है। परन्तु यहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन है, इससे अभेद को मुख्य करके उपदेश है। अभेददृष्टि में भेद को गौण कहने से ही अभेद अच्छी तरह मालूम पड़ सकता है। इससे भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। यहाँ भेद को गौण करके (अभाव करके नहीं), बल्कि भेद को अमुख्य करके या कि भेद का लक्ष्य छोड़कर उसे व्यवहार कहा है।

यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि भेददृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती। अनंतगुणों को धारण करने वाला धर्मी – ऐसा जो अभेद आत्मा – उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुता, स्वच्छता ऐसे अनन्त गुणों के भेद जो लक्ष्य में लेगा तो राग उत्पन्न होगा, सम्यग्दर्शन नहीं होगा। नवतत्त्वों के भेद करना तो दूर रहा, किन्तु गुण-गुणी का भेद करे तो भी निर्विकल्पदशा नहीं होती। वस्तु और उसकी शक्ति – ऐसे जो भेद वह भी दृष्टि का विषय नहीं है। दृष्टि का विषय तो अभेद, अखंड, एक ज्ञायक है। दृष्टि स्वयं की पर्याय है, किन्तु पर्याय दृष्टि का ध्येय नहीं है।

प्रश्नः–वर्त्तमान पर्याय को दृष्टि के विषय में मिलाना कि नहीं ?

उत्तर :– वर्त्तमान पर्याय भिन्न रहकर द्रव्य की प्रतीति करती है। वह इसमें कहाँ से मिले ? पर्याय भिन्न रहती है, वह द्रव्य में नहीं मिलती, एकमेक नहीं होती।

सरागी को विकल्प रहा करता है। भेद को जानना यह कोई राग का कारण नहीं है। केवली भगवान भेद-अभेद सबको जानते हैं। अरहंत परमात्मा द्रव्य, गुण, पर्याय, भेद-अभेद, लोक-अलोक सबको जानते हैं – इसलिए भेद को जानना राग का कारण नहीं है। परन्तु सरागी को भेद जानने से विकल्प उत्पन्न होता है, रागी जीव को भेद जानने से राग उत्पन्न होता है, इससे पुण्यबंध होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन की अबंध पर्याय नहीं होती। सरागी को भेद का लक्ष्य करने पर विकल्प होता है, किन्तु निर्विकल्पदशा नहीं होती। केवली भगवान तो भेदाभेदरूप समग्र लोकालोक को जानते हैं, परन्तु उन्हें राग नहीं होता, क्योंकि वे वीतराग हैं। परन्तु रागी प्राणियों को भेददृष्टि होने पर राग हुए बिना नहीं रहता।

आत्मवस्तु अरूपी चिदानंदघन है। उसमें यह भाव और यह भाववान – ऐसे दो भेद करके वस्तु को देखे तो रागी जीव को राग होगा। इसलिए जबतक राग आदि नहीं मिटें तबतक भेदों को गौण करके अभेद-

रूप निर्विकल्प अनुभव कराया जाता है। गुणी में गुण नहीं हैं – ऐसा नहीं है, किन्तु भेद को गौण करके अभेद का लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। रागी को भेद के लक्ष्य से राग होता है और इससे धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि है। यहाँ कहते हैं कि जबतक राग नहीं मिटता तबतक भेद को गौण करके या भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद एकरूप ज्ञायक का लक्ष्य करना–उससे अभेद-रूप निर्विकल्प अनुभव होता है, वह धर्म है।

जैसे गुणी में गुण हैं और गुणभेद को गौण किया; उसी प्रकार कोई ऐसा कहे कि गुणी में पर्याय है अर्थात् द्रव्य में पर्याय है और उसे गौण किया, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। पर्याय में पर्याय को गौण किया है। पर्याय तो द्रव्य से भिन्न है, पर्याय द्रव्य में नहीं है, पर्याय भिन्न रहकर द्रव्य को विषय करती है, द्रव्य में पर्याय नहीं है। वस्तु में गुण हैं, परन्तु उनका लक्ष्य छुड़ाने के लिए गुणभेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराने में आया है। उसी प्रकार वस्तु में पर्याय भी है ऐसा कोई कहे तो ठीक नहीं है। पर्याय तो पर्याय में है।

जिसका महाभाग्य हो उसके कान में यह बात पड़ती है। जबतक राग नहीं मिटता तबतक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव करने में आता है। वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है। वीतराग होने के बाद सर्वज्ञ भगवान भेद-अभेद सबको जानते हैं, वहाँ विकल्प नहीं है। सर्वज्ञ-वीतरागदशा होने के बाद भेद को गौण करके अभेद को जानना – ऐसा नहीं रहता। केवली भगवान तो भेद-अभेद दोनों को एक साथ जानते हैं, वहाँ नय का अवलम्बन नहीं है। जबतक राग रहता है, द्रव्य का पूर्ण आलम्बन नहीं होता, तबतक नय का आलम्बन है। परन्तु राग छूटने पर पूर्ण वीतराग होने के पश्चात् नय का अवलम्बन नहीं रहता।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग का अपूर्व मार्ग है। साधारण मनुष्य जो ऐसा मानकर बैठे हैं कि छहकाय की दया पालने से धर्म होता है, सो ऐसी बात नहीं है। पर की दया तो कोई पाल ही नहीं सकता। यहाँ तो सर्वज्ञदेव का फरमान है कि तेरी दया तू पाल अर्थात् जितना तू है, जैसा तू है, उतना और वैसा तू स्वयं को मान; तब तूने अपनी दया पाली – ऐसा कहा जा सकेगा। तथा जितना, जैसा तू है, वैसा स्वयं को न मानकर दूसरे प्रकार मानेगा तो तूने अपनी हिंसा ही की है।

निर्मल पर्याय बहिर्तत्त्व है, यह अन्तःतत्त्व नहीं है, उसे गौण करके द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेने से निर्विकल्प अनुभव हो, वह धर्म है। शुद्ध-

पर्याय द्रव्य का लक्ष्य करती है। अशुद्ध का लक्ष्य छोड़कर पर्याय त्रिकाली-द्रव्य की दृष्टि करती है।

अशुद्धता से छूटने को कहते हो तो निर्मलपर्याय से छूटने को क्यों कहते हो? निर्मलपर्याय तो द्रव्य के ऊपर लक्ष्य करती है। (निर्मल-पर्याय पर्याय के ऊपर लक्ष्य नहीं करती है।)

पर्याय अभेदद्रव्य की ओर ढली उस अपेक्षा से अभेद कहलाती है। वैसे पर्यायें तो द्रव्य से भिन्न रहती हैं। अभेद में पर्याय कहाँ है? पर्याय तो भिन्न रहकर अभेद की दृष्टि करती है। यह निश्चयदृष्टि है। द्रव्य में पर्याय मिला दें तो व्यवहार हो जाता है, भेददृष्टि हो जाती है। पर्याय तो पर्याय में रहती है। इसलिए अपेक्षा समझना चाहिए।

वीतराग होने के बाद नय का अवलम्बन नहीं रहता तो समयसार के आस्रव अधिकार में दो जगह ऐसा कथन आता है कि केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय है, वह किस अपेक्षा से है?

अरे भाई! यह कथन द्रव्य का आश्रय पूर्ण होने की अपेक्षा से है। शुद्धनय का विषय तो ध्रुव त्रिकालीद्रव्य एक ही है, किन्तु यहाँ केवलज्ञान होने पर द्रव्य का आश्रय लेना नहीं रहा – इस अपेक्षा से कहा है। निश्चय से तो केवलज्ञान भी शुद्धनय का विषय नहीं है, यह तो सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। केवलज्ञानी के तो नय ही कहाँ है? तो भी केवलज्ञान होने पर शुद्धनय पूर्ण होता है – ऐसा जो कहा जाता है वह शुद्धात्मा का अवलम्बन पूर्ण होने पर अब अवलम्बन लेना शेष नहीं रहता है – इस अपेक्षा से कहा जाता है। इस कारण यहाँ कहते हैं कि वीतराग होने के बाद नय का अवलम्बन नहीं रहता।

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत् –

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥८॥

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव । तथा किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञान-

---

अब यहाँ पुनः यह प्रश्न उठा है कि – यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश देना चाहिये; व्यवहार किसलिये कहा जाता है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

भाषा अनार्य बिना न, समझाना ज्यु शक्य अनार्य को ।
व्यवहार बिन परमार्थ का, उपदेश होय अशक्य यों ॥८॥

गाथार्थ :– **[यथा]** जैसे **[अनार्यः]** अनार्य (म्लेच्छ) जन को **[अनार्यभाषां विना तु]** अनार्यभाषा के बिना **[ग्राहयितुम्]** किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने के लिये **[न अपि शक्यः]** कोई समर्थ नहीं है **[तथा]** उसीप्रकार **[व्यवहारेण विना]** व्यवहार के बिना **[परमार्थोपदेशनम्]** परमार्थ का उपदेश देना **[अशक्यम्]** अशक्य है ।

टीका :– जैसे किसी म्लेच्छ से यदि कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' ऐसा शब्द कहे तो वह म्लेच्छ उस शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को न जानने से कुछ भी न समझकर उस ब्राह्मण की ओर मेंढ़े की भांति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, किन्तु जब ब्राह्मण की और म्लेच्छ की भाषा का दोनों का अर्थ जानने वाला कोई दूसरा पुरुष या वही ब्राह्मण म्लेच्छभाषा बोलकर उसे समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ यह है कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो', तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त

बहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदांतःसुन्दरबंधुरबोधतरंगस्तत्प्रतिपद्यत एव। एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः।

आनंदमय अश्रुओं से जिसके नेत्र भर जाते हैं ऐसा वह म्लेच्छ इस 'स्वस्ति' शब्द के अर्थ को समझ जाता है; इसीप्रकार व्यवहारीजन भी 'आत्मा' शब्द के कहनेपर 'आत्मा' शब्द के अर्थ का ज्ञान न होने से कुछ भी न समझकर मेंढ़े की भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखते रहते हैं, किन्तु जब व्यवहार–परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले सारथी की भाँति अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्द को कहने वाला स्वयं ही व्यवहारमार्ग में रहता हुआ आत्मा शब्द का यह अर्थ बतलाता है कि – 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है', तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्द से जिसके हृदय में सुन्दर बोधतरंगें (ज्ञानतरंगें) उछलने लगती हैं ऐसा वह व्यवहारीजन उस 'आत्मा' शब्द के अर्थ को अच्छी तरह समझ लेता है। इसप्रकार जगत तो म्लेच्छ के स्थान पर होने से, और व्यवहारनय भी म्लेच्छभाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का प्रतिपादित (कहनेवाला) है, इसलिये व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है; किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए – इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।

भावार्थ :– लोग शुद्धनय को नहीं जानते, क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है; किन्तु वे अशुद्धनय को ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है; इसलिये वे व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ को समझ सकते हैं। अतः व्यवहारनय को परमार्थ का कहनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ व्यवहार का आलम्बन कराते हैं, प्रत्युत व्यवहार का आलम्बन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाते हैं, – यह समझना चाहिये।

गाथा ८ पर प्रवचन

जैसे अनार्य (म्लेच्छ) जन को अनार्यभाषा विना वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने में कोई भी समर्थ नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार बिना परमार्थ

का उपदेश करने में कोई समर्थ नहीं है। अनार्य को समझाना हो तो उसी की भाषा में समझाना होता है। अनार्यभाषा बिना उसे वस्तु का स्वरूप नहीं समझा सकते। उसीतरह अज्ञानी को समझाना हो तो भेद किये बिना परमार्थ वस्तु को नहीं समझा सकते। आत्मा-आत्मा-आत्मा ऐसा कहें; किन्तु जबतक भेद करके व्यवहार से नहीं समझाएँ कि 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा है' तबतक अज्ञानी कुछ भी नहीं समझ सकता। इससे भेद करके परमार्थवस्तु को समझाने में व्यवहार आता अवश्य है, किन्तु वह आदरणीय नहीं है।

गाथा ८ की टीका पर प्रवचन

जैसे किसी म्लेच्छ से किसी ब्राह्मण ने 'स्वस्ति' शब्द कहा, वह म्लेच्छ जो 'स्वस्ति' शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को नहीं जानता, कुछ भी नहीं समझा। जैसे — शक्कर पदार्थ वाच्य है और शक्कर शब्द वाचक है; उसीप्रकार 'स्वस्ति' अर्थात् 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' ये वाच्य है और 'स्वस्ति' शब्द वाचक है, किन्तु उसे वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान न होने से कुछ भी नहीं समझकर — 'यह क्या कहता है?' ऐसा विचार करता हुआ वह म्लेच्छ ब्राह्मण के सामने मेंढ़े की भाँति आँखें फाड़-फाड़ कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है।

किन्तु जब ब्राह्मण और म्लेच्छ दोनों की भाषा का अर्थ जानने वाला अन्य कोई पुरुष अथवा वही ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा बोलकर उसे समझाता है कि — 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' ऐसा है — तब तुरन्त ही वह अत्यन्त आनंदित होकर आनन्द के अश्रुपूर्ण नेत्रों से गद्‌गद् हो जाता है। अहा! ऐसा इस ब्राह्मण का आशीर्वाद है। इस तरह 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझकर उसकी आँखें हर्ष के आँसुओं से भर जाती हैं।

यह दृष्टान्त हुआ, अब सिद्धान्त कहते हैं :—

इसीतरह व्यवहारीजन भी 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने पर आत्मा शब्द के ज्ञान से रहित होने से कुछ भी नहीं समझता हुआ मेंढ़े की तरह आँखें फाड़-फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। यहाँ म्लेच्छ के स्थान पर व्यवहारीजन लिया है। व्यवहारीजन 'आत्मा' यह शब्द सुनकर कुछ भी समझता नहीं है, क्योंकि 'आत्मा' क्या पदार्थ है? इसका इसको ज्ञान नहीं है। फिर भी 'यह क्या कहता है, क्या बकता है? — ऐसे अनादर से नहीं, बल्कि 'क्या कहते हैं?' ऐसी समझने की जिज्ञासा से मेंढ़े की

तरह आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। 'आत्मा का सत्य स्वरूप क्या है ? भगवान का कहा हुआ तत्त्व क्या है ?' – यह सुनने की योग्यता से कहने वाले के समक्ष आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता है।

किन्तु जब व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले सारथी के समान अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्द को कहने वाला स्वयं ही व्यवहारमार्ग में रहकर 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो सदा प्राप्त हुआ हो, वह आत्मा है' – इसप्रकार आत्मा शब्द का अर्थ समझाता है, तब तुरंत ही उत्पन्न हुए अत्यन्त ज्ञानानंद से जिसके हृदय में बोधतरंगें (ज्ञान की लहरें) उछलने लगती हैं, ऐसा वह व्यवहारीजन 'आत्मा' शब्द का अर्थ भलीप्रकार समझ जाता है।

देखो ! यहाँ सम्यग्ज्ञानरूपी रथ को चलाने वाले सारथी के समान आचार्य व्यवहार-परमार्थमार्ग में स्थित हैं, – ऐसा कहा है। निश्चय आत्मवस्तु स्वरूप से जैसी है – वह परमार्थ है तथा उसे भेद करके समझाना व्यवहार है। यहाँ अन्य आचार्य या 'आत्मा' शब्द कहने वाले आचार्य स्वयं व्यवहारमार्ग में रहकर अर्थात् विकल्प से भेद करके शिष्य को समझाते हैं। वस्तु तो अभेद एकरूप ही है, किन्तु शिष्य को समझाना हो तो भेद करके समझाना पड़ता है, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है। इससे अखण्ड, अभेद आत्मा में नाममात्र भेद उत्पन्न करके शिष्य को समझाते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को हमेशा प्राप्त हो, वह आत्मा है। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ऐसे आत्मा के तीन असाधारण मुख्यधर्मों का लक्ष्य करके, भेद करके समझाया है। शरीर या पुण्य-पाप के भाव को प्राप्त हो, ऐसा आत्मा नहीं लिया है; किन्तु जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा – ऐसा व्यवहार से भेद करके समझाया है।

अहाहा........! मुनिराज आचार्य दिगम्बर संत हैं। उन्होंने शिष्य से कहा – 'आत्मा', किन्तु शिष्य कुछ नहीं समझा। अतः यद्यपि आत्मवस्तु है तो अन्दर में अनन्तगुणों सहित अभेद; तथापि इसके मुख्यधर्मों को लक्ष्य में लेकर 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित है, वह आत्मा' – ऐसा भेद करके शिष्य को समझाते हैं। राग वाले आत्मा या शरीर वाले आत्मा की बात यहाँ नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भेद करना पड़े, यह भी कोई उपाय तो नहीं है, परन्तु करें क्या ? भेद आदरणीय नहीं है, आदरणीय तो एक मात्र परमार्थवस्तु अभेदआत्मा ही है। 'अतति गच्छति इति

आत्मा' अर्थात् 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा' द्रव्य-संग्रह में भी ऐसा ही भेद करके आचार्यदेव ने परमार्थ समझाया है।

इसप्रकार गुरु द्वारा समझाये जाने पर शिष्य की दृष्टि तुरन्त ही परमार्थ आत्मा पर जाती है और अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है, अंतर में ज्ञानतरंगें उछलने लगती हैं।

देखो ! धर्म नगद है। ज्योंही सम्यग्दर्शन हो, तुरन्त ही अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। वह शिष्य 'आत्मा' शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है।

अहाहा....! विदेह क्षेत्र में भगवान श्री सीमन्धर विराजते हैं, उनकी वाणी आज भी खिरती है। वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य सदेह गये थे। वहाँ से भगवान का दिव्य संदेश पात्र जीवों के लिये लाए।

यहाँ कहते हैं कि – गुण का भेद वस्तु में नहीं है। तो भी परमार्थ को समझाने के लिए भेद करके कहा है – 'देखे वह आत्मा, जाने वह आत्मा, अन्तर में स्थिर हो वह आत्मा' – ऐसा सुनते ही पात्र जीव की दृष्टि एकरूप अभेद, चैतन्यवस्तु पर जाती है और सम्यग्दर्शन हो जाता है; साथ ही अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। जहाँ अनादि से पुण्य-पाप के विकारी भावों का आकुलतारूप स्वाद था, वहाँ अब सम्यग्दर्शन होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। कर्मचेतना का स्वाद मिटकर ज्ञानचेतना का निराकुल स्वाद आता है।

अहाहा.......! सम्यग्दर्शन कोई अपूर्व वस्तु है। एक सेकिन्ड को ऐसा सम्यग्दर्शन हो तो दृष्टिअपेक्षा से मोक्ष हो गया। आत्मा स्वयं मोक्षस्वरूप, परमात्मस्वरूप विराजता है; इसकी दृष्टि और अनुभव होते ही पर्याय में परमात्मपद प्रगट होता है। देव-गुरु-शास्त्र को माने, नवतत्त्वों के भेद जाने – ये कोई सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन तो आत्मा की प्रतीतिरूप है, सूक्ष्मपर्याय है। आनन्द के स्वाद से ज्ञानी को उस सम्यग्दर्शन का ख्याल आता है, भान होता है। पहले सम्यग्दर्शन होता है, पश्चात् स्वरूप में विशेष एकाग्रता होकर जो स्थिरता होती है, वह सम्यक्चारित्र है। बिना सम्यग्दर्शन के व्रत, तप, चारित्र – ये सब एक के बिना बिन्दी जैसे हैं।

सम्यग्दर्शन होने पर जो अनुभव होता है, उसकी मुहर (छाप) क्या ? तो कहते हैं कि आनन्द का स्वाद आता है वह सम्यग्दर्शन की मुहर है। पर से लक्ष्य हटाकर; दया, दान का विकल्परूप जो रागभाव है, वहाँ से भी लक्ष्य हटाकर तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र के गुणभेद का भी लक्ष्य

छोड़कर जब अभेदस्वभाव में लक्ष्य जाय तब अनुभव प्रगट होता है– उसका नाम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर सुन्दर आनन्द-सहित ज्ञानतरंगें उछलती हैं, तब 'आत्मा' इस शब्द का यथार्थ अर्थ सुन्दर रीति से समझ में आता है।

भाई! यह इन्द्रियों के विषयों का सुख तो जहर का स्वाद है। हम करोड़पति-अरबपति हैं, हमारा पैसा है; जो ऐसी ममता करते हैं वे जहर का प्याला पीते हैं। स्त्री के भोग में – हाड-चाम के भोग में सुख मानते हैं, किन्तु यह तो राग का स्वाद है, जहर का स्वाद है। यहाँ तो 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा' ऐसा भेद करके परमार्थ वस्तु समझाते हुए जहाँ अभेद त्रिकालीज्ञायक का स्वीकार और सत्कार हुआ कि तुरंत ही अंतरंग में आनन्द की स्वादसहित सुन्दर ज्ञानतरंगें उछलती हैं; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है। इसका नाम धर्म है। अहो! अमृतचन्द्राचार्य देव ने अद्‌भुत टीका की है। ऐसी टीका भरतक्षेत्र में दूसरी नहीं है।

अब कहते हैं – जगत म्लेच्छ के स्थान पर और व्यवहारनय को म्लेच्छभाषा के स्थान पर रखकर समझाया है। अतः व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक होने से स्थापन करने योग्य है। यद्यपि म्लेच्छभाषा द्वारा म्लेच्छ को समझाना तो योग्य है, परन्तु म्लेच्छ हो जाना योग्य नहीं; उसी तरह यद्यपि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक होने से स्थापन करने योग्य तो है, तथापि व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है, अनुसरण करने योग्य तो एकमात्र त्रिकालीध्रुवज्ञायक ही है, परमार्थ ही है।

गाथा ८ के भावार्थ पर प्रवचन

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है? इसकी यह बात चलती है। लोक शुद्धनय को जानता नहीं है। अरे! अन्य सम्प्रदाय में तो 'शुद्धनय' ऐसा शब्द भी नहीं है। शुद्धनय किसे कहते हैं? शुद्धनय अर्थात् त्रिकालीज्ञायक को जाननेवाला सम्यग्ज्ञान का अंश। अभेद, एकरूप, त्रिकाली, ध्रुव चैतन्यवस्तु, सत्‌पदार्थ, शाश्वत पदार्थ जो आत्मा – वह शुद्धनय का विषय है। अर्थात् यह आत्मा अनंत-अनंत बेहद शक्तियों का पिण्ड, अभेद, एकरूप वस्तु है। जो ज्ञान का अंश उसका लक्ष्य करे, ज्ञान करे उसे शुद्धनय कहते हैं। लोग ऐसे शुद्धनय को नहीं जानते, क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद, एकरूप, आत्मवस्तु का उन्हें प्रत्यक्षरूप अनुभव नहीं है।

जैसे लाख शून्य रखो परन्तु ऊपर एक का अंक न हो तो कितनी संख्या बने? अर्थात् कोई भी संख्या नहीं बनती। एक के बिना लाख

बिन्दियों (शून्यों) की कोई कीमत नहीं है। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन बिना व्रत करे, तप करे, सामायिक करे, परन्तु ये सब थोथे हैं, निस्सार हैं। इन क्रियाओं में राग मन्द हो तो पुण्य बंधता है, पर धर्म नहीं होता।

ये तो भगवान के कहे हुए मंत्र हैं, जो अज्ञान में सोते हुए जीवों को जगाते हैं। जीवों ने व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान इत्यादि अनन्तबार किये हैं। क्योंकि ये स्वर्गों में भी अनन्तबार गये हैं और स्वर्गों में कोई पाप करके नहीं जाता। यद्यपि इसने मनुष्य के भव सबसे कम धारण किये हैं, फिर भी अनंत हैं, उनसे असंख्यात गुणे (अनंत) नरकभव किये। एक मनुष्यभव और असंख्यात नरक के भव, यह अनुपात रहा है। पर भाई! तू भूल गया है। किन्तु यहाँ तो भगवान के ज्ञान में आई तथा शास्त्र में कही गई बात कहते हैं। नरकों के भव से असंख्यातगुणे (अनन्त) देवों के भव किये हैं। यहाँ कहने का आशय यह है कि अनंतकाल में जो अनंतदेवों के भव धारण किये वे कोई पाप से थोड़े ही किये हैं? व्रत, तप आदि पुण्य अनंतबार किये, किन्तु शुद्धनय और उसके विषयभूत त्रिकाली एकरूप ध्रुव आत्मा को नहीं जाना, इस कारण सम्यग्दर्शन आदि धर्म नहीं हुआ। इससे इसका भवभ्रमण का दुःख बना रहा। भवभ्रमण में देवों के भवों की अपेक्षा अनंतगुणे निगोदसहित तिर्यंच के भव हुए हैं। एक सम्यग्दर्शन के बिना जीव को संसार में अनंतभव परिभ्रमण की अकथ्य वेदना भोगनी पड़ी है।

अहो! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा ने एकसमय में जो आत्मा देखा और कहा, वह कैसा है और उसका अनुभव कैसे हो? इसकी बात चलती है। अज्ञानीजन समझे बिना जो आत्मा-आत्मा कहते हैं उनकी यहाँ बात नहीं है। वेदान्त वाले जो आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं, उनकी भी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो अभेद, एकरूप, सत्‌वस्तु, अनंतगुणों का पिण्ड, नित्य, ध्रुव, सामान्य आत्मा है – उसकी बात है। उसे लोग जानते नहीं हैं। इस अभेद आत्मा में भेद नहीं होने पर भी यह जाननेवाला आत्मा, देखने वाला आत्मा – ऐसे भेद करके आत्मा का परमार्थस्वरूप समझाने वाला अशुद्धनय है, व्यवहार है। अनादि से लोग अशुद्धनय को ही जानते हैं, भेदरूप वस्तु को ही जानते हैं। इससे अभेद एकरूप वस्तु में भेद करके समझाया है।

शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है, जबकि अशुद्धनय का विषय भेदरूप अनेक प्रकार है। अभेद एकरूप वस्तु में व्यवहार द्वारा भेद करके समझाने से वे परमार्थ को समझ सकते हैं। इसकारण से व्यवहारनय

को परमार्थ का कहनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। व्यवहार द्वारा भेद का कथन निश्चयवस्तु को जानने के लिए है। 'जाने-देखे वह आत्मा' ऐसे भेद द्वारा अभेदस्वरूप परमार्थवस्तु का अनुभव कराने का ही प्रयोजन है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार का आलम्बन कराते हैं। यहाँ भेद करके अभेद समझाते हैं, परन्तु भेद का आलम्बन नहीं लेना। 'यह ज्ञान ही आत्मा है'–ऐसा भेद करके अभेद की दृष्टि कराई है। वहाँ गुण-गुणी के भेदरूप व्यवहार का आश्रय नहीं करना।

आत्मा में परवस्तु नहीं, दया, दान का राग नहीं; किन्तु ज्ञान, दर्शन, चारित्र ऐसे अनन्तगुण उसमें अभेदपने हैं। वहाँ परमार्थवस्तु समझने के लिए भेद करके उपदेश है। अभेद में भेद कहना व्यवहारनय है। इसलिए वह आश्रय करने योग्य नहीं है, उसका आलम्बन नहीं लेना। भेद छोड़कर द्रव्यस्वभाव, एक त्रिकालीध्रुव का आश्रय करना सम्यग्दर्शन है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का भेद जानकर अभेद की दृष्टि करना धर्म है। भेद अभेद को बताता है, किन्तु भेद दृष्टि का विषय नहीं है। इससे यहाँ व्यवहार का आलम्बन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाना है–ऐसा समझना।

अभेद को बताने वाला व्यवहार कहा, किन्तु व्यवहार आश्रय लेने के लिए नहीं है। यहाँ तो व्यवहार का आलम्बन छुड़ाकर परमार्थ का आश्रय कराया है। त्रिकाली ध्रुववस्तु का आलम्बन कराने के लिए भेद से उपदेश है। उससे भेद का लक्ष्य छोड़कर अखंड, आनंदकंद, अभेद, चैतन्य सामान्यवस्तु जो आत्मा है, उस एक का ही आश्रय करना धर्म है–ऐसा जानकर अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव करना, किन्तु भेद में नहीं अटकना।

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत् –

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ।। ९ ।।

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ।।१०।।जुम्मं।।

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ।। ९ ।।

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ।।१०।।युग्मम्।।

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः । तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतपस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततो

अब, प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

इस आत्म को श्रुत से नियत, जो शुद्ध केवल जानते ।
ऋषिगण प्रकाशक लोक के, श्रुतकेवली उसको कहें ।। ९ ।।

श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहे ।
सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बने ।।१०।।

गाथार्थ :– [यः] जो जीव [हि] निश्चय से (वास्तव में) [श्रुतेन तु] श्रुतज्ञान के द्वारा [इमं] इस अनुभवगोचर [केवलं शुद्धम्] केवल एक शुद्ध [आत्मानं] आत्मा को [अभिगच्छति] सम्मुख होकर जानता है, [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोक को प्रगट जाननेवाले [ऋषयः] ऋषीश्वर [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [भणंति] कहते हैं; [यः] जो जीव [सर्वं] सर्व [श्रुतज्ञानं] श्रुतज्ञान को [जानाति] जानता है [तं] उसे [जिनाः] जिनदेव [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [आहुः] कहते हैं, [यस्मात्]

गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायाति । अतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति य आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम् । अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ।

क्योंकि [**ज्ञानं सर्वं**] ज्ञान सब [**आत्मा**] आत्मा ही है [**तस्मात्**] इसलिये [**श्रुतकेवली**] (वह जीव) श्रुतकेवली है ।

टीका :– प्रथम 'जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं' – वह तो परमार्थ है; और 'जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं' – यह व्यवहार है । यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं – उपरोक्त सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? यदि अनात्मा का पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त जड़रूप अनात्मा आकाशादिक पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य बनता ही नहीं (क्योंकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है) । इसलिये अन्य पक्षका अभाव होने से 'ज्ञान आत्मा ही है' यह पक्ष सिद्ध हुआ । इसलिये श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है । ऐसा होने से 'जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है । इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कहनेवाला जो व्यवहार है उससे भी परमार्थमात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ नहीं कहा जाता । और 'जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं,' – इसप्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से, 'जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं' – ऐसा व्यवहार, परमार्थ के प्रतिपादकत्व से अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है ।

भावार्थ :– जो शास्त्रज्ञान से अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय कथन) है । और जो सर्व शास्त्रज्ञान को जानता है, उसने भी ज्ञान को जानने से आत्मा को ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानी के भेद को कहने वाला जो व्यवहार उसने भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा । और परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है, इसलिये व्यवहारनय ही आत्मा को प्रगटरूप से कहता है, ऐसा जानना चाहिए ।

गाथा ९ व १० पर प्रवचन

जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सन्मुख होकर जानते हैं, उन्हें लोक को प्रगट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं। देखो ! क्या कहा ? कि जो अन्तर के भावश्रुतज्ञान द्वारा अपने आत्मा को प्रत्यक्ष वेदन करे, उसे लोक के ज्ञाता ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी में जो आया, वह सन्तों ने अनुभव करके कहा है। भाई ! एक बार तू सुन। भावश्रुतज्ञान अर्थात् जिसमें राग की या निमित्त की अपेक्षा नहीं है – ऐसे जो स्व को वेदन करने वाले अरूपी निर्विकल्पज्ञान द्वारा अखण्ड, एकरूप, केवल शुद्धात्मा का अनुभव करे, जाने उसे भावश्रुतकेवली कहा जाता है।

अहाहा……! यह आत्मा अखण्ड, एकरूप, शुद्ध, सामान्य ध्रुव, अनुभवगोचर वस्तु है। इसके सन्मुख होकर उसे स्व-संवेदनज्ञान द्वारा जो प्रत्यक्ष जाने, अनुभवे, वह सम्यग्दृष्टि जीव है। उसे केवली भगवान और ऋषीश्वर भावश्रुतकेवली कहते हैं। यह मूल मुद्दे की बात है। अरे ! जिनेश्वरदेव का अलौकिक मार्ग लोगों ने लौकिक जैसा मान रखा है, परन्तु भगवान की वाणी अनुसार बारह अंग की रचना हुई। उसके अनुसार दिगम्बर संतों ने शास्त्र रचे हैं, उनमें ज्ञानप्रवाद नाम का एक शास्त्र है, उसका यह एक भाग है। उसमें कहा है कि अनंतज्ञान, अनंत आनन्द इत्यादि अनंत गुणों से भरे हुये अभेद ज्ञायक तत्त्व के सम्मुख अपनी ज्ञान पर्याय को करके जो अनुभवगम्य निजस्वरूप को जानते हैं, अनुभव करते हैं, वे भावश्रुतकेवली हैं।

भाई ! यह तो अध्यात्म की बात है, धर्मकथा है। इसे पुनः-पुनः कहने से पुनरुक्ति दोष नहीं आता, क्योंकि बारम्बार कहने से वास्तविक तत्त्वज्ञान आता है।

अब दूसरे प्रकार से कहते हैं कि – जो जीव सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं। जो जीव ज्ञान की पर्याय में सब ज्ञेयों को जानते हैं – छहों द्रव्य, उनके गुण, पर्याय – इसप्रकार सब ज्ञेयों को जानते हैं, उन्हें व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं। आत्मा को जानें, यह बात यहाँ नहीं ली है। यह तो पहले निश्चयश्रुतकेवली में आ गई। यहाँ तो एकसमय की ज्ञान की पर्याय, जिसमें सर्वश्रुतज्ञान यानी बारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, उसे जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं। इन्हें श्रुत-

केवली इस कारण कहते हैं कि 'ज्ञान सब आत्मा' ही है। यह ज्ञान ज्ञेयों का नहीं है, बल्कि यह ज्ञान आत्मा का है।

भावश्रुत द्वारा अन्तर-आत्मा को जानना परमार्थश्रुतकेवली है। परन्तु ज्ञान की पर्याय अन्य सब जानती है, सर्वश्रुत को जानती है, बारह अंग जानती है, छह द्रव्य और उनके गुण पर्यायों को भी जानती है – इस प्रकार समस्त पर को जानती है; इस कारण उसे व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं। ज्ञान की पर्याय में सर्वज्ञेय जाने जाते हैं, यह ज्ञान की पर्याय ज्ञेय की नहीं है, परन्तु आत्मा की ही है। यह जानने वाली ज्ञानपर्याय आत्मा है – ऐसा भेद किया वह व्यवहार है।

ज्ञान की पर्याय में परज्ञेय भले ही ज्ञात हों, परन्तु इस ज्ञानपर्याय का संबंध किसके साथ है, यह ज्ञेय का ज्ञान है कि ज्ञाता का ? तो कहते हैं कि सर्वश्रुत को जानने वाला ज्ञान ज्ञाता का है, आत्मा का है। उस ज्ञान की पर्याय का आत्मा के साथ तादात्म्य है। वह ज्ञान आत्मा को बताता है, इसलिए वह भेदरूप व्यवहार है। व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है। अतः जो सर्वश्रुतज्ञान को जाने वह व्यवहारश्रुतकेवली है।

गाथा ९ व १० की टीका पर प्रवचन

प्रथम जो श्रुत से केवल शुद्धात्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं, यह तो परमार्थ है। टीका में कहा है कि – प्रथम श्रुत से अर्थात् भावश्रुत से केवल अखण्ड एक शुद्धात्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं – यह परमार्थ है, निश्चय है, यथार्थ है। भावश्रुत रागरहित, निमित्तरहित और मन के संबंध से भी रहित होता है।

जो सर्वश्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह व्यवहार है। सर्वश्रुतज्ञान को जाने अर्थात् परपदार्थों का सर्वज्ञान अपनी पर्याय में जाने वह व्यवहारश्रुतकेवली है। भावश्रुत से जो प्रत्यक्ष एक शुद्धात्मा को जानता है वह श्रुतकेवली – यह निश्चय और जो सर्वश्रुतज्ञान को जाने वह श्रुत-केवली – यह व्यवहार। पर को जानने वाली ज्ञानपर्याय ज्ञेय की है कि आत्मा की ? यह ज्ञानपर्याय ज्ञेय की नहीं है, किन्तु यह ज्ञानपर्याय आत्मा के साथ संबंध रखती है। इसलिए सर्व को जानने वाली यह ज्ञानपर्याय आत्मा ही है। इस तरह 'जो ज्ञान वही आत्मा' ऐसा भेद पड़ने से व्यवहार है।

यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं – ऊपर कहा गया सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? जो अनात्मा का पक्ष लोगे तो वह ठीक नहीं,

क्योंकि समस्त जड़रूप अनात्मा आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य नहीं बनता।

आकाशादि पाँच द्रव्य जड़ हैं, उनके साथ ज्ञान की पर्याय का तादात्म्य संबंध नहीं है। ज्ञान की पर्याय का आत्मा के साथ तादात्म्य हैं, ज्ञान की पर्याय देव-गुरु-शास्त्र को जानती है, अरहंत की वाणी को जानती है; किन्तु ज्ञान की पर्याय देव-गुरु-शास्त्र की या अरहंत की वाणी की नहीं है। यह ज्ञान की पर्याय तो आत्मा से तादात्म्य संबंध वाली है, इससे आत्मा की है। ज्ञान की पर्याय सर्व पर को जानती है, तो भी वह सर्व पर की नहीं है, क्योंकि पर के साथ उसका तादात्म्य संबंध नहीं है। सर्वज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान ज्ञेय का नहीं है, ज्ञान आत्मा का ही है।

दिगम्बर मुनिवर अन्तर में निर्लेप थे, वे तो मुख्यरूप से अतीन्द्रिय आनंद के वेदन में लीन रहते थे। उनकी यह टीका और उपदेश है। कोई कहे – ऐसा उपदेश ! दया पालो, जीवों को बचाओ, अभयदान दो, ऐसा कहो न ? बापू ! दान कौन दे, किसको दे, तुझे खबर नहीं है। आत्मा में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण – ऐसे षट्कारक गुण हैं। इनमें एक सम्प्रदान नाम का गुण है। इस सम्प्रदान गुण का कार्य क्या ? स्वयं की निर्मल वीतरागी पर्याय स्वयं को दे और स्वयं ही ले – इसे निश्चयदान कहा जाता है। पूर्णानन्द का नाथ अखण्ड, अभेद, एक आत्मा जब स्वसंवेदनज्ञान से स्वयं को जानता है और उसमें एकाग्र होने पर उसे जो आनंद प्रगट होता है, उस आनंद का दान देने वाला स्वयं और लेने वाला भी स्वयं है – इसे ही निश्चयदान कहते हैं और यही कर्म है। बाकी दया पालने का भाव या अभयदान का विकल्प ये सब शुभराग हैं, धर्म नहीं। और मैं दया पाल सकता हूँ, दान दे सकता हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है।

यहाँ दो बातें की हैं। एक तो भावश्रुत अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान से जो प्रत्यक्ष – सीधा आत्मा को जाने, वह निश्चयश्रुतकेवली है। दूसरी बात यह है कि जो सर्वश्रुतज्ञान को जाने वह व्यवहारश्रुतकेवली है।

दर्पण के सामने कोयला, नारियल वगैरह जो भी वस्तु हो, वह बराबर दीखती है। जो दीखता है वह कोयला वगैरह नहीं है, परन्तु वह तो दर्पण की अवस्था है। इस तरह आत्मा के ज्ञान की अवस्था में परज्ञेय पदार्थ ज्ञात होते हैं, परन्तु जो ज्ञात होते हैं, वे परज्ञेय नहीं हैं; वह तो आत्मा के ज्ञान की अवस्था है। इससे जो ज्ञेयों को जानने वाली ज्ञान की

पर्याय है, वह ज्ञेयों की नहीं है, परन्तु आत्मा की है। वह पर्याय ऐसा ज्ञान कराती है कि – यह जो ज्ञान है वह आत्मा है, यह जो जानने वाला है वह आत्मा है, – ऐसा जो भेद पड़ा वह व्यवहार है और वह परमार्थ का प्रतिपादक है अर्थात् वह व्यवहार निश्चय को बताता है।

छोटी उमर (अवस्था) में पढ़ने में ऐसा आया था कि – 'केवली आगल रहि गयो कोरो' अर्थात् यह आत्मा केवली भगवान के पास समवशरण में अनंतबार गया, किन्तु ऐसा का ऐसा कोरा ही रह गया। अपना वास्तविक स्वरूप क्या है ? वह अनंतकाल में भी नहीं जान पाया। उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई ! यह मार्ग जुदा ही है। जिसे यह मार्ग दृष्टि में बैठ जाय, उसका कल्याण हो जाता है, ऐसी यह बात है। यहाँ कहते हैं कि जिस ज्ञान की पर्याय में बारह अंग जाने जाते हैं, द्रव्य-गुण-पर्याय जाने जाते हैं, सभी पर जाना जाता है, वह ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं है, किन्तु आत्मरूप है। यह ज्ञान अनात्मरूप ज्ञेयों का नहीं, बल्कि आत्मा का ही है। इससे अन्य पक्ष का अभाव होने से 'ज्ञान आत्मा ही है' यह बात सिद्ध होती है। 'ज्ञान की पर्याय वह आत्मा' यह व्यवहार है और यह व्यवहार परमार्थ आत्मा को बताता है।

दया, दान, कषायमंदता के परिणाम को ज्ञान जानता है। कषायमंदता है, इसलिए ज्ञान उसे जानता है – ऐसा नहीं है। कषायमंदता का ज्ञान हुआ, वहाँ ज्ञान की पर्याय का इसके साथ संबंध नहीं है। कषाय तो अचेतन है और ज्ञान चेतन है, इसलिए ज्ञान की पर्याय का कषाय की मंदता के साथ संबंध नहीं है। कषायमंदता कर्त्ता और ज्ञान उसका कर्म – ऐसा नहीं है। ज्ञान की पर्याय आत्मा का कर्म है और वह आत्मा को बताती है। उस कारण 'ज्ञान वह आत्मा' ऐसा जो व्यवहार से कहने में आता है, वह परमार्थ को ही बताता है।

इसलिए श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है, – ऐसा होने से 'जो आत्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं' – ऐसा ही आता है; और वह परमार्थ ही है। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कहने वाले व्यवहार से भी परमार्थ ही कहा जाता है। 'ज्ञान आत्मा है', ऐसे भेद से कहने वाला व्यवहार, मात्र परमार्थ आत्मा को ही बताता है, उससे भिन्न अधिक कुछ नहीं बताता।

'जो श्रुत से केवल शुद्धात्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं' – ऐसे परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य है। अनंतशक्तियों का पिण्ड

ज्ञानानंदस्वरूप भगवान आत्मा अखण्ड एकरूप परमार्थवस्तु है। वह अनुभवगम्य है। उसका कथन किस प्रकार करें ? उसे भावश्रुतज्ञान से पकड़कर अनुभव करते हैं, यह भी परमार्थ है, सत्य है। यह तो निश्चय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है, परन्तु इस परमार्थ-अनुभव का कथन कैसे करें ? ऐसे परमार्थ का कथन करना अशक्य है, इससे 'जो सर्वश्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है' – ऐसा भेदरूप व्यवहार करने में आता है और यह व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है। इसकारण स्वयं को दृढ़पने स्थापित करता है।

जो ज्ञान की पर्याय सर्वश्रुत को जानती है; वह आत्मा है। वह ज्ञान त्रिकाली ज्ञायक को बतलाता है। परमार्थ का कथन करना अशक्य है, इससे द्रव्यश्रुत के ज्ञान द्वारा आत्मा को जानने वाला श्रुतकेवली है, ऐसा भेद करके समझाया जाता है, वह व्यवहार है। इसतरह परमार्थ को समझाने वाला व्यवहार है तो अवश्य, परन्तु व्यवहार अनुसरण करने लायक नहीं है। त्रिकाली ज्ञायक एक का ही अनुसरण करना परमार्थ है।

दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का परिणाम शुभराग है; धर्म नहीं, धर्म का कारण भी नहीं। दया पाले वह आत्मा, भक्ति करे वह आत्मा – ऐसा भी नहीं है; वह तो राग की क्रिया है, वह आत्मा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि 'ज्ञान वह आत्मा' – ऐसा जानना वह व्यवहार है। उस व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली अखण्ड की दृष्टि करना वह परमार्थ है, सत्य है। सर्वश्रुतज्ञान को जाने वह श्रुतकेवली है, ऐसा व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से दृढ़पने स्थापित किया है। इसप्रकार व्यवहार है अवश्य, परन्तु व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा नहीं है। व्यवहार जिस परमार्थवस्तु को बतावे वह परमार्थ ही एकमात्र आदरणीय है, ऐसा जानकर व्यवहार का आश्रय छोड़कर एक परमार्थ का ही अनुभव करो।

गाथा ९–१० के भावार्थ पर प्रवचन

जो शास्त्रज्ञान से अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्धात्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, निश्चय है। यहाँ शास्त्रज्ञान से कहा उसे भावश्रुतज्ञान जानना।

और जो सर्वशास्त्रज्ञान को जानता है उसने भी ज्ञान को जानने से आत्मा को ही जाना, क्योंकि ज्ञान है वह आत्मा ही है, ज्ञान-ज्ञानी का भेद करने वाले व्यवहार ने भी परमार्थ ही कहा है। व्यवहार ने भी ज्ञायक को ही बताया, परमार्थ को ही जानने के लिए कहा, त्रिकाली को पर्याय

से जानना – यह कहा। जानने वाली स्वयं पर्याय है, क्योंकि कार्य तो पर्याय में होता है। इसप्रकार व्यवहार ने भी एक ध्रुवस्वभाव को जानने के लिए कहा। अहा! वीतराग जैन परमेश्वर के द्वारा कहे गये मार्ग की शैली तो देखो! दिगम्बर संतों ने जो बताया वही सच्चा जैन वीतराग मार्ग है। अहो! दिगम्बर संतों ने मार्ग को न्याय और युक्तियों से अत्यन्त स्पष्ट समझाया है।

परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है, इससे व्यवहारनय ही आत्मा को प्रगट कहता है – ऐसा जानना। पूर्णानंद का नाथ, अखण्ड, एक, अभेदवस्तु अनुभव की चीज है, उसे वचन द्वारा कैसे कहें? इसकारण व्यवहारनय ही आत्मा को प्रगटपने – स्पष्ट कहता है। 'ज्ञान वह आत्मा' – ऐसा भेद करके व्यवहारनय ही आत्मा को बताता है। जो ऐसा यथार्थ मार्ग नहीं जानता, उसका मनुष्यपना अंक के बिना बिन्दी (शून्य) जैसा निरर्थक है, निष्फल है। वस्तुस्वरूप यथार्थ समझकर परमार्थ के विषयभूत अभेद, एक, शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेना ही सम्यग्दर्शन है, मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है।

सदगुरु कहै भव्य जीवनिसौं,
तोरहु तुरित मोह की जेल।
समकितरूप गहौ अपनौ गुन,
करहु सुद्ध अनुभव कौ खेल।।
पुदगलपिंड भाव रागादिक,
इनसौं नाहिं तुम्हारौ मेल।
ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन,
जैसैं भिन्न तोय अरु तेल।। १२।।

– नाटक समयसार, जीवद्वार

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत् –

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।११।।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ।।११।।

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति, शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति । तथा हि – यथा प्रबलपंकसंवलन-तिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेक-मकुर्वंतो बहवोनच्छमेव तदनुभवंति । केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपात-मात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वा-दच्छमेव तदनुभवंति । तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभाव-

---

अब, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि – पहले यह कहा था कि व्यवहार को अङ्गीकार नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि वह परमार्थ को कहनेवाला है तो ऐसे व्यवहार को क्यों अङ्गीकार न किया जाये ? इसके उत्तररूप में गाथासूत्र कहते हैं :–

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है ।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सदृष्टि निश्चय होय है ।।११।।

गाथार्थ :– **[व्यवहारः]** व्यवहारनय **[अभूतार्थः]** अभूतार्थ है **[तु]** और **[शुद्धनयः]** शुद्धनय **[भूतार्थः]** भूतार्थ है, ऐसा **[दर्शितः]** ऋषीश्वरों ने बताया है; **[जीवः]** जो जीव **[भूतार्थं]** भूतार्थ का **[आश्रितः]** आश्रय लेता है वह जीव **[खलु]** निश्चय से (वास्तव में) **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[भवति]** है ।

टीका :– व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है। यह बात दृष्टान्त से बतलाते हैं । जैसे – प्रबल कीचड़ के मिलने से जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) होगया है, ऐसे जल का अनुभव करनेवाले पुरुष –

स्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वंतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति । भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकज्ञायक भावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति । तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव सम्यक् पश्यंतः सम्यग्दृष्टयो भवंति, न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य । अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ।

जल और कीचड़ का विवेक न करनेवाले (दोनों के भेद को न समझनेवाले)– बहुत से तो उस जल को मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथ से डाले हुवे कतकफल[1] के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल-कादव की विवेकता से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपने से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसीप्रकार प्रबल कर्मों के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष – आत्मा और कर्म का विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्मा को) जिसमें भावों की विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं, किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनय को देखनेवाले) अपनी बुद्धि से डाले हुवे शुद्धनय के अनुसार बोध होने मात्र से उत्पन्न आत्म-कर्म की विवेकता से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावत्व के कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है – ऐसा अनुभव करते हैं। यहाँ, शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है, इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखने वालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

भावार्थ :– यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ, और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो, उसे अभूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने का आशय यह है कि शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिए। ऐसा न समझना चाहिए कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा

---

[1] कतकफल = निर्मली (एक औषधि जिससे कीचड़ नीचे बैठ जाता है)।

यह तो प्रथम दर्जे का धर्म है, सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं इसकी बात चलती है। अन्तर में – आत्मा त्रिकाली एकरूप, अभेद ज्ञायक है, इसकी जबतक दृष्टि में स्वीकृति नहीं आती है तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैनकुल में जन्म लिया इसीलिए जैन है, ऐसी बात यहाँ नहीं है। अनन्त-गुणों का अभेद पिण्ड एक ध्रुव आत्मा का आश्रय लेकर इसकी प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन होता है, वह जैनधर्म है। जैनधर्म कोई साम्प्रदायिक वाड़ा की चीज नहीं है; यह तो वस्तु का स्वरूप है।

आत्मा को आत्म-सन्मुख होकर जानना सम्यग्दर्शन है। अज्ञानियों ने आत्मा की जैसी कल्पना कर रखी है, उसकी यहाँ बात नहीं है। वेदान्तियों ने जैसा सर्वव्यापक आत्मा को मान रखा है, उस आत्मा की भी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो सर्वज्ञ परमात्मा ने जो प्रत्यक्ष देखा – जाना और दिव्यध्वनि में कहा – वह त्रिकाली सत् चैतन्यस्वरूप, परमब्रह्मस्वरूप आनंदकंद आत्मा भूतार्थ है और इसका आश्रय करते हुए जो निर्विकल्प अनुभव हो, वह धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है।

पर्याय स्वतंत्ररूप से कर्त्ता होकर, राग का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर में स्वभाव-सन्मुख होकर, ज्ञायक पूर्णानंद की ओर झुके, ढले, तब इसका आश्रय करती है, ऐसा कहा जाता है। द्रव्य की प्राप्ति पर्याय में होती है। अनादि से पर्याय राग की प्राप्ति में पड़ी है, यह मिथ्यात्व है।

अहा ! जिनेश्वरदेव का मार्ग ही दिगम्बर जैनधर्म है। इसमें जैसी सत्य और न्याययुक्त बात है – दूसरी जगह कहीं यह बात नहीं है। भाई किसी को रुचे या न रुचे, यह जुदी बात है। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञपरमेश्वर के मुख से जो दिव्यध्वनि खिरी, उसमें ऐसा आया है कि वर्त्तमान पर्याय को बाद करके जो अखंड, एक, अभेद, सामान्य ध्रुववस्तु रहे – वह भूतार्थ है, सत्यार्थ है, वही दृष्टि का विषय है और उसका आश्रय करने से अर्थात् उसके सन्मुख ढलने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। भूतार्थ का आश्रय पर्याय लेती है यानी पर्याय भूतार्थ की ओर ढ़लती है, ऐसा अर्थ है। आश्रय कहो, अवलम्बन कहो, सबका एक ही अर्थ है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि दया पालना, भक्ति करना, व्रत करना, क्या ये सब धर्म नहीं हैं ? उनसे कहते हैं कि भाई ! पर की दया कौन पाल सकता है ? परद्रव्य तो स्वतन्त्र है, परद्रव्य की अवस्था उसके स्वयं के कारण जो होनी हो वह होती है, उसमें तुम क्या कर सकते हो ? पर की अवस्था तुम कर सको, ऐसा है ही नहीं। भाई ! भगवान की कही हुई

माना जाये तो जैसे वेदान्तमत वाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्म को वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो और उससे सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग आये, इसलिए यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्वप्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है – वह कहीं-कहीं पाया जाता है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि – "शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यक्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है तबतक आत्माका ज्ञान–श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।" – ऐसा आशय समझना चाहिए।

गाथा ११ पर प्रवचन

यह गाथा बहुत गंभीर है, माल ही माल भरा है। यह ग्यारहवीं गाथा जैनदर्शन का प्राण है। यह शांति और धैर्य से समझने जैसी गाथा है। अनंतकाल में वस्तु का सत्यस्वरूप सुनने को नहीं मिला और कदाचित् सुनने को मिला भी, तो उसे समझने का प्रयत्न नहीं किया, इससे इसकी सच्ची श्रद्धा नहीं हुई। भगवान की वाणी का सार इस गाथा में भरा है।

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषीश्वरों ने बतलाया है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव और साधुओं में अग्रेसर गौतम आदि गणधरों ने ऐसा कहा है कि व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ है।

जो जीव भूतार्थ का आश्रय करते हैं, वे जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि हैं। त्रिकाली पूर्णआनंदस्वरूप ज्ञायकभाव, सत्पदार्थ, शास्वत आत्मवस्तु भूतार्थ है। जो जीव इसका आश्रय करते हैं अर्थात् इसके सन्मुख होते हैं, वे निश्चय से सम्यग्दृष्टि हैं। कर्म, राग और गुण-गुणी भेद – ये सब व्यवहार हैं, असत्यार्थ हैं, क्योंकि ये त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं। ध्रुववस्तु, अनादिअनंत, असंयोगी, शास्वत भूतार्थ है। इसमें संयोग, राग, पर्याय या गुणभेद नहीं हैं। ऐसी अभेद आत्मा की दृष्टि करना, आश्रय करना सम्यग्दर्शन है।

यह तो प्रथम दर्जे का धर्म है, सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं इसकी बात चलती है। अन्तर में – आत्मा त्रिकाली एकरूप, अभेद ज्ञायक है, इसकी जबतक दृष्टि में स्वीकृति नहीं आती है तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैनकुल में जन्म लिया इसीलिए जैन है, ऐसी बात यहाँ नहीं है। अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड एक ध्रुव आत्मा का आश्रय लेकर इसकी प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन होता है, वह जैनधर्म है। जैनधर्म कोई साम्प्रदायिक वाड़ा की चीज नहीं है; यह तो वस्तु का स्वरूप है।

आत्मा को आत्म-सन्मुख होकर जानना सम्यग्दर्शन है। अज्ञानियों ने आत्मा की जैसी कल्पना कर रखी है, उसकी यहाँ बात नहीं है। वेदान्तियों ने जैसा सर्वव्यापक आत्मा को मान रखा है, उस आत्मा की भी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो सर्वज्ञ परमात्मा ने जो प्रत्यक्ष देखा – जाना और दिव्यध्वनि में कहा – वह त्रिकाली सत् चैतन्यस्वरूप, परमब्रह्मस्वरूप आनंदकंद आत्मा भूतार्थ है और इसका आश्रय करते हुए जो निर्विकल्प अनुभव हो, वह धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है।

पर्याय स्वतंत्ररूप से कर्त्ता होकर, राग का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर में स्वभाव-सन्मुख होकर, ज्ञायक पूर्णानंद की ओर झुके, ढले, तब इसका आश्रय करती है, ऐसा कहा जाता है। द्रव्य की प्राप्ति पर्याय में होती है। अनादि से पर्याय राग की प्राप्ति में पड़ी है, यह मिथ्यात्व है।

अहा! जिनेश्वरदेव का मार्ग ही दिगम्बर जैनधर्म है। इसमें जैसी सत्य और न्याययुक्त बात है – दूसरी जगह कहीं यह बात नहीं है। भाई किसी को रुचे या न रुचे, यह जुदी बात है। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञपरमेश्वर के मुख से जो दिव्यध्वनि खिरी, उसमें ऐसा आया है कि वर्त्तमान पर्याय को बाद करके जो अखंड, एक, अभेद, सामान्य ध्रुववस्तु रहे – वह भूतार्थ है, सत्यार्थ है, वही दृष्टि का विषय है और उसका आश्रय करने से अर्थात् उसके सन्मुख ढलने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। भूतार्थ का आश्रय पर्याय लेती है यानी पर्याय भूतार्थ की ओर ढ़लती है, ऐसा अर्थ है। आश्रय कहो, अवलम्बन कहो, सबका एक ही अर्थ है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि दया पालना, भक्ति करना, व्रत करना, क्या ये सब धर्म नहीं हैं? उनसे कहते हैं कि भाई! पर की दया कौन पाल सकता है? परद्रव्य तो स्वतन्त्र है, परद्रव्य की अवस्था उसके स्वयं के कारण जो होनी हो वह होती है, उसमें तुम क्या कर सकते हो? पर की अवस्था तुम कर सको, ऐसा है ही नहीं। भाई! भगवान की कही हुई

वीतरागी दया का स्वरूप जुदा ही है। पर का लक्ष्य छोड़कर वर्त्तमान-पर्याय त्रिकाली भूतार्थ सत् निजज्ञायक के आश्रय से वीतरागी दशा प्रगट करे, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं, वह सच्ची दया है।

धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। लोगों को सत्य वात सुनने को ही नहीं मिली। ध्रुव त्रिकाली सत्सामान्य ज्ञायकवस्तु परमार्थ है। उसका अनादर करके वर्त्तमान पर्याय का या राग का आदर करना – ये ही जीव की हिंसा है। स्वयं का अस्तित्त्व है, उसका नकार करना, यह ही हिंसा है और उसका अन्तर में स्वीकार करना अहिंसा है, दया है, धर्म है।

अनादिकाल से तूने अपनी हिंसा ही की है। तो अब ध्रुव अभेद सामान्य ज्ञायकभावरूप वस्तु का आश्रय करके, अन्तर में स्वीकार करके, सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट करना चाहिए। इसके सिवा जितना बाह्य क्रियाकांड है, वह सब चार गतियों में रखड़ने का मार्ग है।

आत्मा अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतशान्ति, अनंतप्रभुता, अनंत-स्वच्छता, ऐसी अनंत–अनंत शक्तियों से सम्पन्न परमार्थ वस्तु है। उसके सन्मुख होकर उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

श्रीमद् राजचन्द्र आत्मप्रसिद्धि में कहते हैं :–

शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजूं कहिये केटलूं, कर विचार तो पाम ॥

आत्मा शुद्ध अर्थात् पवित्र है, बुद्ध अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, चैतन्य-घन अर्थात् असंख्यातप्रदेशी है। सर्वज्ञ सिवाय दूसरे कहीं भी आत्मा को असंख्यातप्रदेशी नहीं कहा है। आत्मा स्वयं ज्ञानज्योति है अर्थात् स्वयं-सिद्ध वस्तु है। किसी ने उत्पन्न किया हो या कोई नाश कर सके – ऐसा नहीं है। वह सुखधाम है अर्थात् आनंद का – अतीन्द्रिय आनंद का धाम है। इसप्रकार आत्मा अभेद, एकरूप, भूतार्थ वस्तु है – उसे 'कर विचार तो पाम' – अर्थात् ज्ञान की पर्याय में स्व-संवेदन से इस ज्ञायक को लक्ष्य में ले तो उसकी प्राप्ति हो। हमारे पास से कुछ नहीं मिलेगा। अपने अनंत गुणों में व्याप्त अभेद, अखण्ड, जो ध्रुवतत्त्व है उसकी दृष्टि करना, निश्चयसम्यग्दर्शन है। इसके सिवाय वाहर के क्रियाकांड में, राग में धर्म मानकर प्रवर्तन करे वह मिथ्यादृष्टि है।

गाथा ११ की टीका पर प्रवचन

व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है। जो वस्तु के स्वरूप में नहीं है उसे व्यवहारनय प्रगट करता

है, इसलिए वह अभूतार्थ है । यद्यपि अभेद वस्तु में भेद नहीं है तथापि ऐसे अविद्यमान अर्थ को – भेद को व्यवहारनय प्रगट करता है ।

ज्ञान में ज्ञात हो – ऐसा बुद्धिपूर्वक राग तथा ज्ञान में ज्ञात न हो – ऐसा अबुद्धि पूर्वक राग – ऐसा दोनों ही प्रकार का राग वस्तु में नहीं है । तथा इस राग को जानने वाला ज्ञान भी वस्तु में नहीं है । और ज्ञान सो आत्मा–ऐसा भेद भी वस्तु में नहीं है । व्यवहारनय ऐसे अविद्यमान अर्थ को प्रगट करता है, इसकारण अभूतार्थ है । दूसरे प्रकार कहें तो द्रव्य अखण्ड वस्तु है, उसमें भेद या राग नहीं है । उसे प्रगट करने वाला होने से व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है ।

अभूत अर्थ को प्रगट करने वाला व्यवहारनय चार प्रकार का है:–

(१) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय
(२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय
(३) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय
(४) अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय ।

आत्मा की पर्याय में जो राग है वह मूल सत्रूप वस्तु में नहीं है, इससे असद्भूत है । भेद किया, इससे व्यवहार है; और ज्ञान में स्थूलरूप से जाना जाता है, इसलिए उपचरित है । इसप्रकार राग को आत्मा का कहना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है ।

जो सूक्ष्म राग का अंश वर्त्तमान ज्ञान में नहीं जाना जाता – ज्ञान की पकड़ में नहीं आता, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है ।

आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है । उस आत्मा का ज्ञान राग को जानता है, पर को जानता है, ऐसा कहने से वह ज्ञान स्वयं का होने से सद्भूत; त्रिकाली में भेद किया, इसलिए व्यवहार; और ज्ञान स्वयं का होने पर भी पर को जानता है – ऐसा कहना वह उपचार है । इसप्रकार 'राग का ज्ञान' ऐसा कहना (अर्थात् ज्ञान राग को जानता है ऐसा कहना) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है ।

'ज्ञान वह आत्मा' ऐसा भेद करके कथन करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है । 'ज्ञान वह आत्मा' यह कहने से भेद पड़ा वह व्यवहार; किन्तु वह भेद आत्मा को बताता है, इसलिए वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है ।

भगवान आत्मा अभेद एकरूप वस्तु है । वह भूतार्थ है । व्यवहार के उपरोक्त चारों प्रकार त्रिकालीज्ञायक में नहीं होने से असत्यार्थ हैं और ध्रुव

आत्मा तथा वर्त्तमान पर्याय दोनों को साथ लेवें तो वह भी व्यवहारनय–अशुद्धनय का विषय बन जाता है। उससे वह भी अभूतार्थ-असत्यार्थ है। सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर की वाणी में जो आया वह कुन्दकुन्दाचार्यदेव यहाँ प्रगट करते हैं। कहते हैं कि – त्रिकाली ज्ञायक वस्तु मुख्य है, सत्य है, भूतार्थ है, उसमें 'ज्ञान वह आत्मा' ऐसा जो भेद पड़ा वह गौण है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

यह ग्यारहवीं गाथा 'जैन दर्शन' का प्राण है। प्राणों से जीव जीता है। जैसे प्राण बिना मुर्दा कहलाता है; उसीतरह इस गाथा के रहस्य को जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। वह जीव भी प्राण बिना मुर्दा जैसा है। अखण्ड वस्तु में भेद करके जाना या 'ज्ञान वह आत्मा' ऐसा कहना यह व्यवहार है, असत्यार्थ है। व्यवहारनय के चारों ही भेद असत्यार्थ हैं। यह तो जन्म-मरण के नाश करने जैसी अलौकिक धर्म कथा है। उसे धैर्य से, शान्ति से ध्यान देकर सुनना चाहिए। इस सब व्यवहार को असत्यार्थ कह कर निषेध किया है, छुड़ाया है, क्योंकि उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

भगवान आत्मा अमृतसागर से भरा हुआ है। वह अभेद, एकरूप, पूर्णानन्द वस्तु भूतार्थ है। उसे व्यवहारनय अनेक रीति से प्रगट करता है। जैसे कि पर्याय में जो रागादिक हैं वे आत्मा के हैं, राग को जाने वह आत्मा है, और 'ज्ञान ही आत्मा' है; ऐसे अनेक प्रकार से अभूत अर्थ को प्रगट करता है। यह चारों ही प्रकार का व्यवहार अभूतार्थ होने से अर्थात् इनका विषय सत्यार्थ नहीं होने से, अविद्यमान होने से, असत्यार्थ कहकर इसका लक्ष्य छुड़ाया है। इसलिए व्यवहार मात्र जानने के योग्य है, आदरने के योग्य नहीं, आश्रय करने के योग्य भी नहीं है।

अहो ! अर्हन्तदेव की ओंकार ध्वनि का सार-सार लेकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने परमागम को इस गाथा में भर दिया है। एक समयसार में अभेद, अखण्ड, निर्मलानन्द जो आत्मवस्तु है वह भूतार्थ है, इसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और वीतरागी शान्ति की प्राप्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है, इससे वह मुख्य है। और सभी प्रकार के व्यवहार के आश्रय से उक्त प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है, अतः वह गौण है। लक्ष्य या आश्रय करने योग्य नहीं है। भाई ! जैनधर्म तो कोई अलौकिक चीज है। कहा है :–

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
यहै वचन से समझले, जिन प्रवचन का मर्म॥

देखो ! भगवान जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि का सार इतना है कि जिनस्वरूप आत्मा है अर्थात् आत्मा का वीतरागस्वभाव है, वह भूतार्थ है इस कारण मुख्य है। बाकी सब कर्म अर्थात् रागादि व्यवहार हैं, अभूतार्थ हैं, इससे गौण हैं, असत्यार्थ हैं। यहाँ मुख्य का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए व्यवहार को गौण करके, 'व्यवहार नहीं है', ऐसा कहा है।

अब शुद्धनय की बात करते हैं। शुद्धनय एकही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है। शुद्धनय अर्थात् त्रिकाली चीज स्वयं शुद्धनय है। उसमें 'ज्ञान वह आत्मा', 'पर्याय वह आत्मा', ये सब भेद अभूतार्थ हैं, अविद्यमान हैं। भाषा तो देखो ! शुद्धनय एक ही भूतार्थ अर्थात् सांचा है। 'शुद्धनय' यह एक बात और 'यह एक ही भूतार्थ है'– यह दूसरी बात। आशय यह है कि शुद्धनय एक ही है, उसके दो भेद नहीं हैं। निश्चयनय के दो भेद हैं, ऐसा जयसेनाचार्यजी की टीका में आया है। यह तो पर से भिन्नता का ज्ञान कराने के लिए राग जीव की पर्याय में होता है, इसलिए उसे निश्चयनय का विषय कहा है। यह तो जानने के लिए बात की है। अपेक्षा समझना चाहिए। वस्तुतः आश्रय करने की अपेक्षा से तो शुद्धनय एक ही है, उसके दो भेद हैं ही नहीं।

पंचाध्यायी, जो न्याय का ग्रन्थ है, उसमें तो ऐसा कहा है कि जो निश्चय के दो भेद करते हैं वे सर्वज्ञ की आज्ञा से बाहर हैं। वही बात यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली भगवान आत्मा ध्रुव-ध्रुव ध्रुव, अखण्ड, एकरूप, भूतार्थ, सत्‌वस्तु, वह स्वयं शुद्धनय अथवा उसको जानने वाला जो ज्ञानात्मक शुद्धनय, एक ही है। उसके दो भेद नहीं हैं। 'पर्यायसहित या रागसहित आत्मा को जानना निश्चय' ऐसी बात यहाँ नहीं है। (यह अशुद्धनिश्चय तो व्यवहार है)। यहाँ तो त्रिकाली, एकरूप शुद्ध ज्ञायकभाव, चैतन्यघन द्रव्य जो अनाकुल समाधि और आनन्द का धाम पूर्ण भगवान है, यही एक सत्यार्थ है। रागरहित तो है ही, किन्तु जो एकसमय की पर्याय से भी रहित, त्रिकाली, ध्रुव, ज्ञायक है, वह एक ही सत्यार्थ है और इसको जानने वाला शुद्धनय भी एक ही है, उसके दो भेद नहीं हैं।

गाथा में दूसरा पद है – 'भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ'।

इसमें कहते हैं कि जो त्रिकाली भूतार्थ चीज है वही शुद्धनय है। मूलगाथा में ऐसा कहा है कि त्रिकाली सत्यार्थ प्रभु पूर्णानन्द ध्रुव चीज है वह शुद्धनय है। शुद्धनय का विषय है – ऐसा भेद करके नहीं कहा; त्रिकाली ध्रुव शुद्ध सामान्य है तो शुद्धनय का विषय, किन्तु शुद्धनय का विषय और

उसे विषय करनेवाला – ऐसा भेद निकाल करके त्रिकाली चीज, अभेद, अखण्ड, सामान्य वस्तु ही शुद्धनय है – ऐसा कहा है ।

वस्तु की दृष्टि और उसके विषयरूप शुद्ध वस्तु को जाने विना सम्यग्दर्शन नहीं होता । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपने पर्याय में परिणमित होता है, वह पर्याय भी अशुद्धनय का विषय है । यह अशुद्धनय एक प्रकार से व्यवहार ही है । अशुद्धनय और शुद्धनय – ऐसे दो भेद वस्तु में नहीं हैं । अशुद्धनय कहो या व्यवहारनय कहो या उपचार कहो – ये सब एकार्थ हैं ।

शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है । यहाँ वस्तु त्रिकाल सिद्ध करना है । 'ज्ञान वह आत्मा' – ऐसे भेद को भी व्यवहार कहकर त्रिकालीवस्तु में से अलग कर दिया है । पर्याय है वह एकसमय की सत् है, वह त्रिकाली ध्रुव सत् नहीं है; इसका आश्रय लेने से धर्म प्रगट नहीं होता । इसलिए एक त्रिकालीभाव को ही विद्यमान, भूतार्थ, सत्यार्थ कहा है । आत्मा में दो प्रकार हैं – एक पर्याय और दूसरा ध्रुव । तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – 'उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत् – इसमें पर्याय उत्पाद-व्ययरूप है । जो एकसमय में उत्पन्न होकर दूसरे समय में व्यय हो, वह पर्याय है; और जो त्रिकाल एकरूप रहे वह ध्रुव है । यहाँ एकसमय के उत्पाद-व्ययरूप पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने के लिए उसे व्यवहार कहा, असत्यार्थ कहा; और त्रिकालीध्रुव एक ही विद्यमान सत्पदार्थ है – ऐसा कहकर उसकी दृष्टि कराई है ।

अहो ! समयसार अद्भुत शास्त्र है । इन दो पंक्तियों में बहुत अधिक रहस्य भरा है । शुद्धनय एक ही सत्यार्थ अर्थ को प्रगट करता है । त्रिकाल विद्यमान तत्त्व भगवानआत्मा, एकसमय की पर्याय से रहित, अविनाशी, अविचल, ध्रुव, चैतन्यसूर्य को शुद्धनय प्रगट करता है । दृष्टि का विषय एकमात्र यह विद्यमान ज्ञायकतत्त्व है । गाथा में कहा है न कि 'भूदत्थ-मस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो' – भूतार्थ के आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है । 'खलु' का अर्थ निश्चय किया है । जयसेनाचार्यदेव ने प्रगट त्रिकालीभगवान का जो आश्रय ले उसे निश्चय से सम्यग्दर्शन हो, ऐसा कहा है । अहा ! जैसा अन्दर पूर्ण सत्यस्वरूप पड़ा है, वैसा अनुभव करके प्रतीत करे उसे निश्चय से सम्यग्दर्शन होता है ।

अब इस वात को दृष्टान्त से वताते हैं । जैसे – प्रवल कीचड़ के मिलने से जिसका सहज एक निर्मलभाव ढक गया है, ऐसे जल का अनुभव करनेवाले अनेक पुरुष – जिन्हें जल और कीचड़ का विवेक नहीं,

उसी कीचड़युक्त जल को मलिन ही अनुभव करते हैं। देखो! पानी तो सहज एकरूप निर्मलस्वभाव है, परन्तु प्रबल कीचड़ के मिलने से उसका निर्मलभाव ढक गया है। वहाँ पानी और कीचड़ का विवेक नहीं करने वाले अधिकांश लोग तो पानी को ही मलिन मानते हैं अर्थात् वे मलिन पानी को ही पीते हैं।

किन्तु कितने ही लोग अपने हाथ से डाले हुए कतकफल (निर्मली औषधि) के डालने मात्र से उत्पन्न हुए जल-कीचड़ के विवेक से, अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट हुए सहज एक निर्मलपने को लेकर जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं।

कतकफल यह 'निर्मली' नाम की औषधि है। मलिन पानी में अपने हाथ से कतकफल डालकर शुद्धपानी का अनुभव करते हैं। कतकफल डालते ही जल-कीचड़ का विवेक प्रगट हो जाता है अर्थात् कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है। इसप्रकार अपने पुरुषार्थ से पानी का सहज एकरूप निर्मलभाव प्रगट हो जाता है। कीचड़ के कारण पानी का निर्मलभाव ढक गया था, वह निर्मली के डालनेमात्र से प्रगट हो जाता है। इसतरह कुछ थोड़े से लोग कीचड़ से निर्मल जल को भिन्न कर जल को पीते हैं। अहा! आचार्यदेव ने करुणा करके किस सरल रीति से समझाया है। पानी को निर्मल करती है, इस कारण इस औषधि को निर्मली कहते है। यह तो दृष्टान्त हुआ, अब सिद्धान्त कहते हैं।

इसीप्रकार प्रबलकर्मों के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायक-स्वभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे मलिन आत्मा का अनुभव करने वाले पुरुष जिन्हें आत्मा और कर्म का विवेक नहीं है, वे व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो उस आत्मा को विश्वरूपपने मलिन ही अनुभव करते हैं।

यहाँ कर्म यानी जड़पुद्गल की बात नहीं है। किन्तु उन कर्मों के निमित्त से जीव की अवस्था में हुए मिथ्यात्व – राग-द्वेष के मलिनभावों को अज्ञानी जीव अनुभव करते हैं, यह बात है। जड़कर्म तो अजीव हैं, उनका अनुभव नहीं हो सकता। प्रबलकर्मों के मिलने से अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्पों के अनुभव से सहज एकरूप निर्मल ज्ञायकभाव ढक गया है। 'जो शुभाशुभभाव होता है, वह मैं हूँ' – ऐसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष के अनुभव की आड़ में सम्पूर्ण निर्मलानंद ज्ञायकभाव ढक गया है, दृष्टि में नहीं आता है। दया-दान तथा काम-क्रोधादि मलिन वृत्तियों के अनुभव में एकरूप ज्ञायक दृष्टि में नहीं आता है, ज्ञात नहीं होता – ऐसा

कहा है। बाकी सच्चिदानंद ज्ञायकभाव तो जो है सो है, प्रगट ही है। तिरोभूत हो जाय और आविर्भूत हो – ऐसा ज्ञायकस्वभाव में है ही नहीं। रागादि के अनुभव में ज्ञायक नजर नहीं आता, इससे ढक गया – ऐसा कहा जाता है; और ज्ञायक के आश्रय में उसका अनुभव होता है, तब वह प्रगट हुआ – ऐसा कहा जाता है।

रागादि-संयुक्त आत्मा का अनुभव करने वाले रागादि कर्म और आत्मा की भिन्नता के विवेक नहीं करने से व्यवहार में विमोहित रहते हैं, 'शुभाशुभभाव रूप हूँ' – ऐसे मूर्छित हुए हैं। इससे उनकी पर्याय में जो अनेकता प्रगट होती है अर्थात् पर्याय में जो अनेक प्रकार के मलिन विकारी भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें स्वपने अनुभव करते हैं।

त्रिकाली एक अभेद ज्ञायकवस्तु को देखने वाले भूतार्थदर्शियों द्वारा अपनी ज्ञानपर्याय को ज्ञायक के सन्मुख करते ही सम्यग्ज्ञान होने से आत्मा और रागादिक कर्म की भिन्नता का विवेक उत्पन्न होता है। इसप्रकार आत्मा और रागादि का भेदज्ञान होने से वे रागादि से भिन्न होकर अपने पुरुषार्थ द्वारा अखण्ड, एकरूप, निर्मल ज्ञायकभाव का आश्रय करके – जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है – ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं।

पहले कहा था कि रागादिक की मूर्छा में अर्थात् व्यवहार में विमोहित पर्यायबुद्धि जीवों का एकरूप ज्ञायकभाव ढक गया है, इससे वे पर्याय में अनेकरूप मलिनता का अनुभव करते हैं। अब कहते हैं कि राग और आत्मा दोनों का भेदज्ञान करके ध्रुव त्रिकाली परमानंदस्वरूप परमात्मा को पुरुषार्थ द्वारा आश्रय करने वाले भूतार्थदर्शियों के वह चैतन्यसूर्य ज्ञायकबिम्ब आविर्भूत हो जाता है – प्रगट हो जाता है; और उससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि शुद्धपर्याय उत्पन्न हो जाती है।

यहाँ चारों ही प्रकार के व्यवहार को गौण करके, असत्यार्थ कहकर इसकी दृष्टि छुड़ाई है और एकरूप ज्ञायक को मुख्य करके, उसे सत्यार्थ कहकर उसकी दृष्टि कराई है। ऐसे ज्ञायक का अनुभव अपने पुरुषार्थ द्वारा होता है। पुरुषार्थ विना मिल जाय, ऐसी यह चीज नहीं है। भूतार्थदर्शी एक ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर, एक ज्ञायकभाव जिसमें प्रकाशमान है – ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं – यह अनुभव धर्म है। अनुभव पर्याय है और अनंतगुणों का अभेद चैतन्यदल ज्ञायकस्वभावी आत्मा ध्येय है।

शरीर का, राग का, और एकसमय की पर्याय का जिन्हें प्रेम है, वे मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें राग और आत्मा की भिन्नता का विवेक नहीं है, वे व्यवहार में विमोहित हैं। जिन्हें शरीर का मोह है, वे हाड़-चाम में मोहित हैं, जिन्हें बाह्यसंपत्ति और पुण्य के ठाठ का मोह है, वे जड़ में मोहित हैं। और जो राग-द्वेष का ही अनुभव करते हैं, वे भी पर्यायमूढ़ हैं। रागादि तो अंधकार है, क्योंकि वह जड़ है, उसमें चैतन्य के नूर का अंश नहीं है। इससे जो रागादि का अनुभव करते हैं, वे मात्र अंधकार का अनुभव करते हैं। उनका निर्मलानंद ज्ञायक तिरोभूत हो जाता है। अरे! इसतरह जीव अपने एकरूप स्वभाव को भूलकर अनेकरूप मोह-राग-द्वेष के अनुभव से चारगतिरूप संसार में अनंतकाल से रखड़ रहा है।

यहाँ शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है। पानी और कीचड़ को जिसप्रकार कतकफल भिन्न करता है; उसीतरह शुद्धनय के अनुसार वस्तु जो त्रिकाली, अखंड, एकरूप, ज्ञायकभाव है – उसमें दृष्टि करने से, उसका अनुभव करने से, पर्याय में मलिन पुण्य-पाप का भाव भिन्न हो जाता है। पुण्य-पाप का भाव आत्मा की शान्ति जलने पर होता है। पद्मनंदि पंच-विंशतिका के दान अधिकार में दृष्टान्त आता है कि – 'तेरी शान्ति जला कर कषाय मन्दता का परिणाम हुआ, इसके फलस्वरूप यह बाह्य सामग्री मिली। इसे जो तू अकेला भोगेगा और धर्मप्रभावना के निमित्त इसका उपयोग नहीं करेगा तो तू कौआ से भी गया बीता है, क्योंकि कौआ तो जली हुई खुरचन को भी अकेला नहीं खाता; काँ, काँ, काँ की पुकार करके अपने साथी कौओं को बुलाकर मिल-बाँटकर खाता है।' यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि ऐसे पुण्य-पाप के भावों का अनुभव वह मिथ्यादर्शन है। शुद्धनय द्वारा वह पुण्य-पाप की मलिनता भिन्न हो जाती है। इससे जो शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, अन्य कोई सम्यग्दृष्टि नहीं है। शुद्धनय का आश्रय करता है अर्थात् त्रिकाली, अभेद, एकरूप, ज्ञायक का आश्रय करता है, वही वस्तु के स्वरूप को भलीप्रकार से देखता है, अनुभव करता है, इसलिए वही सम्यग्दृष्टि है। किन्तु दूसरे जो कोई सर्वथा अशुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। जो राग का, भेद का, एकसमय की पर्याय का आश्रय करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

इसलिए कर्म से भिन्न आत्मा को देखने वालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है। राग से तथा पर्याय से भी भिन्न ऐसे अपने ज्ञानानंदमूर्तिभगवान पर जिसकी दृष्टि हुई है, उसे व्यवहारनय अनुसरण

करने योग्य नहीं है। राग का, भेद का, या पर्याय का यथास्थिति ज्ञान भले हो, किन्तु वह अनुभव या आश्रय करने योग्य नहीं है।

गाथा ११ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने का आशय यह है कि शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्यद्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दीखता नहीं है; इसलिए उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है।

देखो, यहाँ शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। अतीन्द्रिय आनंद का पिण्डरूप जो ज्ञायकभाव है उसे ही सत्य कहा है। परद्रव्य की तो यहाँ बात ही नहीं है; शरीर, मन, वाणी, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि पर तो 'पर' में रहे; यहाँ तो एक त्रिकाली द्रव्यस्वभाव और दूसरे वर्त्तमान पर्यायभाव – ऐसे आत्मा में दो प्रकार हैं। उनमें त्रिकाली द्रव्यस्वभाव सत्य है और पर्यायभाव असत्य है। जिसके विषय का अस्तित्त्व न हो, वह असत्य है। व्यवहारनय का विषय विद्यमान नहीं है, इसलिए वह असत्य है, अभूतार्थ है।

अनादि से यह जीव दु:ख के मार्ग में अर्थात् राग और पर्याय के मार्ग में अटक रहा है। अनंतकाल में यह बड़ा सेठ हुआ हो, या राजा हुआ हो, या स्वर्ग का देव हुआ हो, या दिगम्बर द्रव्यलिंगी साधु हुआ हो, पर इसने त्रिकाली वस्तु सत्यार्थ द्रव्यस्वभाव को कभी भी स्वीकार नहीं किया; पर्याय है, राग है, भेद है – ऐसा माना है अर्थात् ऐसा स्वीकार किया है। इसे सुख के मार्ग में चढ़ाने के लिए यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली ज्ञायकवस्तु ही सत्य है और पर्याय असत्य है – ऐसा कहकर भूतार्थ द्रव्यस्वभाव का आश्रय कराना चाहते हैं, क्योंकि भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि होने से संसार नहीं रहता।

शुद्धनय का विषय अभेद, एकाकाररूप, नित्यद्रव्य है; उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता। अहा हा! पं० जयचन्दजी ने कैसा स्पष्टीकरण किया है। शुद्धनय का ध्येय अभेद एकाकार है, उसकी दृष्टि में यह ज्ञान आनन्द इत्यादि गुण और यह आत्मा गुणी ऐसा भेद नहीं दीखता। दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि पर्याय के विकल्प अभेददृष्टि में जाने नहीं जाते, बाहर ही रह जाते हैं। यह स्वभाव और स्वभाव का एकाकार है, उसको स्वीकार कर आश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं और वे धर्म हैं। इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

भाई ! व्रत, तप आदि के विकल्पों में रुककर और उन विकल्पों का कर्त्ता होकर अनादि से मिथ्यात्व का ही सेवन किया है तथा समवशरण में विराजमान अरहंतदेव की मणि-रत्नों से आरती उतारी, कल्पवृक्ष के फूलों से अनंतबार पूजा की, परन्तु सत्यार्थ द्रव्यस्वभाव को स्वीकार नहीं किया, इससे इसे आज तक सम्यग्दर्शन का अंशरूपधर्म भी नहीं हुआ। लोगों ने मूल बात सुनी ही नहीं है, इससे इस अभूतार्थ व्यवहार में अटक गये हैं।

यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते, इससे उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है। किन्तु ऐसा न समझना कि भेदरूप कोई वस्तु नहीं है, द्रव्य में गुण है ही नहीं, पर्याय है ही नहीं,भेद है ही नहीं। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे सब निर्मल हैं। दृष्टि के विषय में गुणों का भेद नहीं है; किन्तु अन्दर वस्तु में तो अनन्त गुण हैं। भेद सर्वथा कोई वस्तु ही नहीं है, ऐसा माना जाय तो जैसा वेदान्त-मत वाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्म को वस्तु कहते हैं ऐसा ठहरे तथा इससे सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग प्राप्त होगा।

वेदान्ती जैसे एक ही आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं– ऐसी यह बात नहीं है। कितनों को यह निश्चय की व्याख्या वेदान्त जैसी लगती है, किन्तु वेदान्ती पर्याय को कहाँ मानते हैं, अनेक गुणों को कहाँ मानते हैं, अनेक आत्माओं को कहाँ मानते हैं ? इस बात में और वेदान्त में कोई मेल नहीं है। यह तो सर्वज्ञकथित सूक्ष्म न्याययुक्त बात है।

भगवान जिनेश्वरदेव ने केवलज्ञान से आत्मा जैसा प्रत्यक्ष देखा वैसा कहा है। जिनके मत में सर्वज्ञ का स्वीकार नहीं है, उनके मत में सत्यार्थ वस्तु नहीं हो सकती। सर्वज्ञ के स्वीकार विना आत्मा में सर्वज्ञ-स्वभाव की दृष्टि नहीं होती। वस्तुतः आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, तभी तो पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट होती है। यह जैनियों की मूल निश्चय की बात जब बाहर आई तो लोगों को वेदान्त जैसी लगती है। क्रियाकाण्ड की बात आती है तो कहते हैं कि यह जैन की बात है। ऐसा कहने वाले और मानने वाले जैनधर्म के मूल रहस्य को नहीं जानते हैं। अनंत तीर्थंकर परमेश्वर हो गये हैं। उन्होंने इस सत्यार्थ वस्तु को अनुभव करके मुक्ति पाई है और जगत के सामने यही बात प्रगट की है।

पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, परन्तु त्रिकाल ध्रुव ज्ञायक को विषय करने वाली पर्याय है, जो उसे न माने वह सांख्यमती है। आत्मा शरीरप्रमाण है, उसे वेदान्तमत वाले (क्षेत्र से) सर्वव्यापक मानते हैं। वे सम्पूर्ण जगत को एक वस्तु कहते हैं, एक शुद्ध ब्रह्म को ही वस्तु कहते हैं, किन्तु वस्तुएँ अनेक हैं। और वे वस्तु में गुण हैं – ऐसा नहीं मानते; वस्तु को सर्वथा नित्य कहते हैं, अनित्य पर्याय को नहीं मानते। इसतरह सर्वथा पर्याय आदि को मायास्वरूप असत्य कहने से वेदान्तमत हो जाता है। इससे सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यात्व का प्रसंग आता है, इसलिए सर्वथा एकान्त नहीं मानना। कथंचित् अशुद्धता है, भेद है, पर्याय है – ऐसी अपेक्षा से बराबर समझना।

जिनवाणी स्याद्वादरूप है, अपेक्षा से कथन करने वाली है। अतः जहाँ जो अपेक्षा हो वहाँ वह समझना चाहिए। प्रयोजनवश शुद्धनय को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है और व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है। त्रिकाली अभेद शुद्धद्रव्य की दृष्टि करने से जीव को सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए त्रिकालीद्रव्य को अभेद कहकर भूतार्थ कहा है और पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने के लिए उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। आत्मा अभेद, त्रिकाली, ध्रुव है; उसकी दृष्टि करने पर भेद दिखाई नहीं देता, और भेददृष्टि में निर्विकल्पता नहीं होती; इसलिए प्रयोजनवश भेद को गौण करके असत्यार्थ कहा है। अनन्तकाल में जन्म-मरण का अन्त करने वाला बीजरूप सम्यग्दर्शन जीव को हुआ नहीं है। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयोजन सिद्ध करना है, इससे शुद्धज्ञायक को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है, और पर्याय तथा भेद को गौण करके व्यवहार कहकर उसे असत्यार्थ कहा है।

अब नय को मुख्य-गौण करके कथन करने का कारण क्या है ? इसे विस्तार से कहते हैं। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि-काल से है, और इसका उपदेश भी अधिकतर सर्वप्राणी परस्पर करते हैं। जीव को अनादिकाल से पर्यायबुद्धि चली आ रही है; अन्दर आनन्द का नाथ त्रिकाली भगवान स्वयं विराजमान है, उसे दृष्टि में कभी लिया नहीं है; और भेदरूप व्यवहार का पक्ष, पुण्य का पक्ष, राग का पक्ष, पर्याय का पक्ष तथा वर्त्तमान मति-श्रुतज्ञान की पर्याय का पक्ष प्राणियों को अनादि-काल से है; और व्यवहार का उपदेश भी बहुधा सर्वप्राणी परस्पर करते हैं – 'अपन तो संसारी हैं, कोई वीतराग तो हैं नहीं, तथा व्रत, तप, पूजा, भक्ति, दान, इत्यादि व्यवहारधर्म हैं, धर्म के अंग हैं; इसलिए अपने को

व्यवहारधर्म का पालन करना चाहिए। व्यवहार क्या छोड़ देवें ? व्यवहार करते-करते निश्चयधर्म प्रगट होता है' – ऐसा परस्पर अधिकांश संसारी प्राणी राग के पक्ष का उपदेश देते हैं।

और कोई ऐसा भी कह सकता है – 'पर्याय है; उसका ज्ञान करना चाहिए न ? पर्याय जानना चाहिए, पर्याय को विषय बनाना चाहिए, अन्यथा एकान्त हो जायगा। पर्याय भी वस्तु है, अवस्तु नहीं है, ऐसा शास्त्र में भी कहा है। कार्य तो पर्याय में होता है न ? पर्याय के बिना कहीं कार्य होता है क्या ?'–ऐसा पर्याय का पक्ष करके परस्पर व्यवहार के पक्षरूप उपदेश करके मिथ्यात्व पुष्ट करते हैं।

यहाँ दो बातें की हैं। एक तो – भेद का पक्ष, व्यवहार का पक्ष जीव को अनादिकाल से है और दूसरा – व्यवहार का उपदेश भी प्राणी बहुधा परस्पर करते हैं।

अब तीसरी बात करते हैं। जिनवाणी में भी व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का अवलंबन जान करके बहुत किया है, किन्तु इसका फल संसार ही है। भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का निमित्त जानकर बहुत किया है। भाषा तो देखो ! व्यवहार का उपदेश बहुत किया है, पर इसका फल संसार ही है। जैसे जीना चढ़ने वाला लकड़ी का सहारा लेकर ऊपर चढ़ता है; उसीप्रकार शुद्धनय का हस्ताव-लंबन जान जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश बहुत है, किन्तु व्यवहार का फल संसार ही है। त्रिकाली ज्ञायक का आश्रय लेने के काल में व्यवहार निमित्त होता है। इससे निमित्त का ज्ञान कराने के लिए शास्त्र में व्यवहार का बहुत कथन होता है। जैसा कि शास्त्र में आता है कि प्रचंड कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है। वहाँ प्रचंड कर्मकाण्ड यह तो शुभराग है और इसका फल तो बंध है, संसार है। परन्तु ज्ञानकाण्ड होने के काल में वह सहकारी निमित्त है, ऐसा जानकर व्यवहार से ऐसा कथन करने में आया है।

इसीप्रकार पद्मनंदि पंचविंशतिका में आया है कि मुनिवरों को आहारदान दिया तो उन्हें मोक्षमार्ग दिया। आहार देने का भाव तो शुभ-भाव है, परन्तु मोक्षमार्ग में स्थित मुनियों को शरीर की स्थिति में आहार को निमित्त देखकर व्यवहार से यह कथन किया है। साक्षात् तीर्थंकरदेव छद्मस्थ दशा में हों, उन्हें आहार देने का भाव आवे, उससे भी पुण्य बंधता है; धर्म नहीं होता, मुक्ति नहीं होती।

श्रावकों का देवपूजा, गुरुपास्ति इत्यादि प्रतिदिन करना चाहिए तथा दया-दान आदि पुण्य कार्य करना चाहिए – ऐसा पद्मनंदि पंचविंशतिका में खूब आता है। यह तो श्रावक की अपनी भूमिका में सहकारी ऐसे पुण्य के भाव इसे आते हैं तथा ऐसे भावों द्वारा वह अशुभ का निषेध करते हैं – ऐसा बताने के लिए इसप्रकार से व्यवहार का उपदेश है। बाकी पुण्य का भी फल बंध है, संसार है, मोक्ष नहीं है।

शास्त्र में ऐसा भी आता है व्यवहार साधक और निश्चय साध्य है। यह व्यवहारनय का वचन है। व्यवहार अर्थात् राग साधक और निश्चय अर्थात् वस्तु त्रिकाल साध्य – ऐसा कभी नहीं हो सकता। किन्तु यह तो सच्चे सहकारी निमित्त का ज्ञान कराने वाले व्यवहार का वचन है, उसका सही भाव समझना चाहिए। समयसार गाथा सोलहवीं में कहा है कि साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सेवन करने योग्य हैं, वहाँ पर्याय के सेवन करने की बात की है – यह व्यवहार से उपदेश है। सेवन तो एक ध्रुव अर्थात् ज्ञायक का ही करना है, परन्तु लोक समझे इसके लिए भेद से व्यवहार द्वारा समझाया है। किन्तु व्यवहारनय का आश्रय करने जायगा तो उसका फल तो संसार ही है, ऐसा यथार्थ समझना।

अब कहते हैं कि – शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और इसका उपदेश भी बिरल है, कहीं-कहीं है। (मैं एक अखण्ड नित्यानंद ध्रुवस्वरूप भगवान हूँ' – ऐसा अन्तर में शुद्धनय का पक्ष नहीं आया। अनंतकाल में अनंतबार हजारों राणी और राजपाट छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, किन्तु अन्तर में चिदानन्द चैतन्यमूर्ति भगवान जो स्वयं विराजमान है उसका पक्ष नहीं लिया, उसका लक्ष्यकर आश्रय नहीं किया। महाव्रत आदि क्रियाकाण्ड के फल में अनंतबार स्वर्ग में गया। किन्तु आत्मदृष्टि विना वहाँ से पीछे नरक, तिर्यंच आदि नीची गति में गया। इसप्रकार अनादि से जन्म-मरण किया, किन्तु उसका अन्त आवे ऐसा कुछ नहीं किया। धंधा करना, व्यापार करना, कमाना, परिवार का पालन करना, लड़के-लड़कियों की व्याह-शादी करना इत्यादि अनेकरूप पाप के, हिंसा के भाव सेवन करके इनके फल में दुःखी होकर भटका है – रखड़ा है, यह तो ठीक; किन्तु शुद्धनय के आश्रय विना अनंतवार शुभभाव करके पुण्यवंध करके चारों गतियों में रखड़ा है। अरे! नरक-निगोद की वेदना की क्या वात करें? किन्तु वह सव भूल गया है भाई!

भाई! अनंत-अनंत चौरासी के अवतार में अनेकवार अरवपति सेठ भी हुआ, स्वर्ग का देव हुआ और सातवीं नरक का नारकी भी हुआ।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की शास्त्र में बात आती है। वह छह खण्ड का स्वामी था, छियानवें हजार रानियाँ थीं, सोलह हजार देव उनकी सेवा में रहते थे। रत्न-मणी और हीरों के पलँग पर वह सोता था। उसके वैभव की क्या वात ? वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आयु पूरी होने पर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। यहाँ सात सौ वर्ष की आयु थी, यहाँ से मरकर वहाँ नरक में तेतीस सागरोपम आयु की स्थिति में उत्पन्न हुआ। एक श्वास की मिथ्यात्व की प्रधानतापूर्वक के अशुभ के फल में ग्यारह लाख छप्पन हजार पल्योपम नरक के दुःख वहाँ प्राप्त हुए। अहा ! नरक की अकथ्य वेदना का कथन कैसे करें ?

इसप्रकार शुद्धनय का पक्ष नहीं होने से जीव अनंतकाल से दुःखी हो रहा है। शुद्धनय का उपदेश भी देने वाला कोई नहीं है। व्रत करो, दया पालो, ऐसा व्यवहार का उपदेश देने वाले तो जगह-जगह हैं; किन्तु त्रिकाली ध्रुव चैतन्य एकमात्र के आलंबन से धर्म होता है – ऐसा उपदेश करने वाले कितने हैं ? कदाचित् कोई यथार्थ उपदेशदाता मिला भी, तो उसकी वात अन्तर में ग्रहण की नहीं और इससे भव-भ्रमण मिटा नहीं।

इस भव भ्रमण के दुःख से मुक्त होने के लिए उपकारी श्री गुरु ने शुद्धनय का फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि – 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं।'

देखो ! विदेहक्षेत्र में साक्षात् अरहंत परमात्मा विराजते हैं। वहाँ 'ओं' ध्वनि का अमृत बरसता है। इस दिव्यवाणी को सुनने के लिए इन्द्र आते हैं। पहले देव-लोक को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं। उसमें बत्तीस लाख विमान हैं, एक-एक विमान में असंख्य देव हैं। उन वत्तीस लाख विमानों का स्वामी सौधर्म इन्द्र है। वह सम्यग्दृष्टि है। उसकी इन्द्राणी 'शची' है। वह भी समकिती है। दोनों ही एकभव लेकर मोक्ष जाने वाले हैं। वे भी जिस दिव्यध्वनि को सुनने के लिये आते हैं, उस दिव्यध्वनि का सार लेकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने हृदय में परमकरुणा धारण करके यहाँ उपदेश किया है कि शुद्धनय भूतार्थ है, उसके आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य शुद्धनय के फलरूप मोक्षमार्ग को जानते व अनुभवते थे। इस कारण उन्होंने भव्य जीवों के उपकार के लिए मुख्य रूप से शुद्धनय का उपदेश दिया है।

अहा हा ! आचार्यदेव कहते हैं कि एकवार तू दृष्टि वदल दे। अनादिकाल से एकसमय की पर्याय और भेद पर तेरी दृष्टि है, वहाँ से

श्रावकों का देवपूजा, गुरुपास्ति इत्यादि प्रतिदिन करना चाहिए तथा दया-दान आदि पुण्य कार्य करना चाहिए – ऐसा पद्मनंदि पंचविंशतिका में खूब आता है। यह तो श्रावक की अपनी भूमिका में सहकारी ऐसे पुण्य के भाव इसे आते हैं तथा ऐसे भावों द्वारा वह अशुभ का निषेध करते हैं – ऐसा बताने के लिए इसप्रकार से व्यवहार का उपदेश है। बाकी पुण्य का भी फल बंध है, संसार है, मोक्ष नहीं है।

शास्त्र में ऐसा भी आता है व्यवहार साधक और निश्चय साध्य है। यह व्यवहारनय का वचन है। व्यवहार अर्थात् राग साधक और निश्चय अर्थात् वस्तु त्रिकाल साध्य – ऐसा कभी नहीं हो सकता। किन्तु यह तो सच्चे सहकारी निमित्त का ज्ञान कराने वाले व्यवहार का वचन है, उसका सही भाव समझना चाहिए। समयसार गाथा सोलहवीं में कहा है कि साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सेवन करने योग्य हैं, वहाँ पर्याय के सेवन करने की बात की है – यह व्यवहार से उपदेश है। सेवन तो एक ध्रुव अर्थात् ज्ञायक का ही करना है, परन्तु लोक समझे इसके लिए भेद से व्यवहार द्वारा समझाया है। किन्तु व्यवहारनय का आश्रय करने जायगा तो उसका फल तो संसार ही है, ऐसा यथार्थ समझना।

अब कहते हैं कि – शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और इसका उपदेश भी बिरल है, कहीं-कहीं है। (मैं एक अखण्ड नित्यानंद ध्रुवस्वरूप भगवान हूँ' – ऐसा अन्तर में शुद्धनय का पक्ष नहीं आया। अनंतकाल में अनंतबार हजारों राणी और राजपाट छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, किन्तु अन्तर में चिदानन्द चैतन्यमूर्ति भगवान जो स्वयं विराजमान है उसका पक्ष नहीं लिया, उसका लक्ष्यकर आश्रय नहीं किया। महाव्रत आदि क्रियाकाण्ड के फल में अनंतबार स्वर्ग में गया। किन्तु आत्मदृष्टि विना वहाँ से पीछे नरक, तिर्यंच आदि नीची गति में गया। इसप्रकार अनादि से जन्म-मरण किया, किन्तु उसका अन्त आवे ऐसा कुछ नहीं किया। धंधा करना, व्यापार करना, कमाना, परिवार का पालन करना, लड़के-लड़कियों की व्याह-शादी करना इत्यादि अनेकरूप पाप के, हिंसा के भाव सेवन करके इनके फल में दुःखी होकर भटका है – रखड़ा है, यह तो ठीक; किन्तु शुद्धनय के आश्रय विना अनंतबार शुभभाव करके पुण्यबंध करके चारों गतियों में रखड़ा है। अरे! नरक-निगोद की वेदना की क्या बात करें? किन्तु वह सब भूल गया है भाई!

भाई! अनंत-अनंत चौरासी के अवतार में अनेकबार अरबपति सेठ भी हुआ, स्वर्ग का देव हुआ और सातवीं नरक का नारकी भी हुआ।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की शास्त्र में बात आती है। वह छह खण्ड का स्वामी था, छियानवें हजार रानियाँ थीं, सोलह हजार देव उनकी सेवा में रहते थे। रत्न-मणी और हीरों के पलँग पर वह सोता था। उसके वैभव की क्या बात ? वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आयु पूरी होने पर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। यहाँ सात सौ वर्ष की आयु थी, यहाँ से मरकर वहाँ नरक में तेतीस सागरोपम आयु की स्थिति में उत्पन्न हुआ। एक श्वास की मिथ्यात्व की प्रधानतापूर्वक के अशुभ के फल में ग्यारह लाख छप्पन हजार पल्योपम नरक के दु:ख वहाँ प्राप्त हुए। अहा ! नरक की अकथ्य वेदना का कथन कैसे करें ?

इसप्रकार शुद्धनय का पक्ष नहीं होने से जीव अनंतकाल से दु:खी हो रहा है। शुद्धनय का उपदेश भी देने वाला कोई नहीं है। व्रत करो, दया पालो, ऐसा व्यवहार का उपदेश देने वाले तो जगह-जगह हैं; किन्तु त्रिकाली ध्रुव चैतन्य एकमात्र के आलंबन से धर्म होता है – ऐसा उपदेश करने वाले कितने हैं ? कदाचित् कोई यथार्थ उपदेशदाता मिला भी, तो उसकी बात अन्तर में ग्रहण की नहीं और इससे भव-भ्रमण मिटा नहीं।

इस भव भ्रमण के दु:ख से मुक्त होने के लिए उपकारी श्री गुरु ने शुद्धनय का फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि – 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं।'

देखो ! विदेहक्षेत्र में साक्षात् अरहंत परमात्मा विराजते हैं। वहाँ 'ओं' ध्वनि का अमृत बरसता है। इस दिव्यवाणी को सुनने के लिए इन्द्र आते हैं। पहले देव-लोक को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं। उसमें बत्तीस लाख विमान हैं, एक-एक विमान में असंख्य देव हैं। उन बत्तीस लाख विमानों का स्वामी सौधर्म इन्द्र है। वह सम्यग्दृष्टि है। उसकी इन्द्राणी 'शची' है। वह भी समकिती है। दोनों ही एकभव लेकर मोक्ष जाने वाले हैं। वे भी जिस दिव्यध्वनि को सुनने के लिये आते हैं, उस दिव्यध्वनि का सार लेकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने हृदय में परमकरुणा धारण करके यहाँ उपदेश किया है कि शुद्धनय भूतार्थ है, उसके आश्रय से जीव सम्यग्दृष्टि होता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य शुद्धनय के फलरूप मोक्षमार्ग को जानते व अनुभवते थे। इस कारण उन्होंने भव्य जीवों के उपकार के लिए मुख्य रूप से शुद्धनय का उपदेश दिया है।

अहा हा ! आचार्यदेव कहते हैं कि एकवार तू दृष्टि बदल दे। अनादिकाल से एकसमय की पर्याय और भेद पर तेरी दृष्टि है, वहाँ से

हटाकर अखण्ड, एकरूप, त्रिकालीध्रुव, चैतन्य सामान्य पर दृष्टि स्थिर कर। इससे तुझे सम्यग्दर्शन आदि धर्म होगा, तुझे भव-भ्रमण के दुःख से मुक्ति मिलेगी, सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी।

अहो ! ऐसा विरल उपदेश देकर आचार्यदेव ने जगत का महान उपकार किया है। आत्मा त्रिकालीसत् ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक, ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव, अखण्ड, एकरूप, वस्तु भूतार्थ है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है और उसी के आश्रय से जन्म-मरण मिटता है।

शुद्धनय को अर्थात् त्रिकालीध्रुव को जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है, यानी शुभराग में, कर्मकाण्ड में मग्न है, भेद में मग्न है, या पर्याय में मग्न है तबतक आत्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यग्दर्शन उसे प्रगट नहीं होता। त्रिकाली शुद्ध आत्मतत्त्व को पहचानकर उसमें मग्न होना – यही मुख्य कर्त्तव्य है।

सुद्धनयातम आतम की,
अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक पदारथ,
नाम के भेद कहावत दोई।।

यौं सरवंग सदा लखि आपुहि,
आतम-ध्यान करै जव कोई।
मेटि असुद्ध विभावदसा तव,
सुद्ध सरूप की प्रापति होई।। १४ ।।

– नाटक समयसार, जीवद्वार

समयसार गाथा १२

अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान् । यत :-

सुद्धो सुद्धादेसो गादव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।१२।।

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ।।१२।।

ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयापरम-भावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैक-भावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोज-

---

अब, 'यह व्यवहारनय भी किसी-किसी को किसी काल प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है, इसलिए उसका उपदेश है' – यह कहते हैं :-

देखै परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है ।
ठहरा जु अपरमभाव में, व्यवहार से उपदिष्ट है ।।१२।।

गाथार्थ :– **[परमभावदर्शिभिः]** जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञानचारित्रवान हो गये उन्हें तो **[शुद्धादेशः]** शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करनेवाला **[शुद्धः]** शुद्धनय **[ज्ञातव्यः]** जानने योग्य है; **[पुनः]** और **[ये तु]** जो जीव **[अपरमे भावे]** अपरमभाव में – अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञानचारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही **[स्थिताः]** स्थित हैं वे **[व्यवहारदेशिताः]** व्यवहारद्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

टीका :– जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान (वस्तु के) उत्कृष्ट भाव का अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकों की परम्परा से पच्यमान (पकाये जाते हुए) अशुद्ध स्वर्ण के समान जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव हैं उनका अनुभव नहीं होता; इसलिए, शुद्धद्रव्य

हटाकर अखण्ड, एकरूप, त्रिकालीध्रु
कर । इससे तुझे सम्यग्दर्शन आदि धर
मुक्ति मिलेगी, सुखस्वरूप मोक्ष की प्र

अहो ! ऐसा विरल उपदेश दे
उपकार किया है । आत्मा त्रिकालीसत
ध्रुव, अखण्ड, एकरूप, वस्तु भूतार्थ है
है और उसी के आश्रय से जन्म-मरण

शुद्धनय को अर्थात् त्रिकालीध्रु
व्यवहार में मग्न है, यानी शुभराग में,
या पर्याय में मग्न है तबतक आत्मा के
प्रगट नहीं होता । त्रिकाली शुद्ध आत्मत
होना – यही मुख्य कर्त्तव्य है ।

सुद्धनयातम आतम की,
अनुभूति विज्ञान-विभूति है
वस्तु विचारत एक पदारथ,
नाम के भेद कहावत द

यौं सरवंग सदा लखि आपुहि,
आतम-ध्यान करै जब कोई
मेटि असुद्ध विभावदसा तब,
सुद्ध सरूप की प्रापति होई ।

– नाटक स

व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च—

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥"

शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है। जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना तथा जिनवचनों को कहनेवाले श्री जिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान–ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत – महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालों की संगति एवं विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना – ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है।[1] व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिए उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा। इसलिए शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है – ऐसा स्याद्वाद मत में श्रीगुरुओं का उपदेश है।

गाथा १२ की उत्थानिका पर प्रवचन

ग्यारहवीं गाथा में व्यवहारनय को असत्यार्थ और निश्चयनय को सत्यार्थ कहा है।

---

[1] व्यवहारनय के उपदेश से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा परद्रव्य की क्रिया कर सकता है, लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभभावों को आत्मा व्यवहार से कर सकता है। और उस उपदेश से ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव करने से आत्मा शुद्धता को प्राप्त करता है, परन्तु ऐसा समझना कि साधक दशा में भूमिका के अनुसार शुभभाव आये विना नहीं रहते।

नवान्। ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयम-परमं भावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरम-भावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो

को कहनेवाला होने से जिसने अचलित अखण्ड एकस्वभावरूप एक भाव प्रगट किया है ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका (स्वर्ण-वर्ण) समान होने से, जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है। परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान जो (वस्तु का) अनुत्कृष्ट मध्यमभाव का अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं होता; इसलिये, अशुद्ध द्रव्य को कहनेवाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता (–ज्ञात होता) हुआ उस काल प्रयोजनवान है। क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिससे तिरा जाये वह तीर्थ है; ऐसा व्यवहारधर्म है और पार होना व्यवहारधर्म का फल है; अथवा अपने स्वरूप को प्राप्त करना तीर्थफल है।) अन्यत्र भी कहा है कि :–

अर्थ :– आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो! यदि तुम जिनमत का प्रवर्ताना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय – दोनों नयों को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ – व्यवहार मार्ग का नाश हो जायगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

भावार्थ:–लोक में सोने के सोलहवान (ताव) प्रसिद्ध हैं। पन्द्रहवें वान तक उसमें चूरी आदि परसंयोग की कालिमा रहती है, इसलिए तव-तक वह अशुद्ध कहलाता है; और ताव देते-देते जब अन्तिम ताव से उतरता है तब वह सोलहवान या सौटंची शुद्ध सोना कहलाता है। जिन्हें सोलहवानवाले सोने का ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हुई है उन्हें पन्द्रहवान तक का सोना कोई प्रयोजनवान नहीं होता, और जिन्हें सोलहवानवाले शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें तबतक पन्द्रहवान तक का सोना भी प्रयोजनवान है। इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्गल के संयोग से अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है। उसका, समस्त परद्रव्यों से भिन्न, एक ज्ञायकत्वमात्रका – ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति – यह तीनों जिसे हो गये है उसे पुद्गलसंयोगजनित अनेकरूपता को कहनेवाला अशुद्ध-नय कुछ भी प्रयोजनवान (किसी मतलब का) नहीं है; किन्तु जहाँ तक

व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।"

शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है। जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना तथा जिनवचनों को कहनेवाले श्री जिनगुरु की भक्ति, जिनविम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान–ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्य का आलम्वन छोड़नेरूप अणुव्रत – महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालों की संगति एवं विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना – ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है।[1] व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिए उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा। इसलिए शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है – ऐसा स्याद्वाद मत में श्रीगुरुओं का उपदेश है।

गाथा १२ की उत्थानिका पर प्रवचन

ग्यारहवीं गाथा में व्यवहारनय को असत्यार्थ और निश्चयनय को सत्यार्थ कहा है।

---

[1] व्यवहारनय के उपदेश से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा परद्रव्य की क्रिया कर सकता है, लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभभावों को आत्मा व्यवहार से कर सकता है। और उस उपदेश से ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव करने से आत्मा शुद्धता को प्राप्त करता है, परन्तु ऐसा समझना कि साधक दशा में भूमिका के अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते।

आत्मवस्तु – द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों से मिलकर पूर्ण सत् है। उसमें अनंत गुणों का पिण्ड द्रव्य, गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् उनकी अवस्था – इन तीनों के होने पर सत् का पूर्ण रूप होता है। इन तीनों की एक सत्ता की अपेक्षा से दूसरे परपदार्थों को असत् कहा है। दूसरे प्रकार से कहें तो 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' – इसमें उत्पाद-व्यय 'पर्याय' है, 'द्रव्य और गुण' त्रिकाल हैं। ये तीनों मिलकर एक सत् है। उसकी अपेक्षा अन्य परपदार्थ असत् हैं। आत्मा अन्य पदार्थों में नहीं है और अन्य पदार्थ आत्मा में नहीं हैं – इस अपेक्षा से अन्य पदार्थों को असत् कहकर व्यवहार कहा है।

यह तो ठीक, पर जब यह कहते हैं कि अनंत गुणों से अभेद पर्याय-रहित त्रिकालीध्रुव, अखण्ड, एक द्रव्यवस्तु सत् है और उसकी अपेक्षा से एकसमय की पर्याय असत् है, तब ऐसा प्रश्न उठता है कि पर्याय को असत् क्यों कहा ?

इसका खुलासा इसप्रकार है कि प्रयोजनवश मुख्य-गौण करके ऐसा कहा जाता है। एक द्रव्य में जिसप्रकार दूसरी वस्तु सर्वथा नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य में पर्याय सर्वथा न हो – ऐसा नहीं है। पर्याय पर्यायपने तो सत् है, परन्तु भगवान पूर्णानंदस्वरूप द्रव्य जो अखण्ड, एक ज्ञायकभाव-मात्र, परमपारिणामिक स्वभाव-भावरूप है, उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म प्रगट होता है। धर्म प्रगट करने के इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को मुख्य करके, निश्चय कहकर, सत्यार्थ कहा है, तथा वर्त्तमान पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्रगट नहीं होता, किन्तु रागादि विकल्प होते हैं – इसकारण पर्याय का आश्रय छुड़ाने के लिए उसे गौण करके, व्यवहार कहकर, असत्यार्थ कहा है। पर्याय को गौण करके अर्थात् पेटे में रखकर, तलहटी में रखकर, द्रव्य में न मिलाकर, मुख्यता न करके असत्यार्थ कहा है।

इसप्रकार ग्यारहवीं गाथा में पर्याय को गौण करके कथंचित् असत्यार्थ कहा है, तो फिर पर्याय है या नहीं, उसका अस्तित्व है या नहीं, इसका ज्ञान बारहवीं गाथा में कराते हैं।

अनादिकाल से इस जीव को मिथ्यात्वभाव के कारण रागपर्याय का ही वेदन और स्वाद था। अब किसीप्रकार से पूर्णानन्दस्वरूप भगवान-आत्मा का भान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, धर्म की शुरूआत हुई, साधक बना। ऐसे साधक जीव को जबतक आत्मा की पूर्ण शुद्धतारूप परमात्मदशा प्राप्त न हो, स्व का पूर्ण आश्रय न हो,

तवतक पर्याय में क्रमशः शुद्धि बढती है, अशुद्धि घटती है – इसका ज्ञान बारहवीं गाथा में कराते हैं। पूर्णदशा को प्राप्त परमात्मा को कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता – ऐसा नहीं होता, इसलिए व्यवहार होता ही नहीं है। परन्तु निचली दशा में जो सम्यग्दर्शन से आगे बढता है, उसकी आत्म-एकाग्रता तो बढती है, किन्तु पूर्णदशा – उत्कृष्ट दशा अभी नहीं हुई है, ऐसे मध्यमभाव को अनुभव करने वाले साधक के शुद्धता के साथ जो महाव्रत आदि के विकल्प हैं, वे जानने के लिए प्रयोजनवान हैं। यह बात वारहवीं गाथा में कहेंगे।

"यह व्यवहारनय भी किसी-किसी को किसी काल में प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है, इसकारण इसका उपदेश है।" ग्यारहवीं गाथा में निश्चयनय को आश्रय करने की अपेक्षा आदरणीय व प्रयोजनवान कहा था। बारहवीं गाथा में कहते हैं कि व्यवहारनय भी किसी-किसी को अर्थात् जघन्यपूर्वक मध्यमदशावालों को साधकदशा के काल में प्रयोजनबान है। साधकदशा में शुद्धता का अंश पूर्ण नहीं है, कुछ अशुद्धता है, यह जानने के लिए व्यवहार प्रयोजनवान है, आदरने के लिए प्रयोजनवान नहीं है। आदरने योग्य प्रयोजनवान तो एकमात्र त्रिकाली शुद्धनिश्चय है।

शुद्धनिश्चय के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान और स्वरूप की स्थिरता का अंशरूप स्वरूपाचरणचारित्र तो प्रगट हुआ, परन्तु जबतक सम्पूर्ण निर्विकल्प वीतरागदशा प्रगट नहीं हुई हो, तबतक साधकदशा में जो महाव्रतादि के विकल्प होते हैं, वह सब व्यवहार है। वह साधक अवस्था में जाना हुआ प्रयोजनवान है, यह इसका सार है। 'व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है' – उसकी व्याख्या यह एक ही है कि वह जाना हुआ प्रयोजनवान है, आदर करने के लिए नहीं। कथनशैली कैसी भी हो, परन्तु अर्थ तो यही है कि त्रिकालीनिश्चय आदर करने के लिए – ग्रहण करने के लिए – आश्रय करने के लिए प्रयोजनवान है और यह राग-व्यवहार जानने मात्र के लिए प्रयोजनवान है।

ग्यारहवीं गाथा जैनदर्शन का प्राण है। उसके साथ इस बारहवीं गाथा में व्यवहार जोड़ा है। साधक की पर्याय में शुद्धता के साथ महाव्रत के, अणुव्रत के, भक्ति आदि के विकल्प होते हैं। ये विकल्प न होते हों, ऐसा नहीं है। निषेध तो गौण करने की अपेक्षा से किया है, अभावरूप निषेध नहीं मान लेना। साधकदशा में जीव की कुछ शुद्धता व कुछ अशुद्धता पर्याय में है। व्रत, भक्ति आदि का शुभराग है, किन्तु यह

शुभराग निश्चय का कारण नहीं है। उस पर्याय में राग नहीं है, ऐसा भी नहीं है। वे शुभरागादि जानने के योग्य हैं, इसीलिए तो कहते हैं कि सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं हैं। देखो! जैसे परद्रव्य जीव में सर्वथा नहीं हैं, ऐसे जीव में रागपर्याय का सर्वथा निषेध नहीं है।

गाथा १२ पर प्रवचन

"जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए हैं तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें तो शुद्ध आत्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है"। देखो, शुद्धनय का आश्रय (शुद्धनय के विषय का आश्रय) तो समकिती को होता है। यहाँ तो शुद्धनय (केवलज्ञान होने पर) पूर्ण हो गया है, उसका आश्रय करने को अब रहा नहीं, इस अपेक्षा से यहाँ बात की है। जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए, अर्थात् जो केवलज्ञान को प्राप्त हुए तथा जिन्होंने चारित्र की सम्पूर्ण स्थिरता को प्राप्त कर लिया, उन्हें तो शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय करने का प्रयोजन रहा नहीं, उन्हें तो शुद्धनय मात्र जानने योग्य है। अर्थात् इसका फल जो कृतकृत्यपना आया, उसका केवलज्ञान में ज्ञान हुआ। पूर्ण निर्विकल्पदशा जिसे हो गई, वह उसे मात्र जानता है। अधूरी दशा में होनेवाला राग उसे नहीं है, इसलिए व्यवहार भी उसके नहीं रहता।

वैसे तो निर्विकल्प ध्यान में भी दो मोक्षमार्ग कहे हैं। द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ में आता है :–

'दुविहंपि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा'। त्रिकाली ध्रुव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, यह निश्चयमोक्षमार्ग और अन्दर में निर्विकल्प ध्यान में बुद्धिपूर्वक राग तो नहीं है, किन्तु जो अबुद्धिपूर्वक राग रहता है, इसे आरोपित करके व्यवहारमोक्षमार्ग कहा। इसतरह निर्विकल्प ध्यान में मुनिराज को अकेला निश्चय ही है, व्यवहार नहीं है; – ऐसा नहीं है, वहाँ व्यवहार भी है। यहाँ तो यह कहते हैं कि ध्यान का फल सम्पूर्ण निर्विकल्पता जिनको हुई है, ऐसे केवलज्ञानी को व्यवहार नहीं रहता, क्योंकि पूर्णदशा में कोई राग नहीं रहता, किन्तु सम्पूर्ण वीतरागता है। जो पूर्णदशा हुई, वे उसे मात्र जानते हैं।

और जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके, साधक-अवस्था में ही स्थित हैं, उन्हें व्यवहार द्वारा भी उपदेश करने योग्य है। सम्यग्दर्शन हुआ है, किन्तु सम्यग्ज्ञान-चारित्र पूर्ण नहीं हुए। सर्वज्ञता की प्रतीति हुई है, किन्तु सर्वज्ञपद प्रगट

नहीं हुआ है। ऐसी साधक दशा में जो स्थित हैं, वे 'व्यवहारदेशिताः' अर्थात् व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं। शब्द तो 'व्यवहारदेशिताः', किन्तु इसका वाच्यार्थ तो यह है कि उसकाल में जो कुछ व्यवहार है, वह जानने योग्य है। प्रतिसमय साधक को शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता घटती है। जिस समय जितनी शुद्धता-अशुद्धता है, वह मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग है। भाई! यह कोई कथा वार्ता नहीं है। दिगम्बर सन्त तो केवलीभगवान के आड़तिया (संदेशवाहक) हैं। उन्होंने केवली के पेट को खोलकर बात की है अर्थात् उनकी वाणी का रहस्य समझाया है।

मुनिराज तो अपने आनन्द में मग्न हैं। उस दशा में उन्हें विकल्प उठता है और शास्त्र, शास्त्र के कारण लिखा जाता है। यद्यपि इस काल उन्हें पूर्णता नहीं है, अतः अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं, शास्त्र बनाने का भी विकल्प आ जाता है, तथापि शास्त्र की रचना विकल्प के कारण नहीं होती है, स्वयं स्वयं के कारण होती है।

अशुद्धता को जो जाना हुआ प्रयोजनवान कहा, उसका आशय यह है कि वह हेय है, त्रिकालीध्रुव उपादेय है – इसप्रकार जानकर उस पर से दृष्टि हटाकर त्रिकालीध्रुव पर ले जाना इष्ट है।

वस्तु जो अखण्ड एक ज्ञायकभाव है, वह परिपूर्ण है, कृतकृत्य है। इसे तो कुछ करना नहीं है, किन्तु इसकी दृष्टि करने वाले साधक को जबतक पर्याय में कृतकृत्य पूर्णदशा प्रगट न हो तबतक स्थिरता करनी है और अस्थिरता छोड़नी है, इसलिए उसे व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है – ऐसा कहना चाहते हैं। पर्याय में परिपूर्ण कृतकृत्य हुए परमात्मा को स्थिरता बढाना और अस्थिरता मिटाना आदि कुछ करना शेष नहीं रहता, इसलिए उनको व्यवहार नहीं होता है।

गाथा १२ की टीका पर प्रवचन

लोक में सोलहवान का सोना प्रसिद्ध है। सोना जबतक चौदहवान या पन्द्रहवान का होता है, तबतक उसमें चूरी आदि की मलिनता अर्थात् अशुद्धता रहती है। उस अशुद्ध सोने को अग्नि की आँच देते-देते क्रम-क्रम से शुद्ध करके सम्पूर्ण सोलहवान शुद्ध करते हैं। जिसको अंतिमपाक से उतरा हुआ सोलहवान का सोना प्राप्त हो गया है, उसे तो चौदहवान, पन्द्रहवान आदि अशुद्ध दशाओं को जानने जैसा कुछ रहा नहीं; किन्तु जिसे

सोलहवान के सोने का प्रयोजन है, किन्तु अभी प्राप्त हुआ नहीं है, उसे सोने की चौदहवान, पन्द्रहवान की दशायें जानना प्रयोजनभूत है। सोलह-वान का सोना प्राप्त हो जाने के बाद उससे नीचे की दशाएं जानने के लिए भी प्रयोजनवान नहीं रहतीं।

इसप्रकार जिस जीव को केवलज्ञान की पूर्णदशा प्राप्त हो गई है उसे तो त्रिकालीस्वभाव का आश्रय करने को रहा नहीं है, क्योंकि उसका शुद्धनय पूर्ण प्रगट हो गया है। आस्रव अधिकार में आता है कि केवलज्ञान प्रगट होने पर शुद्धनय पूर्ण हो जाता है। इसकारण जिसने पर्याय में उत्कृष्ट अचलित अखंड एकस्वभावरूप एकभाव प्रगट किया है अर्थात् पर्याय में जिसने पूर्णदशा प्रगट की है, उसे तो शुद्धनय ही सबसे ऊपर की एकभूमिका समान होने से पूर्ण है, और वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। यहाँ जाना हुआ प्रयोजनवान है अर्थात् जो पूर्णदशा प्रगट हो गई है, उसे मात्र जानता है।

एक ओर ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय भी सद्भूतव्यवहार है, और यहाँ ऐसा कहा है कि केवलज्ञान होने पर शुद्धनय पूर्ण हो गया है ?

यहाँ तो केवलज्ञान होने पर शुद्धनय का आश्रय लेने को शेष नहीं रहा – इस अपेक्षा से कथन है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन किया है, उस अपेक्षा को बराबर समझनी चाहिए।

परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण समान अनुत्कृष्ट मध्यमभाव का अनुभव करते हैं – अर्थात् उन्होंने निजशुद्धात्मा की दृष्टिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, कुछ चारित्र भी प्रगट हुआ है, किन्तु पूर्ण चारित्रदशा तथा केवलज्ञान नहीं है, उन्हें मध्यमभाव वर्तता है – ऐसे साधक पुरुषों को अशुद्धद्रव्य को कहने वाला होने से व्यवहारनय उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है।

यहाँ द्रव्य को अशुद्ध कहा; इसका आशय यह है कि एक तो पर्याय में पूर्ण शुद्धता नहीं है, तथा रागादिक अशुद्धता भी है। दूसरे पर्यायगत अशुद्धता स्वयं द्रव्य की है, पर के कारण अशुद्धता या शुद्धता नहीं हुई है।

जुदे-जुदे एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं अर्थात् पहले समय में जो शुद्धि प्रगटी उसकी अपेक्षा दूसरे समय में विशेष, तीसरे समय में इससे भी विशेष ऐसे बढती जाती है; और साथ-साथ अशुद्धि प्रति-समय क्रमशः घटती जाती है। इसप्रकार शुद्धता-अशुद्धता का अंश अनेक

प्रकार का है। यह दिखाने वाला व्यवहार उस-उस काल में साधक दशा में जाना हुआ प्रयोजनवान है।

दृष्टि का विषय जो आत्मा त्रिकालध्रुव एकरूप शुद्ध है, वह निश्चय है, सत्यार्थ है। उसकी अपेक्षा पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर गाथा ११ में असत्यार्थ कहा है। परन्तु यहाँ उसका अस्तिपना स्थापित करते हैं। व्यवहारनय की दृष्टि से व्यवहारनय और व्यवहारनय का विषय है। जैसे – अशुद्ध सोने को अग्नि की आँच देने पर जब तक सोना सम्पूर्ण सोलहवान शुद्ध नहीं होता तबतक अनेक रंग-भेद उपन्न होते हैं; उसी-प्रकार जवतक आत्मा में पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो, तब तक उसकी अवस्थाऐं जो भिन्न-भिन्न शुद्धता-अशुद्धता के अंशों सहित होती हैं – वह व्यवहार है। वह मात्र जानने योग्य है, आदरने योग्य नहीं। त्रिकाली शुद्ध निश्चय एकही आदरणीय है। यदि दोनों नय आदरणीय हों तो दो नय ही नहीं रहेंगे। इससे त्रिकालीध्रुव सत्स्वरूप आदरणीय है और व्यवहार-नय हेय है – ऐसा जानना यह प्रयोजनवान है।

भाई! यह अन्तर का मार्ग गहरे रहस्य से भरा हुआ है। इसको समझने के लिए बहुत पात्रता और उत्साह (होंस) की आवश्यकता है। नियमसार में कहा है कि संवर, निर्जरा, मोक्ष की पर्याय एकसमय की है, नाशवान है, इससे हेय है। किन्तु यहाँ तो ऐसा कहा है कि पर्याय भले ही नाशवान और हेय है, किन्तु यह जानने लायक है। यह व्यवहार का विषय है। नय है तो इसका विषय भी है। निश्चय के काल में निश्चय को उपादेय जानना अर्थात् द्रव्य को अभेद अनुभवना कार्यकारी है। उसीतरह व्यवहार के काल में व्यवहार को हेयपने जानना प्रयोजनभूत है। इसतरह दोनों नय कार्यकारी समझना।

अब इनका कारण देते हैं। कहते हैं कि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है। जिससे तिरा जाय वह तीर्थ है। अन्तर में मोक्षमार्ग की पर्याय है, वह तीर्थ है, क्योंकि इससे तिरा जाता है। त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणतास्वरूप जो रत्नत्रय की पर्याय वह तीर्थ है, क्योंकि इससे भी तिरा जाता है। रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय व्यवहार है। यह पर्याय है, इसलिए इसे व्यवहारधर्म कहा है। शुभभावरूप व्यवहारधर्म की बात यहाँ नहीं है। त्रिकालीद्रव्य जो कि निष्क्रिय है वह निश्चय है; उसकी अपेक्षा से मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय व्यवहार है। द्रव्य निश्चयनय का तथा पर्याय व्यवहारनय का

सोलहवान के सोने का प्रयोजन है, किन्तु अभी प्राप्त हुआ नहीं है, उसे सोने की चौदहवान, पन्द्रहवान की दशायें जानना प्रयोजनभूत है। सोलहवान का सोना प्राप्त हो जाने के बाद उससे नीचे की दशाएं जानने के लिए भी प्रयोजनवान नहीं रहतीं।

इसप्रकार जिस जीव को केवलज्ञान की पूर्णदशा प्राप्त हो गई है उसे तो त्रिकालीस्वभाव का आश्रय करने को रहा नहीं है, क्योंकि उसका शुद्धनय पूर्ण प्रगट हो गया है। आस्रव अधिकार में आता है कि केवलज्ञान प्रगट होने पर शुद्धनय पूर्ण हो जाता है। इसकारण जिसने पर्याय में उत्कृष्ट अचलित अखंड एकस्वभावरूप एकभाव प्रगट किया है अर्थात् पर्याय में जिसने पूर्णदशा प्रगट की है, उसे तो शुद्धनय ही सबसे ऊपर की एकभूमिका समान होने से पूर्ण है, और वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। यहाँ जाना हुआ प्रयोजनवान है अर्थात् जो पूर्णदशा प्रगट हो गई है, उसे मात्र जानता है।

एक ओर ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय भी सद्भूतव्यवहार है, और यहाँ ऐसा कहा है कि केवलज्ञान होने पर शुद्धनय पूर्ण हो गया है?

यहाँ तो केवलज्ञान होने पर शुद्धनय का आश्रय लेने को शेष नहीं रहा – इस अपेक्षा से कथन है। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन किया है, उस अपेक्षा को बराबर समझनी चाहिए।

परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्चमान अशुद्धस्वर्ण समान अनुत्कृष्ट मध्यमभाव का अनुभव करते हैं – अर्थात् उन्होंने निजशुद्धात्मा की दृष्टिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, कुछ चारित्र भी प्रगट हुआ है, किन्तु पूर्ण चारित्रदशा तथा केवलज्ञान नहीं है, उन्हें मध्यमभाव वर्तता है – ऐसे साधक पुरुषों को अशुद्धद्रव्य को कहने वाला होने से व्यवहारनय उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है।

यहाँ द्रव्य को अशुद्ध कहा; इसका आशय यह है कि एक तो पर्याय में पूर्ण शुद्धता नहीं है, तथा रागादिक अशुद्धता भी है। दूसरे पर्यायगत अशुद्धता स्वयं द्रव्य की है, पर के कारण अशुद्धता या शुद्धता नहीं हुई है।

जुदे-जुदे एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं अर्थात् पहले समय में जो शुद्धि प्रगटी उसकी अपेक्षा दूसरे समय में विशेष, तीसरे समय में इससे भी विशेष ऐसे बढती जाती है; और साथ-साथ अशुद्धि प्रतिसमय क्रमशः घटती जाती है। इसप्रकार शुद्धता-अशुद्धता का अंश अनेक

प्रकार का है। यह दिखाने वाला व्यवहार उस-उस काल में साधक दशा में जाना हुआ प्रयोजनवान है।

दृष्टि का विषय जो आत्मा त्रिकालध्रुव एकरूप शुद्ध है, वह निश्चय है, सत्यार्थ है। उसकी अपेक्षा पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर गाथा ११ में असत्यार्थ कहा है। परन्तु यहाँ उसका अस्तिपना स्थापित करते हैं। व्यवहारनय की दृष्टि से व्यवहारनय और व्यवहारनय का विषय है। जैसे – अशुद्ध सोने को अग्नि की आँच देने पर जब तक सोना सम्पूर्ण सोलहवान शुद्ध नहीं होता तबतक अनेक रंग-भेद उपन्न होते हैं; उसी-प्रकार जबतक आत्मा में पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो, तब तक उसकी अवस्थाऐं जो भिन्न-भिन्न शुद्धता-अशुद्धता के अंशों सहित होती हैं – वह व्यवहार है। वह मात्र जानने योग्य है, आदरने योग्य नहीं। त्रिकाली शुद्ध निश्चय एकही आदरणीय है। यदि दोनों नय आदरणीय हों तो दो नय ही नहीं रहेंगे। इससे त्रिकालीध्रुव सत्स्वरूप आदरणीय है और व्यवहार-नय हेय है – ऐसा जानना यह प्रयोजनवान है।

भाई ! यह अन्तर का मार्ग गहरे रहस्य से भरा हुआ है। इसको समझने के लिए बहुत पात्रता और उत्साह (होंस) की आवश्यकता हैं। नियमसार में कहा है कि संवर, निर्जरा, मोक्ष की पर्याय एकसमय की है, नाशवान है, इससे हेय है। किन्तु यहाँ तो ऐसा कहा है कि पर्याय भले ही नाशवान और हेय है, किन्तु यह जानने लायक है। यह व्यवहार का विषय है। नय है तो इसका विषय भी है। निश्चय के काल में निश्चय को उपादेय जानना अर्थात् द्रव्य को अभेद अनुभवना कार्यकारी है। उसीतरह व्यवहार के काल में व्यवहार को हेयपने जानना प्रयोजनभूत है। इसतरह दोनों नय कार्यकारी समझना।

अब इनका कारण देते हैं। कहते हैं कि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है। जिससे तिरा जाय वह तीर्थ है। अन्तर में मोक्षमार्ग की पर्याय है, वह तीर्थ है, क्योंकि इससे तिरा जाता है। त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणतास्वरूप जो रत्नत्रय की पर्याय वह तीर्थ है, क्योंकि इससे भी तिरा जाता है। रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय व्यवहार है। यह पर्याय है, इसलिए इसे व्यवहारधर्म कहा है। शुभभावरूप व्यवहारधर्म की बात यहाँ नहीं है। त्रिकालीद्रव्य जो कि निष्क्रिय है वह निश्चय है; उसकी अपेक्षा से मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय व्यवहार है। द्रव्य निश्चयनय का तथा पर्याय व्यवहारनय का

विषय है। कहते हैं कि जो व्यवहारधर्म न हो तो उसका विषयभूत 'तीर्थ' और 'तीर्थ का फल' कहाँ से हो? पर्याय कहाँ से हो? तीर्थ व तीर्थ के फल का ही अभाव होगा। व्यवहार के निषेध से पर्याय का निषेध होता है। केवलज्ञान भी पर्याय है न? पर्याय को न मानो तो मोक्षमार्ग नहीं रहता, और मोक्षमार्ग का फल जो केवलज्ञान और सिद्धपद वह भी नहीं रहता, क्योंकि ये पर्यायें हैं। पर्याय है वह व्यवहार है। इसलिए तीर्थ व तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है। उसे यथार्थ जानना।

व्यवहारधर्म तिरने का उपाय है, इससे कोई कहे कि पुण्यभाव जो शुभराग उससे तिरते हैं, तो उसकी बात झूठी है। शुभराग तो बंध का कारण है, यह तो असद्भूतव्यवहार है। यहाँ तो सद्भूतव्यवहार की बात है। त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है, वह सद्भूतव्यवहार है, वह मोक्षमार्ग है, और मोक्षमार्ग (तीर्थ) का फल केवलज्ञान है। कहा भी है :-

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जई तित्थं, अण्णेण पुण तच्चं॥"

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो! जो तुम जिनमत का प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, कारण कि व्यवहारनय बिना तो तीर्थ (व्यवहारमार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चय बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

जिनमत अर्थात् वीतराग अभिप्राय को प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। 'व्यवहार नहीं है' – ऐसा मत कहो। व्यवहार है, किन्तु गाथा ११ में जो असत्य कहा है, वह तो त्रिकालध्रुव निश्चय की विवक्षा में गौण करके असत्य कहा है; बाकी व्यवहार है, मोक्ष का मार्ग है। व्यवहारनय न मानो तो तीर्थ का नाश हो जायेगा। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि चौदह गुणस्थान जो व्यवहार के विषय हैं, वे हैं। मोक्ष का उपाय जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं, वे व्यवहार हैं। चौदह गुणस्थान द्रव्य में नहीं हैं, यह तो ठीक; किन्तु पर्याय में भी नहीं हैं, ऐसा कहोगे तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा। तथा तीर्थ का फल जो मोक्ष और सिद्धपद है, उसका भी अभाव हो जायगा। ऐसा होने पर जीव के संसारी और सिद्ध ऐसे जो दो विभाग पड़ते हैं, वह व्यवहार भी नहीं रहेगा।

भाई, बहुत गंभीर अर्थ है। भाषा तो देखो! यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को 'तीर्थ' कहा और वस्तु को 'तत्त्व' कहा है। त्रिकालीध्रुव

चैतन्यघन वस्तु निश्चय है। उस वस्तु को जो नहीं मानेंगे तो तत्त्व का नाश हो जायगा। और तत्त्व के अभाव में, तत्त्व के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो मोक्षमार्गरूप तीर्थ, वह भी नहीं रहेगा। इस निश्चयरूप वस्तु को नहीं मानने से तत्त्व का और तीर्थ का दोनों का नाश हो जायगा, इसलिए वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा यथार्थ मानना।

जबतक पूर्णता नहीं हुई, तबतक निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं। पूर्णता हो गई अर्थात् स्वयं स्वयं में पूर्ण स्थिर हो गया, वहाँ सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये। उसमें तीर्थ व तीर्थफल सभी कुछ आ गया।

भाई! अशुभ से बचने के लिए शुभराग आता अवश्य है, किन्तु यह कोई मूलमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं है। तथापि कोई शुभराग और उसके निमित्त अरहन्तादि को मूल से उखाड़े तो ऐसा भी नहीं है। प्रतिमा, मंदिर वगैरह हैं, किन्तु ये शुभराग के निमित्त हैं। इनका आश्रय करने से धर्म नहीं हो जाता। धर्म तो एकमात्र त्रिकाली चैतन्यभगवान पूर्णानन्द के आश्रय बिना दूसरे किसी प्रकार से नहीं होता। वस्तु तो अखंड, शुद्ध, कृतकृत्य है। 'करना' पर्याय में आता है। मोक्षमार्ग करनेरूप है, अतः पर्याय होने से व्यवहार है।

गाथा १२ के भावार्थ पर प्रवचन

लोक में सोलहवान का सोना प्रसिद्ध है; पन्द्रहवान तक सोने में मैल (चूरी) तांबे का अंश वगैरह रहता है। जो अशुद्ध सोना ताप (आँच) देने पर पूर्ण शुद्ध हो जाता है, उसे शुद्ध सोलहवान का सोना कहते हैं। पन्द्रहवान तक का सोना अशुद्ध है। जिन जीवों को सोने का पूर्णज्ञान, श्रद्धान और प्राप्ति हो गई है, उन्हें पन्द्रहवान तक के सोने का कोई प्रयोजन नहीं है। जिनको सोलहवान शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई, उनको पन्द्रहवान तक का सोना जानने योग्य है, जानने के लिए प्रयोजनवान है।

इसीप्रकार जीव नाम का पदार्थ पुद्गल के संयोग से पर्याय में अशुद्ध – अनेकरूप हो रहा है। जिसको सब द्रव्यों से भिन्न, ज्ञायकस्वभावी चैतन्यसूर्य की श्रद्धा, ज्ञान और आचरणरूप प्राप्ति होकर पूर्णदशा प्राप्त हो गई है; उसे तो पुद्गल-संयोगजनित अनेकरूपता का कहने वाला अशुद्धनय किसी प्रयोजन का नहीं है, क्योंकि अशुद्धता है ही नहीं। किन्तु जबतक पूर्ण शुद्धस्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई, तबतक जितना अशुद्धनय का कथन है, वह यथापदवी जानने के लिए प्रयोजनवान है। कितने ही लोग इसमें से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि बारहवीं गाथा में 'व्यवहारनय करना'–

विषय है। कहते हैं कि जो व्यवहारधर्म न हो तो उसका विषयभूत 'तीर्थ' और 'तीर्थ का फल' कहाँ से हो? पर्याय कहाँ से हो? तीर्थ व तीर्थ के फल का ही अभाव होगा। व्यवहार के निषेध से पर्याय का निषेध होता है। केवलज्ञान भी पर्याय है न? पर्याय को न मानो तो मोक्षमार्ग नहीं रहता, और मोक्षमार्ग का फल जो केवलज्ञान और सिद्धपद वह भी नहीं रहता, क्योंकि ये पर्यायें हैं। पर्याय है वह व्यवहार है। इसलिए तीर्थ व तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है। उसे यथार्थ जानना।

व्यवहारधर्म तिरने का उपाय है, इससे कोई कहे कि पुण्यभाव जो शुभराग उससे तिरते हैं, तो उसकी बात झूठी है। शुभराग तो बंध का कारण है, यह तो असद्भूतव्यवहार है। यहाँ तो सद्भूतव्यवहार की बात है। त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है, वह सद्भूतव्यवहार है, वह मोक्षमार्ग है, और मोक्षमार्ग (तीर्थ) का फल केवलज्ञान है। कहा भी है :–

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जई तित्थं, अण्णेण पुण तच्चं॥"

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो! जो तुम जिनमत का प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, कारण कि व्यवहारनय बिना तो तीर्थ (व्यवहारमार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चय विना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

जिनमत अर्थात् वीतराग अभिप्राय को प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। 'व्यवहार नहीं है' – ऐसा मत कहो। व्यवहार है, किन्तु गाथा ११ में जो असत्य कहा है, वह तो त्रिकालध्रुव निश्चय की विवक्षा में गौण करके असत्य कहा है; बाकी व्यवहार है, मोक्ष का मार्ग है। व्यवहारनय न मानो तो तीर्थ का नाश हो जायेगा। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि चौदह गुणस्थान जो व्यवहार के विषय हैं, वे हैं। मोक्ष का उपाय जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं, वे व्यवहार हैं। चौदह गुणस्थान द्रव्य में नहीं हैं, यह तो ठीक; किन्तु पर्याय में भी नहीं हैं, ऐसा कहोगे तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा। तथा तीर्थ का फल जो मोक्ष और सिद्धपद है, उसका भी अभाव हो जायगा। ऐसा होने पर जीव के संसारी और सिद्ध ऐसे जो दो विभाग पड़ते हैं, वह व्यवहार भी नहीं रहेगा।

भाई, बहुत गंभीर अर्थ है। भाषा तो देखो! यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को 'तीर्थ' कहा और वस्तु को 'तत्त्व' कहा है। त्रिकालीध्रुव

चैतन्यघन वस्तु निश्चय है। उस वस्तु को जो नहीं मानेंगे तो तत्त्व का नाश हो जायगा। और तत्त्व के अभाव में, तत्त्व के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो मोक्षमार्गरूप तीर्थ, वह भी नहीं रहेगा। इस निश्चयरूप वस्तु को नहीं मानने से तत्त्व का और तीर्थ का दोनों का नाश हो जायगा, इसलिए वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा यथार्थ मानना।

जबतक पूर्णता नहीं हुई, तबतक निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं। पूर्णता हो गई अर्थात् स्वयं स्वयं में पूर्ण स्थिर हो गया, वहाँ सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये। उसमें तीर्थ व तीर्थफल सभी कुछ आ गया।

भाई! अशुभ से बचने के लिए शुभराग आता अवश्य है, किन्तु यह कोई मूलमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं है। तथापि कोई शुभराग और उसके निमित्त अरहन्तादि को मूल से उखाड़े तो ऐसा भी नहीं है। प्रतिमा, मंदिर वगैरह हैं, किन्तु ये शुभराग के निमित्त हैं। इनका आश्रय करने से धर्म नहीं हो जाता। धर्म तो एकमात्र त्रिकाली चैतन्यभगवान पूर्णानन्द के आश्रय बिना दूसरे किसी प्रकार से नहीं होता। वस्तु तो अखंड, शुद्ध, कृतकृत्य है। 'करना' पर्याय में आता है। मोक्षमार्ग करनेरूप है, अतः पर्याय होने से व्यवहार है।

गाथा १२ के भावार्थ पर प्रवचन

लोक में सोलहवान का सोना प्रसिद्ध है; पन्द्रहवान तक सोने में मैल (चूरी) तांबे का अंश वगैरह रहता है। जो अशुद्ध सोना ताप (आँच) देने पर पूर्ण शुद्ध हो जाता है, उसे शुद्ध सोलहवान का सोना कहते हैं। पन्द्रहवान तक का सोना अशुद्ध है। जिन जीवों को सोने का पूर्णज्ञान, श्रद्धान और प्राप्ति हो गई है, उन्हें पन्द्रहवान तक के सोने का कोई प्रयोजन नहीं है। जिनको सोलहवान शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई, उनको पन्द्रहवान तक का सोना जानने योग्य है, जानने के लिए प्रयोजनवान है।

इसीप्रकार जीव नाम का पदार्थ पुद्गल के संयोग से पर्याय में अशुद्ध – अनेकरूप हो रहा है। जिसको सब द्रव्यों से भिन्न, ज्ञायकस्वभावी चैतन्यसूर्य की श्रद्धा, ज्ञान और आचरणरूप प्राप्ति होकर पूर्णदशा प्राप्त हो गई है; उसे तो पुद्गल-संयोगजनित अनेकरूपता का कहने वाला अशुद्धनय किसी प्रयोजन का नहीं है, क्योंकि अशुद्धता है ही नहीं। किन्तु जबतक पूर्ण शुद्धस्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई, तबतक जितना अशुद्धनय का कथन है, वह यथापदवी जानने के लिए प्रयोजनवान है। कितने ही लोग इसमें से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि बारहवीं गाथा में 'व्यवहारनय करना'–

विषय है। कहते हैं कि जो व्यवहारधर्म न हो तो उसका विषयभूत 'तीर्थ' और 'तीर्थ का फल' कहाँ से हो ? पर्याय कहाँ से हो ? तीर्थ व तीर्थ के फल का ही अभाव होगा। व्यवहार के निषेध से पर्याय का निषेध होता है। केवलज्ञान भी पर्याय है न ? पर्याय को न मानो तो मोक्षमार्ग नहीं रहता, और मोक्षमार्ग का फल जो केवलज्ञान और सिद्धपद वह भी नहीं रहता, क्योंकि ये पर्यायें हैं। पर्याय है वह व्यवहार है। इसलिए तीर्थ व तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है। उसे यथार्थ जानना।

व्यवहारधर्म तिरने का उपाय है, इससे कोई कहे कि पुण्यभाव जो शुभराग उससे तिरते हैं, तो उसकी बात झूठी है। शुभराग तो बंध का कारण है, यह तो असद्भूतव्यवहार है। यहाँ तो सद्भूतव्यवहार की बात है। त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय से जो पर्याय प्रगट होती है, वह सद्भूतव्यवहार है, वह मोक्षमार्ग है, और मोक्षमार्ग (तीर्थ) का फल केवलज्ञान है। कहा भी है :-

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जई तित्थं, अण्णेण पुण तच्चं॥"

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! जो तुम जिनमत का प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, कारण कि व्यवहारनय विना तो तीर्थ (व्यवहारमार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चय विना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

जिनमत अर्थात् वीतराग अभिप्राय को प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। 'व्यवहार नहीं है' - ऐसा मत कहो। व्यवहार है, किन्तु गाथा ११ में जो असत्य कहा है, वह तो त्रिकालध्रुव निश्चय की विवक्षा में गौण करके असत्य कहा है; बाकी व्यवहार है, मोक्ष का मार्ग है। व्यवहारनय न मानो तो तीर्थ का नाश हो जायेगा। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि चौदह गुणस्थान जो व्यवहार के विषय हैं, वे हैं। मोक्ष का उपाय जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं, वे व्यवहार हैं। चौदह गुणस्थान द्रव्य में नहीं हैं, यह तो ठीक; किन्तु पर्याय में भी नहीं हैं, ऐसा कहोगे तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा। तथा तीर्थ का फल जो मोक्ष और सिद्धपद है, उसका भी अभाव हो जायगा। ऐसा होने पर जीव के संसारी और सिद्ध ऐसे जो दो विभाग पड़ते हैं, वह व्यवहार भी नहीं रहेगा।

भाई, बहुत गंभीर अर्थ है। भाषा तो देखो ! यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को 'तीर्थ' कहा और वस्तु को 'तत्त्व' कहा है। त्रिकालीध्रुव

चैतन्यघन वस्तु निश्चय है। उस वस्तु को जो नहीं मानेंगे तो तत्त्व का नाश हो जायगा। और तत्त्व के अभाव में, तत्त्व के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो मोक्षमार्गरूप तीर्थ, वह भी नहीं रहेगा। इस निश्चयरूप वस्तु को नहीं मानने से तत्त्व का और तीर्थ का दोनों का नाश हो जायगा, इसलिए वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा यथार्थ मानना।

जबतक पूर्णता नहीं हुई, तबतक निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं। पूर्णता हो गई अर्थात् स्वयं स्वयं में पूर्ण स्थिर हो गया, वहाँ सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये। उसमें तीर्थ व तीर्थफल सभी कुछ आ गया।

भाई! अशुभ से वचने के लिए शुभराग आता अवश्य है, किन्तु यह कोई मूलमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं है। तथापि कोई शुभराग और उसके निमित्त अरहन्तादि को मूल से उखाड़े तो ऐसा भी नहीं है। प्रतिमा, मंदिर वगैरह हैं, किन्तु ये शुभराग के निमित्त हैं। इनका आश्रय करने से धर्म नहीं हो जाता। धर्म तो एकमात्र त्रिकाली चैतन्यभगवान पूर्णानन्द के आश्रय बिना दूसरे किसी प्रकार से नहीं होता। वस्तु तो अखंड, शुद्ध, कृतकृत्य है। 'करना' पर्याय में आता है। मोक्षमार्ग करनेरूप है, अतः पर्याय होने से व्यवहार है।

गाथा १२ के भावार्थ पर प्रवचन

लोक में सोलहवान का सोना प्रसिद्ध है; पन्द्रहवान तक सोने में मैल (चूरी) तांबे का अंश वगैरह रहता है। जो अशुद्ध सोना ताप (आँच) देने पर पूर्ण शुद्ध हो जाता है, उसे शुद्ध सोलहवान का सोना कहते हैं। पन्द्रहवान तक का सोना अशुद्ध है। जिन जीवों को सोने का पूर्णज्ञान, श्रद्धान और प्राप्ति हो गई है, उन्हें पन्द्रहवान तक के सोने का कोई प्रयोजन नहीं है। जिनको सोलहवान शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई, उनको पन्द्रहवान तक का सोना जानने योग्य है, जानने के लिए प्रयोजनवान है।

इसीप्रकार जीव नाम का पदार्थ पुद्‌गल के संयोग से पर्याय में अशुद्ध – अनेकरूप हो रहा है। जिसको सब द्रव्यों से भिन्न, ज्ञायकस्वभावी चैतन्यसूर्य की श्रद्धा, ज्ञान और आचरणरूप प्राप्ति होकर पूर्णदशा प्राप्त हो गई है; उसे तो पुद्‌गल-संयोगजनित अनेकरूपता का कहने वाला अशुद्धनय किसी प्रयोजन का नहीं है, क्योंकि अशुद्धता है ही नहीं। किन्तु जबतक पूर्ण शुद्धस्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई, तबतक जितना अशुद्धनय का कथन है, वह यथापदवी जानने के लिए प्रयोजनवान है। कितने ही लोग इसमें से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि वारहवीं गाथा में 'व्यवहारनय करना'–

ऐसा कहा है, किन्तु वस्तुतः ऐसा है ही नहीं। यहाँ तो यह बताते हैं कि किस समय किसको कैसा व्यवहार होता है। जैसे कि किसी जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है, किन्तु पूर्णदशा नहीं हुई, उन्हें अमुक प्रकार का व्यवहार बीच में आये बिना नहीं रहता।

जबतक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तबतक तो जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है – ऐसे जिनवचन सुनना। ऐसा भाव सम्यग्दर्शन होने से पहले होता है। यहाँ 'यथार्थ उपदेश' पर वजन है। कुछ लोग कहते हैं कि 'व्रत करो, दान करो तो समकित होगा और धर्म होगा' – परन्तु भाई ये जिनवचन नहीं हैं, यथार्थ उपदेश नहीं है। जिससे सम्यग्दर्शनादि वीतरागता का प्रयोजन सिद्ध हो, वह यथार्थ उपदेश है। पंचास्तिकाय में 'शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है'–ऐसा कहा है। तथा 'आत्मावलोकन' शास्त्र में आता है कि मुनिजन बारम्बार वीतरागभाव का उपदेश देते हैं अर्थात् निमित्त, राग और पर्याय से लक्ष्य हटाकर त्रिकाली ज्ञायकभाव का लक्ष्य करो जिससे सम्यग्दर्शनादि वीतरागतारूप धर्म हो। ऐसा उपदेश ही यथार्थ उपदेश है, क्योंकि वीतराग-भाव एकमात्र स्वद्रव्य के आश्रय से होता है।

तथा 'जिससे उपदेश मिले'– ऐसा न कहकर 'जिससे यथार्थ उपदेश मिले'– ऐसी भाषा का प्रयोग किया है। इसमें भी विशेषभाव है। वह यह कि उपदेश सुनाने वाले गुरु भी वीतरागी – सत्पुरुष ही होने चाहियें। जहाँ-तहाँ माथा मारे तो मिथ्यात्व की ही पुष्टि होती है। अतः यथार्थ उपदेश-दाता के निर्णय करने की जवाबदारी भी है। जिस सत्पुरुष के वचन वीतरागता की पुष्टि करें, उन्हीं के वचन सुनने योग्य हैं। ऐसा सत्पुरुष भी खोजना पड़ेगा। श्रीमद् ने कहा है 'सत्पुरुष को खोज'। उपदेश और उपदेशक दोनों वीतरागता के पोषक होने चाहियें। देखो, निमित्त भी यथायोग्य होता है। वीतरागता के वचन तो ऐसे होते हैं कि एकदम आत्मा का आश्रय कराकर पर का आश्रय छुड़ाते हैं।

जिनवचनों का सुनना, गुरुवचनों का सुनना – ये हैं तो शुभविकल्प, किन्तु उस काल में ऐसा विकल्प होता है। यहाँ सम्यग्दर्शन पाने के लिए जिनवचन सुनने को कहा है; किन्तु सुनने मात्र से सम्यग्दर्शन नहीं होता। ११वीं गाथा में कहा है कि भूतार्थ के आश्रय से अर्थात् त्रिकालीध्रुव निजज्ञायकभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि धर्म होता है; सुनने से नहीं, निमित्त से नहीं। अरे! रे! क्षण-क्षण में निमित्त के तथा राग के प्रेम में अनाकुलस्वभावी आत्मा का आनन्द लुट रहा है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें अधिकार में आता है कि "मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना – यही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर, गणधरादिक भी ऐसा ही उपकार करते हैं; इसलिए इस शास्त्र में भी उन्हीं के उपदेशानुसार उपदेश देते हैं।"

एक ओर ऐसा कहते हैं, कि कोई अन्य का उपकार कर नहीं सकता और यहाँ मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उपकार करने को कहा है, सो यह किसप्रकार संभव है ?

अरे भाई ! यह तो निमित्त की अपेक्षा कथन है। जब यथायोग्य निमित्त का ज्ञान कराना हो, तब ऐसा कथन आता है।

जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी है, उसकी उसे कीमत नहीं है। उसीप्रकार भगवान आत्मा आनन्द का कंद है, पर अपने अनंत सामर्थ्य की अज्ञानी को कीमत नहीं है। इसकी शक्तियाँ अर्थात् गुण ज्ञान, दर्शन, आनंद, शांति, स्वच्छता वगैरह हैं। इन शक्तियों का माप नहीं है। जो स्वभाव है, उसका माप क्या ? अमाप ज्ञान, अमाप दर्शन, अमाप स्वच्छता आदि अनंत शक्तियाँ भरी हैं। स्वयं पूर्ण ईश्वर है, ऐसा भगवान पूर्णानंद-स्वरूप है। इसे जाने, इसमें प्रवेश करके गहरा उतर कर जाने। सम्यग्दर्शन पाने के पहले ऐसा व्यवहार होता है। जिसे निश्चयधर्म प्रगट हो, उसका उक्त कार्य व्यवहार कहलाता है, अन्यथा व्यवहार भी नहीं। 'त्रिकालीध्रुव-द्रव्य के आश्रय से धर्म प्रगट होता है' – ऐसे जिनवचन वह सुनता है। सुनने से समकित होता है, ऐसा नहीं है; किन्तु समकित-सन्मुख जीव को ऐसे ही जिनवचन का उपदेश निमित्त होता है।

अहा ! जीव स्वयं मिथ्याश्रद्धान से अनंत-अनंत जन्म-मरण करके अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। 'कषाय की मंदता से धर्म होता है, निमित्त ठीक हो तो अपना कार्य हो, ज्ञान का क्षयोपशम विशेष हो तो आत्मदर्शन हो।' – आदि अनेक शल्यें संसार-वृद्धि की कारण हैं। इस मिथ्याश्रद्धान को दूर करके जन्म-मरण का अंत कराने वाले जिन-वचनों का यथार्थ उपदेश जिससे मिले, उससे सुनता है।

आगे कलश चार में आता है कि – 'जिनवचसि रमन्ते'। उसका अर्थ कलश टीकाकार ने किया है कि भाई ! वाणी तो जड़पुद्गल है, क्या उस जड़ में रमना ? तो कहते हैं कि जिनवचन में पूर्णानंद का नाथ भगवान त्रिकाली शुद्ध जीववस्तु उपादेय कही है, उसे पकड़कर ग्रहण करके रमे अर्थात् उसमें एकाग्रता करे। पर्याय, राग या निमित्त उपादेय नहीं है।

तथा जिनवचन तो निश्चय व व्यवहार दोनों रूप हैं। क्या दोनों में रमना ? तो कहते हैं कि दोनों तो उपादेय हो ही नहीं सकते। किन्तु दिव्यध्वनि में जो शुद्ध जीववस्तु को उपादेय कहा है, उसमें सावधानी से रुचि, श्रद्धा, प्रतीति करे; प्रत्यक्ष अनुभव करे – उसे जिनवचन में रमना कहते हैं।

तथा कैसे हैं जिनवचन ? तो कहते हैं कि निश्चय व व्यवहार दोनों नयों के विरोध को मिटाने वाले हैं। निश्चय और व्यवहार दोनों जिनवचन हैं; परन्तु निश्चय व व्यवहार में परस्पर विषय का विरोध है तथा निश्चय का फल मोक्ष और व्यवहार का फल संसार है। हस्तावलम्बन जानकरके जिनवचन में व्यवहार का बहुत उपदेश है; किन्तु उसका फल संसार कहा है। तो क्या दोनों में रमें ? तो कहते हैं कि जिनवचन में प्रयोजनवश व्यवहार को गौण करके तथा निश्चय को मुख्य करके शुद्ध जीववस्तु उपादेय कही है। उस एक में ही एकाग्र होने को रमना कहा है, और यही यथार्थ उपदेश है।

जिनवाणी के यथार्थ उपदेशक ज्ञानी गुरुओं की भक्ति, जिनबिम्बों के दर्शनरूप व्यवहारमार्ग में प्रवृत्ति करना भी प्रयोजनवान है। सम्यग्दर्शन होने के पहले पात्र जीवों को जिनवाणी सुनने के साथ-साथ सच्चे देव व सच्चे गुरु की भक्ति का भाव भी अवश्य आता है। किन्तु भक्ति करने से सम्यक्त नहीं होता। भक्ति का फल पुण्यबंध है, सम्यग्दर्शन नहीं। समवशरण में साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा बिराजते हैं, उनकी भक्ति भी अनंतबार की, किन्तु भक्ति से सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। भक्ति के भाव से तो सम्यक्त होता ही नहीं, इस भक्ति पर लक्ष्य रखने वाले ज्ञान के सूक्ष्म अंश के आश्रय से भी सम्यक्त नहीं होता। प्रभु ! यह तो संसार को उखाड़ फेंकने व भव का अंत करने और मोक्ष की तैयारी करने की बात चलती है। जिनवचन, जिनगुरु व जिनदेव के प्रति जो लक्ष्य होता है वह तो राग है। यह कोई समकित नहीं है। तथापि समकित होने के पहले ऐसा ही व्यवहार होता है।

तथा जिनबिम्ब के दर्शन का भी भाव होता है। जैसे समवशरण में वीतराग अरहंत परमात्मा होते हैं, वैसी ही वीतरागमूर्ति को जिनबिम्ब कहते हैं। अन्य आभूषण आदि से युक्त मूर्ति – वह जिनबिम्ब नहीं है। भगवान तो नग्न-दिगम्बर वीतरागस्वरूप होते हैं, वैसी ही नग्न-दिगम्बर वीतरागी मूर्ति जिनबिम्ब है। ऐसे जिनबिम्ब के दर्शन, भक्ति, पूजा इत्यादि बाह्यव्यवहार-प्रवर्तन का भाव समकित होने के पहले होता है, परन्तु इससे निश्चयसमकित नहीं होता। निश्चयसमकित तो एकमात्र अखण्ड एक ज्ञायकभाव के अवलम्बन होने पर ही होता है। व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त

होना प्रयोजनवान है – ऐसा जो कहा है उसका आशय यह नहीं है कि शुभभावों की प्रवृत्ति से सम्यग्दर्शन होता है; परन्तु सम्यग्दर्शन होने के पूर्व ऐसे शुभभाव होते हैं – ऐसा सिद्ध किया है।

जिसे श्रद्धा-ज्ञान तो हुआ है, किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई,– ऐसे जीव को पूर्वकथित भाव – जैसे कि जिनवचनों का सुनना, धारण करना, गुरु-भक्ति, जिनबिम्ब-दर्शन इत्यादि होते हैं। वस्तुत: तो सम्यग्दर्शन होने के बाद ही उक्त भाव व्यवहार नाम पाते हैं। सम्यग्दृष्टि को ही सच्चे नय-निक्षेप होते हैं, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को नय-निक्षेप नहीं होते। अज्ञानी का शुभभाव तो व्यवहाराभास है। यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के बाद जबतक पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो तबतक ऐसे भाव होते हैं। किन्तु ऐसे भावों से निश्चय प्राप्त नहीं होता। तथा परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठी के ध्यानरूप प्रवर्तन और इस रीति से प्रवर्तन कराने वालों की संगति करने के भाव होते हैं। यहाँ 'आलम्बन छोड़ने के लिए'– ऐसा कहा है। सो परद्रव्य तो छूटा ही पड़ा है, उसका क्या छोड़ना है? 'परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ना अर्थात् उसकी तरफ का लक्ष्य छोड़ना' – ऐसा समझना। तीव्रकषाय के भाव की निवृत्ति के लिए यह अणुव्रत, महाव्रत आदि के शुभ विकल्प होते हैं। परद्रव्य का ग्रहण करना व छोड़ना तो आत्मा के है ही नहीं। वास्तव में तो 'आत्मा ने राग का नाश किया' – यह कहना भी कथनमात्र है। राग का नाश करना इसके स्वरूप में है ही नहीं। जब यह स्वरूप में स्थिर हो जाता है, तब राग उत्पन्न ही नहीं होता, इसी को 'राग का नाश किया'- ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। देख के चलना, विचार के बोलना, निर्दोष आहारलेना – इत्यादि शुभविकल्पोंरूप ईर्या, भाषा, एषणा आदि समितियों के पालनेरूप व्यवहार होता है। अशुभ से बचने के लिए मन, वचन, काय की शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है। अरहंतादि के ध्यानरूप प्रवर्तन तथा प्रवर्तन कराने वालों की संगति का शुभभाव होता है। तथा विशेष जानने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करने का भाव भी होता है।

कलश टीका के तेरहवें कलश में कहा है कि :–

"कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कुछ अपूर्व लब्धि है। उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि द्वादशांग ज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, इसलिए शुद्धात्मानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।"

सुनने का, वांचने का, शास्त्र के अभ्यास का, उपदेशादि का विकल्प आता है, परन्तु उनसे शुद्धता नहीं बढ़ती है। ऐसा शुभभाव आता है – ऐसे प्रवर्तन करना, इसका अर्थ यह है कि – इसे यथास्थित जानो।

समयसार की आठवीं गाथा में आता है कि :–

जब व्यवहार-परमार्थमार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले सारथी के भाँति अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्द कहने वाला स्वयं ही व्यवहारमार्ग में रहता हुआ 'आत्मा' शब्द का अर्थ ऐसा भेद करके समझाता है कि – 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है' ऐसा व्यवहार का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है; किन्तु व्यवहारनय के उपदेश से ऐसा नहीं समझना कि आत्मा परद्रव्य की क्रिया कर सकता है, तथा ऐसा भी नहीं समझना कि शुभभाव करने से आत्मा शुद्धता को प्राप्त करता है; किन्तु ऐसा समझना कि साधक अवस्था में भूमिकानुसार ऐसा शुभभाव आये बिना नहीं रहता।

यद्यपि व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, ११वीं गाथा में जो व्यवहार को अभूतार्थ – असत्यार्थ कहा है, वह तो गौण करके असत्यार्थ कहा है; तथापि ऐसा न समझकर मात्र 'असत्यार्थ कहा' – इससे कोई व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानकर छोड़ दे, शुभोपयोगरूप व्यवहार को झूठा जानकर छोड़ दे, और शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो हुई नहीं – इससे तो स्वयं अशुभोपयोग में आ जायगा, नीचे गिर जायगा; हिंसा, झूठ आदि तथा भोग आदि अशुभ में आ जायगा, भ्रष्ट होकर जैसा रुचे वैसा स्वच्छन्द प्रवर्तन करेगा, तो नरक आदि गति को प्राप्त होगा तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही परिभ्रमण करेगा। शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो और व्यवहार को छोड़े – यह तो बराबर है। वास्तव में तो शुद्धोपयोगरूप वीतरागदशा की प्राप्ति होने पर व्यवहार स्वयं छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता।

जबतक शुद्धनय का भी आश्रय रहता है, तबतक पूर्णता की प्राप्ति नहीं है अर्थात् केवलज्ञान नहीं है। तबतक जो व्यवहार आता है वह जानने के लिए प्रयोजनवान है। निचली दशा में ऐसा व्यवहार होता है – ऐसा स्याद्वादमत में गुरुओं का उपदेश है, उसे सहीरूप में अवधारण करना चाहिए।

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं :–

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ।।४।।

श्लोकार्थः– **[उभय-नय-विरोध-ध्वंसिनि]** निश्चय और व्यवहार-इन दो नयों के विषय के भेद से परस्पर विरोध है; उस विरोध का नाश करने-वाला **[स्यात् पद-अंके]** 'स्यात्' पद से चिह्नित जो **[जिनवचसि]** जिन-भगवान का वचन (वाणी) है उसमें **[ये रमन्ते]** जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर-प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं) **[ते]** वे **[स्वयं]** अपने आप ही (अन्य कारण के बिना) **[वान्त मोहाः]** मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमन करके **[उच्चैः परं ज्योतिः समयसारं]** इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को **[सपदि ईक्षन्ते एव]** तत्काल ही देखते हैं। वह समयसार-रूप शुद्धआत्मा **[अनवम्]** नवीन उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु पहले कर्मों से आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तरूप हो गया है। और वह **[अनय-पक्ष-अक्षुण्णम्]** सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

भावार्थ :– जिनवचन (जिनवाणी) स्याद्वादरूप है। जंहाँ दो नयों के विषय का विरोध है, जैसे कि जो सत्‌रूप होता है वह असत्‌रूप नहीं होता, जो एक होता है वह अनेक नहीं होता, जो नित्य होता है वह अनित्य नहीं होता, जो भेदरूप होता है वह अभेदरूप नहीं होता, जो शुद्ध होता है वह अशुद्ध नहीं होता – इत्यादि नयों के विषय में विरोध है। वहाँ जिन-वचन कथंचित् विवक्षा से सत्-असत्‌रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिसप्रकार विद्यमान वस्तु है; उसीप्रकार कहकर विरोध मिटा देते हैं, असत् कल्पना नहीं करते। जिनवचन द्रव्या-र्थिक और पर्यायार्थिक–दोनों नयों में, प्रयोजनवश शुद्धद्रव्यार्थिकनयको मुख्य करके उसे निश्चय कहते हैं और अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहते हैं। – ऐसे जिनवचन में जो पुरुष रमण करते हैं वे इस शुद्ध आत्मा को यथार्थ प्राप्त कर लेते हैं; अन्य सर्वथा एकान्तवादी सांख्यादिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्तपक्ष का विषय नहीं है तथापि वे एक ही धर्मको ग्रहण करके वस्तु की असत्य कल्पना करते हैं – जो असत्यार्थ है, वाधासहित मिथ्यादृष्टि है।

कलश ४ पर प्रवचन

निश्चय और व्यवहार नयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है। निश्चयनय का विषय अभेद है, व्यवहारनय का विषय भेद है। निश्चयनय पूर्णानन्दस्वरूप एक अखंड अभेद आत्मा को विषय बनाता है और व्यवहारनय वर्त्तमानपर्याय, राग आदि भेद को विषय बनाता है। इसप्रकार दोनों के विषय में अन्तर है। निश्चय का विषय द्रव्य है, व्यवहार का विषय पर्याय है। इसप्रकार दो नयों का परस्पर विरोध है। इन नयों के विरोध को नाश करने वाले स्यात्पद से चिह्नित जिनवचन हैं। 'स्यात्' अर्थात् कथंचित् – किसी एक अपेक्षा से। जिनवचनों में प्रयोजनवश द्रव्यार्थिकनय को मुख्य करके निश्चय कहा है तथा पर्यायार्थिकनय या अशुद्धद्रव्यार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहा है। पर्याय में जो अशुद्धता है वह द्रव्य की ही है, इसकारण पर्यायार्थिकनय को अशुद्ध–द्रव्यार्थिक कहा है। देखो ! त्रिकाल, ध्रुव, एक, अखण्ड ज्ञायकभाव को मुख्य करके, निश्चय कहकर सत्यार्थ कहा है और पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है। इसप्रकार जिनवचन 'स्यात्' पद द्वारा दोनों नयों का विरोध मिटाते हैं।

कलशटीकाकार ने अर्थ किया है कि – जिनवाणी में – दिव्यध्वनि में त्रिकालशुद्ध चैतन्यमूर्ति जीववस्तु उपादेय कही है। इसमें 'स्यात्' पद आ जाता है। ऐसे स्याद्वादमुद्रित जिनवचन हैं। 'जिन वचसि रमन्ते ये' – यहाँ 'जिनवचन में रमना' इसका अर्थ ऐसा है कि जिनवाणी में जो शुद्ध जीव-वस्तु ज्ञायकभाव उपादेय कहा है उसमें सावधानपने एकाग्र होना, उस ज्ञायकभाव का प्रत्यक्ष वेदन करना।

जीव को राग का व विकार का वेदन तो अनादि से है और उससे यह दुःखी है। अब इस दुःख से छुड़ाने के लिए विकार की–राग की पर्याय को गौण करके भगवान आत्मा सच्चिदानंद, एक, अखण्ड, ज्ञायकभाव में दृष्टि करके उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना, उसमें एकाग्रता और स्थिरता करना, यही सुख का मार्ग है। जो पुरुष जिनवचन में रमते हैं अर्थात् शुद्ध एक ज्ञायकभाव को उपादेय करके प्रचुर प्रीतिसहित उसमें एकाग्रता का वारम्वार अभ्यास करते हैं, वे पुरुष स्वयं ही, अन्य कारणों के विना, मिथ्यात्वकर्म का वमन करते हैं, उनके मिथ्यात्वभाव नहीं रहता, नष्ट हो जाता है।

कैसी भाषा का प्रयोग किया है। 'वान्तमोहा:' अर्थात् मिथ्यात्व का वमन हो जाता है, अब वह पुन: नहीं आयगा। ऐसा ही भाव गाथा ३८ की टीका के अंत में आता है कि – 'निजरस से ही मोह को उखाड़कर, फिर अंकुर न उपजे ऐसा नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।' प्रवचनसार की गाथा ६२ की टीका में भी कहा है कि – 'वह बहिर्मोहदृष्टि तो आगमकौशल्य तथा आत्मज्ञान से नष्ट होने से अब मुझे पुन: उत्पन्न होगी नहीं' अर्थात् आत्मा के अन्तर-अभ्यास से जो मिथ्यात्व का नाश हुआ है वह फिर से नहीं होगा।

नियमसार में आता है कि दो नयों के आश्रय से सब-कुछ कथन करने की जिनवाणी में पद्धति है। उसमें स्याद्वाद समझकर जो निश्चय में रमते हैं अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव की दृष्टि करके उसमें रमणता करते हैं, वे मिथ्यात्व का वमन करके, 'उच्चै: परं ज्योति: समयसारं' इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान, समयसार अर्थात् शुद्धात्मा को 'सपदि ईक्षन्ते एव' तुरन्त देखते ही हैं अर्थात् उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञान है।

जिसमें एकाग्र होकर प्रत्यक्षरूप से अनुभव करते हैं – जानते हैं, वह शुद्धात्मा कैसा है ? अनादिवस्तु है, नई नहीं है, पर्याय में तो वेदन होने से भान हुआ, परन्तु वस्तु तो अनादि की है। 'अनवम्' अर्थात् (ज्ञायकभाव) नया उत्पन्न नहीं हुआ, अनादि है। पहले कर्म से आच्छादित था, पर्यायबुद्धि से रागादि की रुचि की आड़ में ज्ञायकभाव ढक गया था, यह प्रगट व्यक्तरूप हो गया। शक्तिरूप से – स्वभावरूप से तो था ही, किन्तु पर्याय और रागादि के प्रेम में यह जानता नहीं था। वह चैतन्यघन स्वभाव की रुचि और एकाग्रता होने पर व्यक्तरूप प्रगट हो गया, ज्ञान में ज्ञात हो गया।

और कैसा है ? 'अनय पक्ष अक्षुण्णम्' अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता। वेदान्ती कहता है कि द्रव्य एकान्त कूटस्थ है, परिणमनशील नहीं है। तो कितने ही अकेली पर्याय को ही मानते हैं। इसप्रकार जो ऐसा मानते हैं कि एकान्त द्रव्य ही है, पर्याय नहीं है; तथा पर्याय है, द्रव्य नहीं है; वे सब कुनय को मानने वाले हैं। उनके कुनय से वस्तु खण्डित नहीं होती, वह तो जैसी है वैसी अक्षुण्ण रहती है। कोई आत्मा को सर्वव्यापी कहते हैं, कोई शरीरव्यापी कहते हैं, इत्यादि यह सब एकान्त कुनय हैं, परन्तु इन सभी कुनयों से वह (ज्ञायक) खण्डित नहीं होता, वह तो निर्बाध है।

कलश ४ के भावार्थ पर प्रवचन

जिनवचन अर्थात् वीतरागदेव की वाणी स्याद्वादरूप है। स्यात् यानी किसी अपेक्षा से, वाद यानी कथन। जिनवचन में जो अपेक्षा हो उसे बराबर समझना चाहिए।

दो नयों में परस्पर विषय का विरोध है। निश्चय से व्यवहार का विरोध है और व्यवहार से निश्चय का विरोध है। अतः दोनों नय आदरणीय कैसे हो सकते हैं? क्योंकि द्रव्य सत् और असत्रूप नहीं होता, ऐसा लोगों को लगता है।

किन्तु ऐसा नहीं है। स्याद्वाद उसका समाधान कर देता है कि जो स्व से सत् है वही पर से असत् है। इसीप्रकार एक-अनेक में समझ लेना। जो वस्तुपने से एक है, वही पर्याय तथा गुणभेद से अनेक (अनंत) है। वस्तु कायम रहती है, इस अपेक्षा से नित्य है तथा पर्याय बदलती रहती है, इस अपेक्षा से अनित्य है। इसीतरह त्रिकालीद्रव्य की अपेक्षा से अभेद है, और पर्याय या राग की अपेक्षा से भेद है। तथा जो शुद्ध है वही अशुद्ध है। त्रिकालीद्रव्य की अपेक्षा से शुद्ध है, पर्याय की अपेक्षा से अशुद्ध है। यह स्याद्वाद है।

यहाँ प्रश्न है कि – द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय में अशुद्धता आई कहाँ से?

समाधान यह है कि – पर्याय में अशुद्धता का धर्म है, ऐसी ही उस पर्याय की योग्यता है। अशुद्धता कर्म के कारण नहीं आई, अशुद्धता तत्समय की योग्यतारूप पर्याय का धर्म है। भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी को कथंचित् विवक्षा से अर्थात् किसी अपेक्षा से कथन करके दो नय सिद्ध करते हैं। तथा स्याद्वाद वस्तु को सत्-असत्रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिस रीति से वस्तु विद्यमान है, उस रीति से कहकर विरोध मिटा देता है। इसतरह स्याद्वाद वस्तु को जैसा है वैसा सिद्ध करता है, झूठी कल्पना नहीं करता। वस्तु में जो होता है उसी की बात करता है, जो नहीं है उसकी बात नहीं करता। पहले अज्ञानदशा में ऐसा निर्णय था कि 'मैं रागादिस्वरूप ही हूँ'। पश्चात् स्वभाव का भान होने पर ऐसा निर्णय हुआ कि 'मैं शुद्ध हूँ'। पर्याय में ऐसा 'शुद्ध' का अनुभव होता है, निर्णय होता है। इसलिए स्याद्वाद वस्तु को – शुद्ध-अशुद्धरूप जैसी है उसीरूप से अविरोधपने सिद्ध करता है।

यहाँ, आत्मा को सम्यग्दर्शन हो यह प्रयोजन है। इस प्रयोजन को साधने के लिए शुद्धद्रव्यार्थिकनय को अर्थात् शुद्ध त्रिकाली ज्ञायकभाव को

मुख्य करके निश्चय कहा है, तथा अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहा है। द्रव्य पर्याय में अशुद्धपने परिणमा है, इससे अशुद्धद्रव्य कहा है अर्थात् प्रमाण का विषयभूत द्रव्य अशुद्ध है, वह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का यानी पर्यायार्थिकनय का विषय है, उसे गौण करके व्यवहार कहा है। निश्चय की दृष्टि में व्यवहार का स्वरूप भावरूप है। अर्थात् अशुद्धद्रव्यार्थिकनय को गौण करके – पेटे में रखकर – व्यवहार कहा है। अब व्यवहार के ऊपर से दृष्टि हटाली। जो अपनी दृष्टि को शुद्ध जीववस्तु में – त्रिकाली ज्ञायकभाव में – स्थापित करके, अभ्यास करके रमते हैं, वे शुद्ध आत्मा को यथार्थरूप से प्राप्त करते हैं। उन्हें शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वस्तु तो शुद्ध है, किन्तु उसकी दृष्टि करने पर 'शुद्ध है' अर्थात् उसका यथार्थ अनुभव होता है।

अहो! भारत के लोगों का महाभाग्य है कि केवली के विरह को भुलानेवाला यह समयसार ग्रंथ बन गया है।

वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है। भाई! इसके यथार्थ ज्ञान बिना सच्ची श्रद्धा नहीं होती और यथार्थ श्रद्धा बिना सम्यग्दर्शनादि का अनुभव नहीं होता। लोग व्यवहार से हो–हा करके, प्रभावना करके, उसमें धर्म मानते हैं; परन्तु प्रभावना भी अपना लक्ष्य करने से अपनी पर्याय में होती है। 'पुरुष' शब्द का अर्थ 'आत्मा' समझना। 'रमण' शब्द का अर्थ 'क्रीड़ा करना' है, ज्ञानी वस्तु में एकाग्र होकर क्रीड़ा करते हैं, बाहर क्रीड़ा करने नहीं जाते।

ऐसे तो आत्मा-अत्मा कहनेवाले बहुत हैं। वेदांत आदि मत वाले बहुत कहते हैं कि हमें आत्मा का अनुभव है। किन्तु यह सब बिना ठिकाने की बातें हैं। जिनवचन में तो वस्तु को मुख्य-गौण करके सिद्ध किया है। परन्तु सर्वथा एकान्त कहने वाले सांख्य, बौद्ध, वेदान्त आदि वस्तु की स्थिति को नहीं जानते हैं, अतः वे आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते, अर्थात् उन्हें शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्तपक्ष का विषय नहीं है। वेदान्त एक ही धर्म को ग्रहण करके सर्वथा एक ही है ऐसा कहता है और बौद्ध अनेक कहता है। इसतरह वस्तु की असत्य कल्पनाएं करते हैं, इससे असत्यार्थ है, मिथ्यादृष्टि है।

इसप्रकार इन बारह गाथाओं में ग्रंथ की पीठिका (भूमिका) कही।

अब आचार्य शुद्धनय को प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं। अशुद्धनय की (व्यवहारनय की) प्रधानता में जीवादि तत्त्वों

के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, जबकि यहाँ उन जीवादि तत्त्वों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है, यह कहते हैं ।

टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं, उनमें से प्रथम श्लोक में यह कहते हैं कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान कहा तथापि वह कुछ वस्तुभूत नहीं है ।

(मालिनी)

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ।।५।।

श्लोकार्थ :– **(व्यवहरण-नयः)** जो व्यवहारनय है वह **(यद्यपि)** यद्यपि **(इह प्राक्-पदव्यां)** इस पहली पदवी में (जबतक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक) **(निहित-पदानां)** जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों को **(हन्त)** अरे रे ! **(हस्तावलंबः स्यात्)** हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, **(तद्-अपि)** तथापि **(चित्-चमत्कार-मात्रं पर-विरहितं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां)** जो पुरुष चैतन्यचमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें **(एषः)** यह व्यवहारनय **(किञ्चित् न)** कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है ।

भावार्थ :– शुद्धस्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होने के बाद अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनकारी नहीं है ।

कलश ५ पर प्रवचन

व्यवहारनय, जबतक शुद्धस्वरूप आत्मा की प्राप्ति नहीं हो तबतक पहली पदवी में हस्तावलम्बन तुल्य है । पहली पदवी में अर्थात् त्रिकाल शुद्ध, अखण्ड, एक, चैतन्यभाव की दृष्टि होने पर आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन तो हो गया, किन्तु पूर्णचारित्र और पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति नहीं हुई – ऐसी दशा में शुद्धता और अशुद्धता का अंशरूप व्यवहार होता है । गुणस्थान आदि व्यवहारनय (निश्चयदृष्टि में) अभूतार्थ अर्थात् आश्रय करने लायक नहीं होने पर भी आत्मा का अनुभव होने के बाद भी ऐसा व्यवहार होता है । उसे हस्तावलम्बन तुल्य कहकर जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है । बस, इतनी बात है ।

जैसे – मनुष्य जीने पर चढ़ते हैं, तब जीने की लकड़ी पर हाथ का सहारा लेकर चढ़ते हैं। वहाँ हस्तावलम्बन मात्र निमित्त है, चढ़ता तो स्वयं है। उसीतरह यहाँ जीव भी आत्मा के शुद्धचैतन्यस्वभाव के आश्रय से चढ़ता है, किन्तु जबतक पूर्णता न हो तबतक अपूर्णता है। उस पर्यायगत अपूर्णता के भेदों को यथास्थित जानना हस्तावलम्बन समान है।

कविवर बनारसीदासजी ने हस्तावलम्बन का अर्थ इसप्रकार किया है कि – जैसे कोई पहाड़ के ऊपर से गिरता हो उसका हाथ मजबूत पकड़कर गिरने से रोककर रखें। यह निमित्त का कथन है। परम अध्यात्म-तरंगिणी में ऐसा भाव प्रगट किया है कि – 'खेद है कि ऐसा भाव आता है। हमारा वश चले तो व्यवहार का आश्रय न लें, पर क्या करें? अपूर्णता है, इसलिए व्यवहार का आश्रय लिए बिना रहा नहीं जाता'। कलश टीकाकार ने ऐसा अर्थ किया है कि – 'यद्यपि व्यवहारनय हस्तावलम्बन है, तथापि कुछ नहीं, बोध (ज्ञान) करने पर झूठा है।'

सम्यग्दर्शन होने के पहले जो व्यवहार की बात बारहवीं गाथा के भावार्थ में की थी, वह व्यवहार यथार्थ नहीं है। निमित्त, राग और पर्याय की अपेक्षा बिना सीधे द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। इस सम्यग्-दृष्टि को पूर्णता न हुई होने से रागांश आये बिना नहीं रहता। आत्मा (गुरु की सहाय बिना) सीधा स्वयं को जानता है, अनुभव करता है। गुरु के आश्रय से तो सम्यग्दर्शन होता ही नहीं; किन्तु गुरु ने जो उपदेश दिया उससे भी जो परलक्ष्यी ज्ञान हुआ, उस परलक्ष्यी ज्ञान के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन नही होता। शुद्ध ज्ञायकभाव–जो छट्ठी गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त-दशारहित कहा है और ग्यारहवीं गाथा में जो एक भूतार्थ कहा है, उस ज्ञायकभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है।

एक भाई ने प्रश्न किया था कि – आप त्रिकाली आत्मा को कारण-परमात्मा कैसे कहते हो? यदि कारण हो तो कार्य होना चाहिए न?

समाधान :– त्रिकाली आत्मा, कारणपरमात्मा, कारणभगवान, स्व-भावरूप, भूतार्थभाव, ज्ञायकभाव – ये सब एकार्थवाचक हैं। ये कारण तो कार्य उत्पन्न करते ही हैं, पर किसको? जिसने उस कारणपरमात्मा को अन्तर से स्वीकार किया हो – माना हो, उसे। कारणरूप वस्तु तो है ही, चैतन्य के तेज से भरपूर और अनंत-अनंत शक्तियों के सामर्थ्य से परि-पूर्ण भरा हुआ चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा प्रकाशमान तो है ही, पर किसे? जिसने ज्ञान की पर्याय में जाना, उसे। पर्याय ज्ञायक में मिले बिना, पर्याय

पर्यायपने रहकर ज्ञायक की प्रतीति करती है। छठवीं गाथा में आता है न कि – 'वही ज्ञायकभाव समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नपने उपासना में आता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।' ज्ञायकभाव तो शुद्ध ही है, किन्तु स्व-सन्मुख होकर जो शुद्ध का ज्ञान व अनुभव (प्रतीति) करता है, उसे शुद्ध कहा जाता है। अरे! खेद है कि 'जो है, उसे नहीं है' ऐसा कहते हैं; तथा राग और अल्पज्ञ पर्याय को 'मैं हूँ' ऐसा जानते हुए स्वयं को जेल में डाल दिया है।

कलशटीका में (इस श्लोक के अर्थ में) अज्ञानी को भेद से समझाने की बात कही है। अज्ञानी को गुण-गुणी के भेदरूप कथन द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। जैसे कि जीव का लक्षण चेतना – ऐसा कहकर आत्मा समझाते हैं।

व्यवहारनय को हस्तावलम्बन तुल्य कहा है तो भी जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यों के भावों से रहित, शुद्धनय के विषयभूत, परम 'अर्थ' को अर्थात् ज्ञायक परमात्मा को अंतरंग में देखते हैं, प्रत्यक्षरूप से उसकी श्रद्धा करते हैं, तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त करते हैं, उन्हें यह व्यवहारनय किसी भी तरह प्रयोजनवान नहीं है अर्थात् उन्हें व्यवहार नहीं होता।

आगे ४१५वीं गाथा में आया है कि – 'अर्थ से व तत्त्व से जानकर उसी के अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्म में सर्वउद्यम से स्थित होगा।' तत्त्व से व अर्थ से जानकर अर्थात् तत्त्व को जानकर एवं उसका जो विषयभूत अर्थ त्रिकाली ध्रुव आत्मा – उसमें जो स्थित हो, वह मोक्ष को प्राप्त करेगा। वह सुखरूप परिणमन करेगा, सुखरूप हो जायगा।

तत्त्व अर्थात् पदार्थ का भाव, अर्थ अर्थात् पदार्थ–भाववान। भाववान को उसके भाव से जानकर उसके अर्थभूत पूर्ण विज्ञानघन परमब्रह्म में सर्व उद्यम से स्थित होगा, वह आत्मा साक्षात् तत्क्षण प्रगट होने पर एक चैतन्य-रस से भरा हुआ स्वभाव में सुस्थित और निराकुल होने के लिए अनाकु-लता लक्षणयुक्त सुखरूप से स्वयं ही हो जायगा। यहाँ कलश में ऐसा कहा कि जो रागादि पर्यायों से भिन्न, परम चैतन्यचमत्कारमात्र, ध्रुवस्वभाव भाव–ज्ञायकभाव पदार्थ को अंतरंग में अवलोकन करते हैं, उसमें लीन होकर पूर्ण वीतरागता को प्राप्त होते हैं, परम सुखरूप में परिणमन करते हैं, उनके कोई व्यवहार नहीं रहता; अतः उन्हें व्यवहार प्रयोजनवान नहीं है।

कितने ही लोग 'व्यवहार कार्यकारी है'– इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि व्यवहार काम का है और आदरणीय है। उनकी यह समझ ठीक नहीं है। व्यवहार कार्यकारी नहीं है, अपितु जो उसकाल में व्यवहार होता है, वह जानने लायक है। साधक को शुद्धनय का पूर्ण आश्रय नहीं है, किन्तु आश्रय प्रारम्भ हो गया है, उसकाल में पर्याय में जो-जो व्यवहार होता है, वह उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है।

कलश ५ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्धस्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होने पर अशुद्धनय किसी भी प्रकार प्रयोजनभूत नहीं है। देखो! व्यवहारनय को अशुद्ध कहा। भगवान आत्मा सच्चिदानंद स्वयं तो शुद्धनय का विषय है; परन्तु उसको श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी जबतक पूर्णता नहीं है तबतक इस बीच में जो व्यवहार आता है उसे अशुद्धनय कहा है। सोलहवीं गाथा में आता है कि आत्मा में दर्शन ज्ञान का भेद पड़ता है वह अशुद्धनय है। त्रिकाली की अपेक्षा से भेद को अशुद्ध कहा है। अर्थकर्त्ता ने विशेष स्पष्ट करने के लिए 'अशुद्ध' शब्द का प्रयोग करके व्यवहार को अशुद्धनय कहा है और त्रिकाली को शुद्ध कहा है।

अब निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीड़ित)

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः॥ ६॥

श्लोकार्थ :– [**अस्य आत्मनः**] इस आत्मा को [**यद् इह द्रव्यान्त-रेभ्यः पृथक् दर्शनम्**] अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) [**एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्**] ही नियम से सम्यग्दर्शन है, यह आत्मा [**व्याप्तुः**] अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है, और [**शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य**] शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा [**पूर्ण-ज्ञान-घनस्य**] पूर्ण ज्ञानघन है। (**च**) एवं (**तावान् अयं आत्मा**) जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है, (**तत्**) इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि [**इमाम् नव-तत्त्व-सन्तति मुक्त्वा**] 'इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर, [**अयम् आत्मा एकः अस्तु नः**] यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो।'

भावार्थ :– सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुण-पर्यायभेदों में व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है – शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्यद्रव्यों और अन्यद्रव्यों के भावों से अलग देखना, श्रद्धान करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता इसलिये नियमरूप है, शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है– सर्व लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है। यह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है, – आत्मा का ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। अतः जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि जो नय है सो श्रुतप्रमाण का अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्षप्रमाण है क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ के आगम के वचन से जाना है; इसलिये यह शुद्धनय सर्व द्रव्यों से भिन्न, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त, पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप – सर्व लोकालोक को जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्म को परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से दिखाये गये पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे सो वह श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जबतक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चयसम्यक्-दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्त्वों की संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयों का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि – आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं ? उसका समाधान यह है :– नास्तिकों को छोड़कर सभी मत वाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा, इसलिए सर्वज्ञ की वाणी में जैसा सम्पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होने से ही निश्चयसम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिए।

कलश ६ पर प्रवचन

भाई ! आत्मा तो अनादि-अनंत सच्चिदानंदरूप है। उसका निर्णय किये बिना जीव अनंतकाल से चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरणरूप परिभ्रमण से महादुःखी है। राजा हो या देव हो, यदि वस्तु का भान (श्रद्धान-ज्ञान) नहीं करता है, तो कौआ, कुत्ता वगैरह के अवतार धारण कर दुःखी होगा। मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला तिर्यंच में जन्म लेता है। देखो ! मनुष्य सीधा खड़ा है, तथा गाय, भैंस का शरीर आड़ा है। स्वरूप में आड़ करने से, विपरीत मानने से आड़े शरीर का संयोग हुआ है। शास्त्र में मिथ्यात्वी को पशु कहा है। इस छठे कलश में दुःख मिटकर सुख कैसे हो, सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो – यह बात की है। सम्यग्दर्शन अर्थात् सांची प्रतीति। धर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है।

'अस्य आत्मनः' इस प्रत्यक्ष विद्यमान आत्मा को 'यद् इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम्' अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना, श्रद्धान करना 'एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्' – इसे ही निश्चय से सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें तीन न्याय आ गये हैं – (१) स्वद्रव्य है (२) इनसे भिन्न अन्य द्रव्य हैं और (३) रागादि हैं। यहाँ स्वयं से भिन्न जो अन्य द्रव्य तथा रागादि भाव हैं, उनसे पृथक् होकर एक निज आत्मद्रव्य का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। यहाँ तो कहते हैं कि त्रिकाली ज्ञायकभाव सच्चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा को ही देखना, अनुभवना, सम्यक् प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है।

अब कहते हैं, वह आत्मा कैसा है ? तो 'व्याप्तुः' अर्थात् अपने गुण-पर्यायों में व्यापनेवाला है। यहाँ आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, आनंद वगैरह अनंत गुणों में तथा अनंत गुणों की वर्त्तमान विकारी या अविकारी सभी अवस्थाओं में व्यापनेवाला है। आत्मा पर में व्यापनेवाला नहीं है, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में व्यापने से अपना अस्तित्व है, पर से नहीं। द्रव्य-गुण-पर्याय में व्याप्त आत्मा, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। यहाँ तो आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों में व्याप्त है – यह सिद्ध करना है।

और वह कैसा है ? 'शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य' शुद्धनय से एकपने में निश्चित है। आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन आदि गुणों और पर्यायों में व्यापनेवाला होकर भी शुद्धनय से उसे एकपना निश्चित किया गया है। जिसमें गुण-गुणी व पर्यायों का भेद नहीं है, ऐसा अभेद एकरूप त्रिकाली आत्मा शुद्धनय से बताया गया है।

और वह (आत्मा) कैसा है? 'पूर्ण-ज्ञान-घनस्य' – पूर्णज्ञानघन है। जिसमें पर्याय या भेद का प्रवेश नहीं है, ऐसा ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ-स्वभावी हैं। यहाँ ज्ञानगुण की प्रधानता से कथन है। शुद्धनय आत्मवस्तु को त्रिकाल एकरूप अभेद ज्ञायकभाव चैतन्यघनस्वरूप दिखाता है, और वही सम्यग्दर्शन का विषय है। उसमें एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन होता है। और 'तावान् अयं आत्मा' – जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही यह आत्मा है। पूर्णज्ञानघन एकरूप आत्मा के आश्रय से जो प्रतीति-श्रद्धा हुई, सम्यग्-दर्शन हुआ, वह आत्मा का परिणाम है। इसकारण 'जितना सम्यग्दर्शन है उतना आत्मा है' – ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन का परिणाम आत्मा से भिन्न नहीं।

अब आचार्य प्रार्थना करते हुए कहते हैं – 'इमाम् नव-तत्त्व-संतति मुक्त्वा' – इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर 'अयम् आत्मा एकः अस्तु नः' यह एक (आत्मा) ही हमें प्राप्त हो। यहाँ जो नवतत्त्व कहे – उनमें जीव, अजीव द्रव्य हैं; दया, दान आदि के परिणाम पुण्य हैं; हिंसा, झूठ, चोरी आदि के परिणाम पाप हैं, पुण्य व पाप दोनों आस्रव हैं। ये नये कर्म आने के कारण हैं। उनको रोकने वाला संवर है। विशेष शुद्धि होती है, वह निर्जरा है। तथा कर्मबंध का निमित्त बंध है। परिपूर्ण शुद्धदशा मोक्ष है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत ध्रुव आत्मा हमें प्राप्त हो, दूसरा कुछ नहीं चाहिये। यह वीतरागी अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। अकेला निश्चयनय ही है – और व्यवहारनय नहीं है – ऐसा नहीं है। एकांतरूप से निश्चय का ही पक्ष करेंगे तो मिथ्यात्व होगा। यहाँ तो राग व भेद पर लक्ष्य जाने से राग उत्पन्न होता है, इसलिए एक अभेद के अनुभव की – वीतरागता की प्रार्थना की है। यह एक ही प्राप्त होओ। अर्थात् राग और पर्याय को गौण करके इस एक (आत्मा) का ही अनुभव हमको हो, हमें पूर्ण वीतरागता होवे, ऐसी प्रार्थना है।

कलश ६ के भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि अनंत गुण हैं – शक्तियाँ हैं। उसकी वर्त्तमान स्वाभाविक अवस्थाएं तथा कर्म के निमित्त से होनेवाले दया, दान आदि व हिंसा, झूठ आदि के भावरूप विकारी अवस्थाएं हैं। इन सब गुण-पर्यायरूप भेदों में आत्मा व्यापक है, रह रहा है, पसरा हुआ है। ऐसे आत्मा को शुद्धनय से एकत्वरूप निश्चित किया है अर्थात् शुद्धनय से एक, ज्ञायकमात्र आत्मा देखने में आया। उसे सर्व अन्यद्रव्य और अन्य-

द्रव्यों के भावों से पृथक् देखना, श्रद्धान करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है। शरीर, मन, वाणी तथा कर्म और उसके निमित्त से होने वाले पर्यायगत रागादि भावों से सर्वथा भिन्न, अखण्ड, एक, ज्ञायकमात्र आत्मा की श्रद्धा-प्रतीति करना निश्चयसम्यग्दर्शन है।

व्यवहारनय (वस्तु को भेदरूप देखनेवाला ज्ञान) आत्मा को अनेकरूप बताता है। यह आत्मा को गुणभेदवाला, पर्यायवाला, रागवाला, नवतत्त्ववाला कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है। किन्तु यह सच्चा सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है। भगवान आत्मा एकरूप – चैतन्यस्वरूप है। इसमें नवतत्त्व की शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें मिलाकर श्रद्धा करे तो वह व्यवहारसमकित है, वह राग है। वह यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। व्यवहार से नवतत्त्व की श्रद्धा का विकल्प या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प होने पर निश्चयसम्यग्दर्शन होने का नियम नहीं है। शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर राग और भेद दिखाई नहीं देता, किन्तु निर्विकल्प अनुभव होता है, अकेला ज्ञायक चैतन्यमूर्ति पूर्णानन्दरूप भगवान आत्मा ज्ञात होता है। वहाँ व्यभिचार (दोष) नहीं है, इससे नियम से सम्यग्दर्शन है। नवतत्त्व की श्रद्धा, ज्ञायकद्रव्य और उसकी वर्त्तमान पर्यायसहित वस्तु की श्रद्धा – ये सब व्यवहारसमकित हैं। इसप्रकार व्यवहारनय समकित के अनेक भेद करता है। वहाँ व्यभिचार है, इससे वह यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है।

शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्णज्ञानघन है। ज्ञान का पिण्ड है। जिसमें शरीर, मन, वचन, कर्म का तो प्रवेश है ही नहीं; साथ ही पर्याय में जो दया, दान आदि के रागरूप विकल्प उठते हैं, उनका भी आत्मा में प्रवेश नहीं है। शुद्धनय की सीमा में पहुँचने पर आत्मा लोकालोक को जानने की शक्तिवाला सर्वज्ञस्वभावी ज्ञात होता है। ऐसे आत्मा का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ वह आत्मा का ही परिणाम है, आत्मा से भिन्न नहीं है; इससे आत्मा ही है, अन्य कुछ नहीं है।

यहाँ इतना विशेष जानना कि – नय श्रुतप्रमाण का अंश है, इस कारण शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण अर्थात् जो ज्ञान की पर्याय द्रव्य-गुण-पर्याय – सबको जाने, वह श्रुतज्ञानप्रमाण कहलाती है। इस प्रमाण का एक भाग शुद्धनय है। वह शुद्धनय त्रिकाली शुद्ध ध्रुव आत्मा को देखता है। उसका दूसरा भाग व्यवहारनय है। वह वर्त्तमान पर्याय, रागादि को जानता है। ध्रुव, नित्यानंद, ज्ञायकभाव को

देखनेवाला अंश शुद्धनय कहलाता है। यह नय शुद्धत्रिकाली को देखता है, इससे शुद्धनय कहलाता है।

श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण है, इसमें आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दीखता। जैसे केवलज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, ऐसा श्रुतज्ञान में नहीं। श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण है, क्योंकि उसमें वस्तु को सर्वज्ञप्रणीत आगमवचन से जाना जाता है। आत्मवस्तु तो अरूपी है, उसमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण नहीं हैं, वह अनंत गुणों का पिण्ड चैतन्यघन है, उसे सर्वज्ञ के आगम के वचन से जाना जाता है। पाँचवीं गाथा में आया है कि आगम की उपासना से निजवैभव प्रगट हुआ है। अर्थात् आगम के वचन से पूर्ण शुद्ध चैतन्यवस्तु ज्ञात हुई है। वह आगम क्या है? आनंद का नाथ त्रिकालीतत्त्व आत्मा जब प्रगट सर्वज्ञदशा को प्राप्त होता है, तब उसकी जो ओंकाररूप दिव्य-ध्वनि निकलती है, उसे ही आगम कहते हैं। जो अज्ञानी का कहा हुआ है, वह आगम नहीं है। सर्वज्ञ की वाणी को शास्त्र अथवा परमागम कहते हैं। आत्मवस्तु प्रत्यक्ष देखकर ज्ञात नहीं हुई, परन्तु सर्वज्ञ के आगम से जानी गई है कि यह अखण्ड, आनंदरूप, चैतन्यघन, ज्ञायकतत्त्व है।

नय श्रुतज्ञान का अंश है, इससे शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्षप्रमाण है। इससे यह शुद्धनय भी सर्वद्रव्यों से पृथक्, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त, पूर्ण चैतन्यघन केवलज्ञानस्वरूप सर्व लोकालोक के ज्ञाता, असाधारण चैतन्यधर्म को परोक्ष दिखाता है। यहाँ जो केवलज्ञान शब्द आया उसका अर्थ व्यक्त पर्याय नहीं है, परन्तु मात्र ज्ञान – त्रिकालध्रुव ज्ञान है – ऐसा समझना। जैसे आत्मा त्रिकालध्रुव है, इसीतरह इसका ज्ञानगुण त्रिकालध्रुव केवलज्ञानरूप है। यह गुण मति, श्रुत, अवधि आदि सर्व पर्यायों में व्याप्त होता है; पूरे द्रव्य में और उसकी सभी पर्यायों में रहता है, ऐसा ही इस गुण का स्वरूप है। जैसे शक्कर का मिठासगुण शक्कर के पूरे भाग में व्याप्त है; उसीतरह ज्ञानगुण आत्मा के पूरे द्रव्य में और उसकी सर्व पर्यायों में व्याप्त है, और वह लोकालोक को जानने के स्वभावरूप है। यहाँ तो शुद्धनय का विषयभूत ज्ञानगुण कैसा है– उसकी अनंत महिमा की वात है। कहते हैं कि – शुद्धनय सर्व द्रव्यों से पृथक्, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त, लोकालोक को जानने के स्वभाव-वाले, पूर्णचैतन्य केवलज्ञानरूप, असाधारण चैतन्यधर्म को परोक्ष दिखाता है। इससे शुद्धनय की दृष्टि से जो त्रिकाल ध्रुव चैतन्यपूर्ण को देखता है, श्रद्धान करता है, उसे सच्चा सम्यग्दर्शन है।

व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण मानकर वाणी सत् है – इसे लक्ष्य में लेकर वाणी के वाच्य त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव का श्रद्धान करते हैं – उनका वह त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव का श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है; वह सुख की प्रथम कणिका है। बाकी सब दुःख के पंथ में चढ़े हैं। शास्त्रों को जाननेवाला जबतक ज्ञायक की दृष्टि न करे तबतक दुःख के पंथ में है। मार्ग तो यह है, भाई !

जबतक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिभेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है। इससे आचार्य कहते हैं कि यह नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर, नयों के भेद तथा पर्याय के भेदों का भी लक्ष्य छोड़कर, शुद्धनय के विषयभूत एक अखण्ड ज्ञायक आत्मा ही हमें प्राप्त हो, दूसरा कुछ नहीं चाहते, यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है। पर्याय है ही नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु उसे (पर्याय को) गौण करके उसका लक्ष्य छोड़ने की बात है। पर्याय का सर्वथा निषेध करोगे तो मिथ्यात्व होगा।

प्रश्न :– आत्मा चैतन्य है, ज्ञानस्वभावी है। ऐसा चैतन्यरूप ज्ञान में अनुभव में आवे तो ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है कि नहीं ?

समाधान :– आत्मा को 'चैतन्यमात्र' तो नास्तिक सिवाय सर्वमत वाले मानते हैं। जो इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जावे तो उक्त सभी को सम्यग्दृष्टि मानने का प्रसंग आयगा। आत्मा तो सर्वज्ञस्वभावी है। वह सर्वज्ञशक्ति जिसको प्रगट हुई है – ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने जैसा पूर्ण आत्मा देखा, वैसा पूर्ण आत्मा का स्वरूप उनकी ओंकारध्वनि में आया; वह आत्मा पूर्णानन्द है। उस आत्मा के स्वरूप का अनुभवपूर्वक श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता है।

इसकारण यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा का कोई अद्भुत स्वरूप है। उसका पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण प्रकाशादि अनेक (अनंत) पूर्ण शक्ति से भरा हुआ, चमत्कारिक परिपूर्ण स्वरूप है। यह अपनी शांति की पर्याय को कर सकता है – ऐसे कर्त्तागुण से पूर्ण है। जिन साधनों से निर्मलदशा प्रगट हो, आत्मा ऐसे साधन – गुणों से पूर्ण है। जो निर्मलता आदि प्रगट होती है, उसे स्वयं धारण करे, ऐसी सम्प्रदान शक्ति से भी आत्मा पूर्ण है, इत्यादि। सर्वज्ञ भगवान की वाणी में आत्मा को ऐसा परिपूर्ण चैतन्यघनस्वरूप कहा है। इसका यथार्थ श्रद्धान होने से ही सम्यग्दर्शन होता है। तबही धर्म के मार्ग की पहिचान होती है।

अब, टीकाकार आचार्य निम्नलिखित श्लोक में यह कहते हैं कि – 'तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन, सर्व द्रव्यों से भिन्न, आत्मज्योति प्रगट हो जाती है' :–

(अनुष्टुभ्)

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ।।७।।

श्लोकार्थः – **[अतः]** तत्पश्चात् **[शुद्धनय-आयत्तं]** शुद्धनय के आधीन **[प्रत्यग् ज्योतिः]** जो भिन्न आत्मज्योति है **[तत्]** वह **[चकास्ति]** प्रगट होती है **[यद्]** कि जो **[नव-तत्त्व-गतत्वेऽपि]** नवतत्त्वों में प्राप्त होने पर भी **[एकत्वं]** अपने एकत्व को **[न मुंचति]** नहीं छोड़ती ।

भावार्थ :– नवतत्त्वों में प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; यदि उसका भिन्न-स्वरूप विचार किया जाये तो वह अपनी चैतन्य-चमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता ।

कलश ७ पर प्रवचन

अब, शुद्धनय के आधीन अर्थात् आत्मा के पूर्णस्वरूप को देखने-वाली दृष्टि से भगवान आत्मा प्रगट होता है । कैसा है वह आत्मा ? समस्त परद्रव्यों से भिन्न जगमगाती–आत्मज्योतिस्वरूप है ।

वह आत्मज्योति नवतत्त्व को प्राप्त होकर भी – जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष – ऐसे नवतत्त्वों में व्याप्त होकर भी अपने एकपने को नहीं छोड़ती । नौ तत्त्वों में रहती हुई दीखने पर भी अपने शुद्ध ज्ञायकरूप से ही रहती है । शुद्ध ज्ञायकस्वरूप से हटती नहीं है । जैसे – एक पानी भरा लोटा हो तो पानी का आकार लोटे जैसा दीखता है, किन्तु ऐसा होते हुए भी लोटा और पानी का अपना-अपना आकार सर्वथा भिन्न है । उसीतरह चिदानंदज्योति ज्ञानजल भगवान आत्मा ज्ञान जैसे आकारवान है । ऐसा आत्मा देह-देवालय में रहता है । वह देहाकार होता हुआ भी, देह के आकार से सर्वथा भिन्न है । शरीर तो पुद्गलाकार है, भगवान आत्मा चैतन्याकार है । दोनों जुदे-जुदे हैं ।

आत्मा की एक-एक शक्ति परिपूर्ण है । ऐसी अनंत शक्तियों का का पिण्ड आत्मवस्तु परिपूर्ण एकरूप है, वह नवतत्त्वों में रहता हुआ दिखाई देने पर भी अपना एकपना नहीं छोड़ता । जो ज्ञायक है, वह राग में है, द्वेष में है – ऐसा दीखता है, शुद्धता के अंश में दीखता है, शुद्धता की

वृद्धि करता हुआ दीखता है; परन्तु ऐसा होते हुए भी ज्ञायक चैतन्यज्योति अपने एकपने को नहीं छोड़ती। जैसे – लकड़ी आदि के आकार में भेदपने परिणमित दीखती हुई अग्नि अपना अग्निपना – उष्णपना नहीं छोड़ती, वह उष्णपने से ही कायम रहती है; उसीप्रकार भगवान आत्मा नवतत्त्व में भेदरूप होकर दीखता हुआ भी ज्ञायकपने को नहीं छोड़ता। ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक – ऐसा ज्ञायकसामान्य एकपने ही दीखता रहता है।

भाई ! यह आत्मा कहाँ और कैसा है ? यह तूने देखा नहीं है। यह तो अपने में परिपूर्ण वस्तु है। शक्कर और सेकरीन दोनों में मिठास है, किन्तु शक्कर के बहुत मोटे दाने से सेकरीन के बहुत छोटे दाने में भी कई गुनी ज्यादा मिठास है। इससे स्पष्ट है कि ऐसा नहीं है कि वस्तु मोटी हो तो अधिक शक्ति व छोटी हो तो अल्पशक्ति। भगवान आत्मा शरीर-प्रमाण होते हुए भी अपने ज्ञान, दर्शन आदि सामर्थ्य से परिपूर्ण है। अनेक अवस्थाओं में व्याप्त वह चैतन्यसामान्य एकमात्र चैतन्यपने ही रहता है। इस निर्मलानंद भगवान आत्मा की प्रसिद्धि करना हो तो इसके एकपने की – सामान्यस्वभाव की दृष्टि करना चाहिए, तभी उसकी सच्ची प्रतीति और साक्षात्कार होता है।

कलश ७ के भावार्थ पर प्रवचन

नवतत्त्व को प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दीखता है। जो उसका भिन्न-स्वरूप विचार करने में आये तो वह अपनी चैतन्यचमत्कार ज्योति को नहीं छोड़ता। जैसे – अग्नि को कंडे की अग्नि, लकड़ी की अग्नि – ऐसा कहते हैं, परन्तु अग्नि तो अग्निपने है। भिन्न-भिन्न ईंधन के आकार अग्नि हुई हो, ऐसा भले ही दीखे, पर यह सब अग्नि के ही आकार हैं; लकड़ी, कण्डा वगैरह ईंधन के नहीं हैं। उसीप्रकार ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर को जानने के काल में अजीव को जाने, राग को जाने, द्वेष को जाने, शरीर को जाने; वहाँ जाननेरूप जो परिणमा है; वह स्वयं से परिणमा है, ज्ञानस्वरूप कायम रहकर परिणमा है, परपने, अजीवपने, रागपने, द्वेषपने, शरीरपने होकर नहीं जानता है। ज्ञान परपने होकर परिणमन करता है – ऐसा नहीं है, वह ज्ञानपने रहकर पर को जानता है। पर को जानने से पर के आकार ज्ञान हुआ – ऐसा कहलाता है, किन्तु वह ज्ञानपना छोड़कर ज्ञेयाकार होता नहीं है। भगवान आत्मा जो पूर्ण चैतन्यज्योति है, उसका ज्ञान ज्ञेयपदार्थों के आकार होता हुआ ज्ञानगुणरूप से ही रहता है, परज्ञेयरूप से नहीं होता। इसप्रकार यथार्थ जानकर पूर्ण चैतन्यस्वरूप आत्मा का श्रद्धान करना, वह सम्यग्दर्शन है।

समयसार गाथा १३

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।१३।।

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ।।१३।।

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः । तदुभयं च जीवाजीवाविति । बहि-

---

इसप्रकार ही शुद्धनय से जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथा में कहते हैं :-

भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा ।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना ।।१३।।

गाथार्थ :- [**भूतार्थेन अभिगताः**] भूतार्थनय से ज्ञात [**जीवाजीवौ**] जीव, अजीव [**च**] और [**पुण्यपापं**] पुण्य, पाप [**च**] तथा [**आस्रवसंवरनिर्जराः**] आस्रव, संवर, निर्जरा [**बंधः**] बन्ध [**च**] और [**मोक्षः**] मोक्ष [**सम्यक्त्वम्**] – यह नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं ।

टीका :- यह जीवादि नवतत्त्व भूतार्थनय से जाने हुये सम्यग्दर्शन ही हैं (-यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहारधर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहा जाता है ऐसे नवतत्त्व – जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष हैं – उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति – जिसका लक्षण आत्मख्याति है – वह प्राप्त होती है। (शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति

दृष्टया नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानातयामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथांतर्दृष्टया ज्ञायको भावो जीवो, जीवस्य विकारहेतुरजीवः। केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणाः, केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षा इति। नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतयां भूता-

---

होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है।) वहाँ, विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला – दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रव करनेवाला – दोनों आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक) – दोनों संवर हैं, निर्जरा होने के योग्य और निर्जरा करनेवाला – दोनों निर्जरा हैं, बँधने के योग्य और बन्धन करनेवाला – दोनों बन्ध हैं, और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला – दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं (अर्थात् उन दो में से एक जीव है और दूसरा अजीव)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो जीव-पुद्गल की अनादि-बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं (वे जीव के एकाकार स्वरूप में नहीं हैं); इसलिये इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसीप्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं ऐसे केवल जीव के विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष – ये विकार हेतु केवल अजीव हैं। ऐसे यह नवतत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं ऐसे एकद्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं और सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसलिये इन तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार यह, एकत्वरूप से प्रकाशित होता हुआ शुद्धनयरूप से अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्मा की पहिचान) ही

र्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव। या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव। इति समस्तमेव निरवद्यम्।

है, और जो आत्मख्याति है सो सम्यग्दर्शन ही है। इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है, बाधारहित है।

भावार्थ :– इन नवतत्त्वों में, शुद्धनय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्यचमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जब तक इस प्रकार जीवतत्त्व की जानकारी जीव को नहीं है, तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न-भिन्न नवतत्त्वों को मानता है। जीव-पुद्‌गल की बन्धपर्यायरूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनय से जीव-पुद्‌गल का निजस्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य, पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त-नैमित्तिकभाव से हुए थे, इसलिये जब वह निमित्त-नैमित्तिकभाव मिट गया तब जीव, पुद्‌गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है, और द्रव्य का निजभाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है, इसलिये शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। जबतक भिन्न-भिन्न नवपदार्थों को जाने और शुद्धनय से आत्मा को न जाने, तबतक पर्यायबुद्धि है।

गाथा १३ की टीका पर प्रवचन

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व हैं। आत्मा जीव है; शरीर, कर्म आदि अजीव हैं। कर्म के निमित्त के संबंध में पुण्य-पाप तथा आस्रव और बंध होते हैं; तथा संवर, निर्जरा व मोक्ष निमित्त के (कर्म के) अभाव में होते हैं। इन नवों तत्त्वों में निमित्त की अपेक्षा आती है। उस अपेक्षा को छोड़कर अकेला ज्ञायक–ज्ञायकभाव जो पूर्ण ज्ञानघन है – उसकी दृष्टि करना, उसीका स्वीकार करना, सत्कार करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसके सिवा देव-शास्त्र-गुरु या नव तत्त्वों को भेद से मानना, वह कोई सम्यग्दर्शन नहीं है। यह सम्यक्-अनेकान्त है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनंदमूर्ति है। इसके भानपूर्वक, इसमें विशेष-विशेष लीनता – रमणता होने पर जो प्रचुर आनंद का वेदन होता है, वही चारित्रदशा है। सम्यग्दर्शनपूर्वक विशेषस्थिरता, वह चारित्र है। सम्यग्दर्शन न हो और सीधा व्रत लेकर बैठ जावे, यह सब तो एक के बिना बिन्दी जैसा है।

इन नवतत्त्वों को भूतार्थनय से जानना सम्यग्दर्शन ही है – यह नियम है। जो नवतत्त्व हैं, उनमें तीनलोक का नाथ भगवान आत्मा चैतन्यहीरा विराजमान है। जैसे हीरा के अनेक पासा हैं; उसीप्रकार इस चैतन्यहीरा के गुणरूप पासा हैं। ये अनंत पासा (गुण) स्वयं परिपूर्ण हैं तथा वस्तु में अभेद एकरूप पड़े हैं। ऐसी अनंतगुणमंडित, अभेद, एकरूप वस्तु जो चैतन्यघनस्वरूप आत्मा, उसे भूतार्थनय से जानना, यह नियम से सम्यग्दर्शन है। यहाँ शुद्धनय को भूतार्थनय कहा है अथवा त्रिकालीवस्तु ही शुद्धनय है। यह बात ११वीं गाथा में आ गई है।

अहा हा……! जिसको जानने से जन्म-मरण का अंत आ जावे, पूर्ण अनंत अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति हो अर्थात् मुक्ति हो, वह कारण कैसे होगा ? बापू ! यह तो पूर्णस्वरूप है – जिसमें न राग है, न भेद है, न पर्याय का प्रवेश है। ऐसी जलहल चैतन्यज्योतिस्वरूप, अभेद, एकरूप ज्ञायकवस्तु की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है, वह निश्चय है। यह तो मुद्दे की, मूल रकम की बात है।

ग्राहक का हिसाब करते हैं तब कहते हैं – रकम का व्याज तो दिया, परन्तु मूल रकम ? मूल रकम तो लाओ। इसीतरह अनादि से पुण्य की क्रिया कर-करके मर गया, परन्तु मूल रकम क्या है ? यह तो देख। मूल मुद्दा की रकम तो चैतन्यज्योति पूर्णज्ञानघन, नवतत्त्व में पर्याय के रूप में परिणमित होता हुआ दिखाई देने पर भी जो ज्ञायकपने एकरूप है, वह है। जैसा इसका पूर्ण सत्‌स्वरूप है, वैसी ही उसकी प्रतीति हुई, उसे सत्य-दर्शन कहा है। भाई ! धर्म की शुरूआत यहीं से होती है। इसके विना लाखों-करोड़ों का दान करे, मंदिर बनावे या उपवास करके मर जाय तो भी यह सब निस्सार हैं। तो क्या यह सब नहीं करना ? कौन करे ? मंदिरादि सब अपने-अपने कारण से होते हैं (शुभभाव के कारण से नहीं); परन्तु यह शुभभाव आते हैं, होते हैं, तथापि ये शुभभाव धर्म नहीं, ये तो संसार हैं। पुण्य स्वयं रखड़ाने वाला है, इससे रखड़ना कैसे मिटे ? यह पुण्यभाव शुभभाव है, संसार है।

जिसका स्वरूप केवली भी पूरा नहीं कह सकें – ऐसा तू कौन है, कैसा है ? भाई ! यह वाणी तो जड़ है, यह चैतन्य का स्वरूप कितना कह सकती है ? यह अरूपी चैतन्यघन भगवान वाणी में कितना आवे ? मात्र इशारा – संकेत आता है। भाई ! यहाँ 'पूर्णज्ञानघन' शब्द प्रयोग करके आचार्यों ने एक-एक गुण पूर्ण है और ऐसे-ऐसे अनंत गुणों का एकरूप पूर्णज्ञानघन प्रभु आत्मा है, ऐसा दर्शाया है। इसे ज्ञान में लेकर, वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाकर प्रतीत करना – यह सम्यग्दर्शन है। यह धर्म का मूल है। जैसे – मूल बिना डाली, पत्ते एवं फल आदि नहीं होते; उसी-प्रकार सम्यग्दर्शनरूप मूल बिना चारित्र या व्रत, तप आदि नहीं होते।

अहा हा·······! जीवादि नवतत्त्व भूतार्थनय से जाने गये सम्यग्दर्शन ही हैं, यह नियम कहा। वस्तुस्थिति का यह नियम है। अब उसका कारण समझाते हुए कहते हैं कि – तीर्थ (व्यवहारधर्म) की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय से जीव, अजीव आदि नवतत्त्व कहे गये हैं। वे इसप्रकार हैं :–

एकसमय की जीव की पर्याय को यहाँ जीव कहा है। अजीव का जो ज्ञान होता है, उसे यहाँ अजीव कहा है। दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति आदि का भाव पुण्यभाव है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, भोग तथा कमाने आदि के भाव पापभाव हैं। ये पुण्य और पाप दोनों भाव आस्रव हैं। 'आ' अर्थात् मर्यादा से तथा 'स्रवना' अर्थात् आना। मर्यादा से कर्मों का आना आस्रव है। जैसे – नाव में छेद हो तो इसके द्वारा पानी अन्दर आता है; उसीप्रकार आत्मा में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, इसके संबंध से नये कर्मों का आवरण आता है – वह आस्रव है। आत्मा शुद्धस्वरूप से पूर्ण है, पूर्ण शुद्ध के आश्रय से शुद्धि का अंश प्रगट होता है – वह संवर है। संवरपूर्वक अशुद्धता का खिरना, कर्म का गलना और शुद्धता का बढ़ना – ये तीनों निर्जरा हैं। दया, दान आदि के विकल्पों में अटकना बंध है। वस्तु ज्ञायक-स्वरूप अबंध है, उसमें पूर्ण स्थिरता होने पर पूर्ण निर्मलदशा, पूर्ण शुद्धता, पूर्ण वीतरागता प्रगट हुई – इसका नाम मोक्ष है। जैसा पूर्णानंद स्वरूप है, वैसा पूर्णानंद प्रगट हो जाना मोक्ष है।

किसी को ऐसा लगे कि यह सब क्या है ? तो कहते हैं कि बापू ! यह सब नया नहीं है, तुझे नया लगता है, क्योंकि यह कभी तुमने सुना नहीं है। यह है तो घर की ही बात, परन्तु इसने आज तक पर-घर की ही मानी है, सांसारिक बातों में चतुराई प्राप्त की है। परन्तु अरे रे·······!!! खेद है कि तू कौन है और कैसा है ? इसकी तुझे खबर नहीं है।

अब कहते हैं कि – इन तत्त्वों की भेदरूप दशाओं में एकपना प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकपना प्राप्त करके शुद्धनयरूप से स्थापित करने पर आत्मा की अनुभूति या आत्मख्याति प्राप्त होती है। लो देखो! नव-तत्त्वरूप भेदों के विकल्प में – राग की आड़ में जो त्रिकाली एकरूप आत्मज्योति ढकी है, उसे भूतार्थनय से एकपने प्रगट करके, उसमें एकपने की दृष्टि करके, आत्मप्रसिद्धि लक्षणवाली आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है। नवतत्त्वों में आत्मप्रसिद्धि नहीं थी, द्रव्य जो ज्ञायक शास्वत-चैतन्यमूर्ति है, इसे पर्यायसहित देखने पर प्रसिद्ध नहीं होता तथा एकरूप चैतन्य को देखने पर चैतन्य का प्रकाश–आत्मख्याति प्रसिद्ध हो जाती है, प्राप्त हो जाती है।

नवभेदों को देखने पर नवभेद हैं अवश्य – निश्चित ही हैं, किन्तु ये आश्रय करने लायक नहीं हैं, क्योंकि नवतत्त्व के भेदों को ज्ञान में रोकने से राग की उत्पत्ति की प्रसिद्धि होती है – अनात्मा की प्रसिद्धि होती है; परन्तु इन नवभेदों में भूतार्थनय एकपना प्रगट करता है, अकेले ज्ञायकभाव को दिखाता है। यह एक त्रिकाली ज्ञायकभाव के सन्मुख होकर जानने से एकपना प्राप्त होता है आनंद की अनुभूति द्वारा आत्मप्रसिद्धि होती है। इससे भूतार्थनय से नवतत्त्व को जानने से सम्यग्दर्शन ही है, यह नियम कहा है।

अब नवतत्त्व उपस्थित कैसे हुए – यह कहते हैं। विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला – ये दोनों पुण्य हैं; उसीतरह विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला – दोनों पाप हैं। विकारी होने योग्य अर्थात् जीव की पर्याय में विकार होने योग्य है। पर्याय में विकार होने योग्य जीव की दशा है, और विकार करनेवाला द्रव्यकर्म है, जो कि निमित्त है। यह द्रव्यकर्म विकार करनेवाला है, ऐसा कहा है। विकारी होने योग्य पर्याय तो अपने उपादान से हुई है, उपादानरूप से स्वयं कर्त्ता है, इसमें द्रव्यकर्म निमित्त है। विकारी होने योग्य ऐसा कहकर जीव की पर्याय की लायकात – योग्यता बताई है। द्रव्यस्वभाव तो ऐसा नहीं है। वर्त्तमान पर्याय विकारी होने योग्य और इसमें द्रव्यकर्म निमित्त, वह विकार करने वाला – दोनों पुण्य हैं। विकारी होने योग्य है, वह भावपुण्य है और कर्म का निमित्त है, वह द्रव्यपुण्य है – इसतरह दोनों पुण्य हैं। इसीप्रकार विकारी होने योग्य जीव की पर्याय भावपाप और कर्म का निमित्त द्रव्यपाप है – इसप्रकार दोनों पाप हैं। द्रव्यपाप भावपाप होने में निमित्त है। वस्तुस्वभाव स्वयं पुण्य-पाप करनेवाला नहीं है। शुभभाव होने योग्य जीव की पर्याय और इसको करनेवाला कर्म का उदय अजीव है, इसे

द्रव्यपुण्य कहते हैं। इसीप्रकार हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभाव होने योग्य तो जीव है, पर्याय में ऐसी योग्यता है और कर्म का निमित्त है, उसे द्रव्यपाप कहते हैं।

मोहकर्म का उदय तो पाप ही है। घातिकर्मों का उदय तो अकेला पापरूप ही है। ऐसा होते हुए भी यहाँ जो पुण्यभावपने परिणमा है, उसे भावपुण्यजीव कहा और अजीव पुद्गलकर्म के उदय को द्रव्यपुण्य कहा। सातावेदनीय का उदय जीव को पुण्यभावरूप परिणमन में निमित्त नहीं होता, यह तो अघाति है। इसका उदय तो संयोग मिलाता है। अघातिकर्म संयोग में निमित्त होता है, पुण्यपापरूप भावों में निमित्त नहीं होता। किन्तु घातिकर्म के उदय को यहाँ भावपुण्य में निमित्त होने की अपेक्षा से द्रव्यपुण्य कहा है। घातिकर्म का उदय मंद हो या तीव्र, यह है तो पाप ही। कर्म का उदय भले तीव्र हो, पर राग की मंदतारूप पुण्यभाव करे तो घातिकर्म के उदय को द्रव्यपुण्य (मंदउदय) कहा जायगा। कर्म का उदय मंद है, इसलिए यहाँ शुभभाव हुआ, ऐसा नहीं है। यहाँ ऐसा नहीं लिया है कि शुभभाव का उदय हो तो द्रव्यपुण्य; जीव के पुण्यभाव में जो निमित्त हो उसे द्रव्यपुण्य कहा है। जीव स्वयं के शुभभाव के लायक है, वह जीवपुण्य–भावपुण्य और इसमें जो कर्म निमित्त है वह द्रव्यपुण्य–अजीवपुण्य कहा है। (अजीवपुण्य जीव के पुण्यभाव में निमित्त है, वह पुण्यभाव कराता नहीं है।)

चाहे एकेन्द्रियपर्याय में हो या पंचेन्द्रियपर्याय में, भगवान आत्मा जो द्रव्यस्वभावरूप है, यह तो अकेला त्रिकालशुद्ध है, और यह ज्ञायक ही उपादेय है। अब यहाँ कहते हैं कि द्रव्य त्रिकालशुद्ध होते हुए इसकी पर्याय में पुण्य, पाप, आस्रव व बंध – ऐसे दो भाग उत्पन्न कैसे होते हैं? वस्तु एक और उसमें नवभेद, जो कि हेय हैं, कैसे उत्पन्न होते हैं?

आत्मवस्तु द्रव्यस्वभाव से शुद्धचैतन्यरूप आनंदघन है, वह एक से नौ नहीं हो सकती। किन्तु जिसे यह वस्तु का एकपना दृष्टि में नहीं आया, अनुभव में नहीं आया, उसे पर्याय में विकार है। पर्याय में दूसरे का संग-संबंध होने से उसे नवभेद होते हैं। द्रव्य में तो कोई ऐसी शक्ति (गुण) नहीं है जो विकार करे। जो गुण ऐसा हो तो विकार नहीं टले। तब कोई कहेगा कि पर्याय में तो विकार होता है न? समाधान यह है कि पर्याय-बुद्धि वाले को पर्याय की योग्यता से विकार होता है, द्रव्यबुद्धि वाले को नहीं। द्रव्यबुद्धि वाले को इसका निषेध हो गया है, वह तो ज्ञाता हो गया है। बापू! जरा धीरज से समझना चाहिए। यह तो वीतराग सर्वज्ञ

परमेश्वर का अलौकिक मार्ग है। इसका व्यवहार भी अलौकिक रीति का है। यहाँ वह व्यवहार सिद्ध किया है। व्यवहारनय से ये (नवतत्त्व) भूतार्थ हैं, किन्तु ये आश्रय करने लायक नहीं हैं, क्योंकि इनके आश्रय से समकित नहीं होता।

अब कहते हैं कि आस्रव होने योग्य और आस्रव करने वाले – ये दोनों आस्रव हैं। पुण्य-पाप के भावरूप होने योग्य जीव की पर्याय भाव-आस्रव और उनके कर्म का जो निमित्त वह द्रव्य-आस्रव। इस द्रव्य-आस्रव को यहाँ करनेवाला कहा है। नया कर्म आवे वह द्रव्य-आस्रव यह बात नहीं है। यहाँ तो पूर्व का जूना कर्म जो निमित्त हो, उसे द्रव्य-आस्रव कहा है। ये दोनों आस्रव हैं – एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव।

संवर होने योग्य संवार्य – यह जीव की पर्याय है, वह भावसंवर है। संवर करनेवाला संवारक – वह निमित्त है। संवर के समक्ष जितना कर्म का उदय नहीं है (अभावरूप है), उसे द्रव्यसंवर कहते हैं। ये दोनों संवर हैं – एक भावसंवर और दूसरा द्रव्यसंवर।

निर्जरायोग्य और निर्जरा करनेवाला – दोनों निर्जरा हैं। निर्जरा-योग्य अशुद्धता और होने योग्य शुद्धता – वह जीव की पर्याय है, यह भाव-निर्जरा है। निर्जरा करनेवाला (द्रव्यकर्म का खिर जाना) यह निमित्त है – यह द्रव्यनिर्जरा है। ये दोनों निर्जरा हैं।

बंधयोग्य और बंधन करनेवाला – ये दोनों बंध हैं, बँधने योग्य जीव (पर्याय) है। राग, द्वेष, मिथ्यात्व, विषय-वासना – इनमें अटकने योग्य, बंधने योग्य लायकात (योग्यता) जीव की पर्याय है, यह भावबंध है। साथ में पूर्वकर्म का निमित्त बंधन करनेवाला है। नया बंध होता है, इसकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ पूर्वकर्म के निमित्त को द्रव्यकर्म कहा है। भगवान आत्मा तो अबद्धस्पृष्ट है, किन्तु इसकी पर्याय में बंधयोग्य लाय-कात (योग्यता) है, वह भावबंध है और बंधन करनेवाला कर्म निमित्त है, वह द्रव्यकर्म है। इसप्रकार ये दोनों बंध हैं।

मोक्ष होने योग्य और मोक्ष करनेवाला – ये दोनों मोक्ष हैं। मोक्ष होने योग्य जीव की पर्याय है, जीव की पर्याय में मोक्ष होने की योग्यता है। त्रिकाली वस्तु है, वह तो मोक्षस्वरूप ही है। मोक्ष होने योग्य जीव की पर्याय भावमोक्ष है और सर्वकर्मों का अभावरूप निमित्त, वह मोक्ष करने-वाला द्रव्यमोक्ष है।

अब कहते हैं – एक को ही अपने से – एकपने की अपेक्षा से पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष की उत्पत्ति नहीं बनती।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा विना 'एक' को 'नव'-पना सिद्ध नहीं होता। एक की पर्याय में दूसरे का निमित्त है, इसमें ये 'नव' भेद उत्पन्न हुए हैं। इन दोनों में एक जीव और दूसरा अजीव है।

बाह्य स्थूलदृष्टि से जीव-पुद्गल की अनादि बंधपर्याय के निकट जाकर यानी पर्यायदृष्टि से देखें तो योग्यता और निमित्त–दोनों को एकपने अनुभव करने पर ये नवतत्त्व सत्य हैं। पर्यायबुद्धि से देखने पर भूतार्थ हैं। व्यवहारनय से नवतत्त्व हैं; परन्तु ये सम्यग्दर्शन के विषय नहीं हैं। वेदान्त कहता है – पर्याय नहीं है; सो ऐसा नहीं है। नवभेदरूप पर्यायें हैं। व्यवहारनय से पर्यायबुद्धि करके एकपने अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, राग की पर्याय व निमित्त की पर्याय दोनों को एकपने अनुभव करने पर नवतत्त्वों का भेद सत्यार्थ है।

तथा एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अर्थात् एक ज्ञायक-मात्र द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर यानी उस एक को एकपने अनुभव करने पर वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं, जीव के एकाकारस्वरूप में ये नवतत्त्व नहीं हैं। एकरूप, अभेद, ज्ञायकभाव, एकाकार, सच्चिदानंद स्वभाव में अनेक प्रकार के भेद नहीं हैं। इन नौ के लक्ष्य से धर्म नहीं होता, किन्तु राग होता है। और अखण्ड, एक, त्रिकाली ज्ञायक के आश्रय से अर्थात् उस एक को एकपने अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है, धर्म होता है।

भगवान आत्मा अकेला चैतन्य जो पर्याय की आड़ में, नवतत्त्व की आड़ में, एक ज्ञायक से दूर था, वह एक ज्ञायकभाव के समीप जाकर एक को एकपने अनुभव करने पर उसमें नौ भेद दिखाई नहीं देते, इससे वे नौ अभूतार्थ हैं। इससे इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से देखने पर एक जीव ही प्रकाशमान है, एक ज्ञायकभाव ही प्रकाशमान है।

इसप्रकार अन्तर्दृष्टि से देखें तो ज्ञायकभाव जीव है; और जीव के विकार का हेतु अजीव है। विकार अर्थात् विशेषकार्य – जीव की पर्याय। यहाँ विकार का अर्थ दोष नहीं है, किन्तु विशेषकार्य समझना। तथा पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये जिसके लक्षण हैं – ऐसे ये तो जीव के विकार अर्थात् पर्यायें हैं। तथा पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये विकार के हेतु केवल अजीव हैं। ऐसे ये नव-तत्त्व जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर एकद्रव्य की पर्यायपने अनुभव करने पर भूतार्थ हैं। पर्यायें पर्याय अपेक्षा से हैं। व्यवहारनय है, व्यवहारनय का विषय पर्यायें हैं, ये जानने लायक हैं, परन्तु आश्रय करने योग्य नहीं।

जीवद्रव्य का स्वभाव त्रिकालध्रुव, सदा अस्खलित, अचल, एकरूप है। पर्यायें बदलता-पलटता प्रवाह है। पर्यायें भिन्न-भिन्न योग्यता से होती हैं, स्वभाव एकसदृश, नित्य ध्रुव रहता है। ऐसे चित्सामान्य, अभेद, एकरूप, स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर ये नवतत्त्व अभूतार्थ हैं। व्यवहारनय से नवभेद सच्चे हैं। किन्तु स्वभाव के अनुभव की दृष्टि में नवभेद असत्यार्थ हैं। ऐसा सम्यक् अनेकान्त मार्ग है। एक अपेक्षा से व्यवहारनय से नवतत्त्व सच्चे कहे, तो दूसरी अपेक्षा सें त्रिकाल ध्रुवद्रव्य की दृष्टि में ज्ञात नहीं होते, अनुभव में नहीं आते इससे असत्यार्थ (झूठे) कहे। जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ वह अपेक्षा बराबर समझना चाहिए।

इससे नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। नवतत्त्वों में सत्दृष्टि से, द्रव्यदृष्टि से देखने पर ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक—एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार वह एकपने प्रकाशित होता हुआ शुद्धनय से अनुभव में आता है। इस एकपने का अनुभव होने पर आत्मा त्रिकाल 'शुद्ध' है, ऐसी आत्मप्रसिद्धि होती है। तब जो यह अनुभूति हुई वह आत्मख्याति ही है और आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है।

गाथा १३ के भावार्थ पर प्रवचन

इन नवतत्त्वों में शुद्धनय से देखें तो जीव ही एक चैतन्य चमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है। अहा हा ! पर्याय में नवतत्त्वों के भेदरूप परिणमन होते हुए भी जिसमें वस्तुस्वरूप की स्थिति प्रकाशमान है, ऐसे शुद्धनय से देखने पर अकेला ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक – ऐसा शुद्धतत्त्व ही प्रत्यक्ष प्रकाशमान होता है। नवतत्त्व कहीं जुदे-जुदे दिखाई नहीं देते।

जबतक इस रीति से यानी शुद्धनय की दृष्टि से जीवतत्त्व का जानपना नहीं है, तबतक वह व्यवहारदृष्टि है। मात्र पर्याय को या भेद को ही मानें तो ये भेददृष्टि – व्यवहारदृष्टि है। जो यह जीव है, पर्याय है, आस्रव है, पुण्य है, इत्यादि पृथक्-पृथक् नवतत्त्वों को ही मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। जीव-पुद्गल की बंधरूप अवस्था-दृष्टि से देखने पर यह जीव है, पुण्य है, पाप है, ऐसा भिन्न-भिन्न दीखता है, किन्तु जबतक शुद्धनय से जीव-पुद्गल का निजस्वरूप अर्थात् एक ज्ञायक आत्मा का शुद्धस्वरूप और अकेला पुद्गल का भिन्न स्वरूप – इसप्रकार निज-परस्वरूप भिन्न-भिन्न देखने में आवे तब ये पुण्य-पाप आदि नवतत्त्व कोई वस्तु नहीं हैं; क्योंकि अकेला ज्ञायकभाव भिन्न और पुद्गल भी भिन्न – ऐसा देखने पर ये नवतत्त्व वहाँ दिखाई नहीं देते।

ज्ञायकभाव दृष्टि में आने पर निमित्त का लक्ष्य छूट गया और निमित्त से होनेवाले भावों का भी लक्ष्य छूट गया। अर्थात् अकेला ज्ञायकभाव दृष्टि में आते हुए नवभेद सब झूठे हैं। अन्तर में भगवान ज्ञायकभाव ध्रुव चैतन्यघन को देखने पर निमित्त-नैमित्तिकभाव नहीं रहता, कारण कि इस ओर अन्तर में दृष्टि जाने पर निमित्त नहीं रहता (निमित्त का पक्ष छूट जाता है) और निमित्त की अपेक्षावाला भाव भी नहीं होता। वस्तु वस्तु में रह जाती है। पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, ये जीव की पर्याय में होते हुए नैमित्तिक भाव हैं, इनमें निमित्त कर्म के सद्भावरूप है। तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नैमित्तिक भाव हैं, इनमें निमित्त कर्म के अभाव की अपेक्षा से माना जाता है। अब सहज आत्मस्वरूप पूर्णानंद का नाथ जो भगवान आत्मा, इसको देखने पर ये नवभेद दिखाई नहीं देते, रहते नहीं हैं – अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भाव मिट जाता है; तब जीव-पुद्गल पृथक्-पृथक् होने से दूसरी कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। पुद्गल पुद्गलरूप से व ज्ञायक ज्ञायकरूप से भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

नवतत्त्वों को देखनेवाली भेददृष्टि तो अनादि की मिथ्यादृष्टि है। पर्याय की, भेद की रुचि में तो सम्पूर्ण द्रव्य ढक गया है। अब भेद पर से दृष्टि हटाकर एक त्रिकाल ज्ञायकभाव को देखने पर जीव-पुद्गल के संबंध से जो भेदवाली पर्याय थी, वह नहीं रहती है, क्योंकि ज्ञायक ध्रुव चैतन्यप्रकाश की दृष्टि करने पर निमित्त-नैमित्तिकभाव का अभाव हो जाता है। अकेले ज्ञायक को देखने पर चैतन्यस्वरूप, जो राग की रुचि में ढक गया था, प्रगट हो जाता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन है। नौ में से अकेला ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक – ऐसे ध्रुवस्वभाव से भिन्न अनुभवना सम्यग्दर्शन है। इसके सिवाय लाखों करोड़ों रुपया खरचे और मंदिर बनवावे, देव-शास्त्र-गुरु को बाहर से माने या नवतत्त्वों को भेदरूप माने – ये सब निस्सार हैं, सम्यग्दर्शन नहीं हैं।

कलशटीका में तो यहाँ तक कहा है कि 'नवतत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है।' नवतत्त्वरूप से तो आत्मा अनादि से परिणमा है। अनादि से मिथ्यादृष्टि जीव को संवर, निर्जरा और मोक्ष सच्चा नहीं है। अपेक्षित संवर, निर्जरा, मोक्ष कहा है। मिथ्यात्व में भी अमुक प्रकृतियाँ बंधती नहीं हैं, इस अपेक्षा से संवर गिना है।

इसप्रकार नवतत्त्वरूप वस्तु के अनुभव करते हुए मिथ्यात्व है; इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

क्या यह एकान्त नहीं है ? एकान्त तो है, पर यह सम्यक्-एकान्त है, यही सच्चा अनेकान्त है। अन्तर में ढले तब सच्चा अनेकान्त का ज्ञान होता है। नवतत्त्वों में से एक ज्ञायकतत्त्व को भिन्न जाने, अनुभव करे, तब नौ का ज्ञान यथार्थ हुआ कहलायेगा। पर्याय से भेदरूप वस्तु को जाने तो अनेकान्त ऐसा है नहीं। पर्याय है, नौ का भेद है – यह बात तो बराबर है, परन्तु इनका आश्रय लेना, इनका जानना, मानना तो मिथ्यादर्शन है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने तो कहा है कि अनेकान्त भी सम्यक्-एकान्त की तरह निजपद की प्राप्ति सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की सभी पर्यायों में भी वस्तु द्रव्य तो ज्ञायकपने ही है। अहा हा……! यह तो ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायकरूप से ही अनादि एकरूप रहता है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय – यह कोई वास्तविक जीव नहीं है; ज्ञायक इनरूप कभी हुआ नहीं है। ज्ञायकभाव ही वास्तविक जीव है।

जब तक जुदे-जुदे नवपदार्थों को जाने – यह पुण्य, यह पाप, यह संवर, यह निर्जरा – इसप्रकार वस्तु को भेदरूप जाने, परन्तु शुद्धनय से आत्मा को नहीं जाने, तबतक पर्यायबुद्धि है, द्रव्यबुद्धि नहीं है। एक शुद्धनय से आत्मवस्तु को जाने बिना कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है; अन्यथा नहीं। पर्याय से वस्तु को देखें तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। द्रव्य के साथ पर्याय को मिलाकर देखें तो भी समकित नहीं हो सकता। द्रव्यदृष्टि से जबतक आत्मा को नहीं देखे, तबतक पर्यायबुद्धि है। नियमसार की गाथा ५ की टीका में आता है कि – अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व और बहि:तत्त्व का कोई अंश मिलाकर श्रद्धा करना व्यवहारसमकित है। अंत:तत्त्व यानी पूर्णस्वरूप शुद्ध जीववस्तु तथा बहि:तत्व अर्थात् पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष – ये दो भेदोंवाला तत्त्व, इसकी श्रद्धा से व्यवहारसमकित है। व्यवहारसमकित अर्थात् राग, विकल्प। व्यवहारसमकित राग की पर्याय है, शुद्ध समकित है ही नहीं। यह तो आरोप से (समकित) है। निश्चय वीतरागी पर्याय निश्चयसमकित, और श्रद्धा का विकल्प – राग वह व्यवहारसमकित है।

यहाँ इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।।८।।

श्लोकार्थ :– **[इति]** इसप्रकार **[चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः]** नवतत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति **[उन्नीयमानं]** शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट की गई है, **[वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम् इव]** जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं। **[अथ]** इसलिए अब हे भव्य जीवो ! **[सततविविक्तं]** इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावों से भिन्न, **[एकरूपं]** एकरूप **[दृश्यताम्]** देखो । **[प्रतिपदम् उद्योतमानम्]** यह (ज्योति), पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्-चमत्कारमात्र उद्योतमान है ।

भावार्थ :– यह आत्मा सर्व अवस्थाओं में विविधरूप से दिखाई देता था, उसे शुद्धनय ने एक चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है; इसलिए अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो– ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है ।

टीका :– अब, जैसे नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है; उसीप्रकार, एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है (क्योंकि ज्ञेय और वचन के भेद से प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं) । उनमें से पहले, प्रमाण दो प्रकार के हैं– परोक्ष और प्रत्यक्ष ।[१]उपात्त और [२]अनुपात्त पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है और केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चितरूप से प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है । (प्रमाण ज्ञान है, वह ज्ञान पाँच प्रकार का है– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल । उनमें से मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है । इसलिए

---

[१] उपात्त=प्राप्त । (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त परपदार्थ हैं ।)

[२] अनुपात्त=अप्राप्त । (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त परपदार्थ हैं ।)

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः। प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च। तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च। तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र द्रव्यपर्यायात्मकेवस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः। तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्,

---

यह दो प्रकार के प्रमाण हैं।) वे दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के भेद का अनुभव करनेपर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और जिसमें सर्वभेद गौण हो गये हैं ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय दो प्रकार के हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यता से अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय का मुख्यता से अनुभव कराये सो पर्यायार्थिकनय है। यह दोनों नय द्रव्य और पर्याय का पर्याय से (भेद से, क्रम से) अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; और द्रव्य तथा पर्याय दोनों से अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्धवस्तुमात्र जीव के (चैतन्यमात्र) स्वभाव का अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव। वस्तु में जो गुण न हो उस गुण के नाम से (व्यवहार के लिए) वस्तु की संज्ञा करना सो नामनिक्षेप है। 'यह वह है' इसप्रकार अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना (—प्रतिमारूप स्थापना करना) सो स्थापना-निक्षेप है। वर्त्तमान से अन्य अर्थात् अतीत अथवा अनागत पर्याय से वस्तु को वर्त्तमान में कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। वर्त्तमान पर्याय से वस्तु को वर्त्तमान में कहना सो भावनिक्षेप है। इन चारों निक्षेपों का अपने-अपने लक्षणभेद से (विलक्षणरूप से—भिन्न-भिन्न रूप से) अनुभव किये जानेपर वे भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्य लक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करनेपर वे चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसप्रकार इन प्रमाण-नय-निक्षेपों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थ :—इन प्रमाण, नय, निक्षेपों का विस्तार से कथन विषयक ग्रन्थों से जानना चाहिये, उनसे द्रव्यपर्यायस्वरूप व

अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्। वर्त्तमानतत्पर्यायो भावः। तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते।

सिद्धि होती है। वे साधक अवस्था में तो सत्यार्थ ही हैं, क्योंकि वे ज्ञान के ही विशेष हैं। उनके बिना वस्तु को चाहे जैसे साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है। अवस्थानुसार व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं: प्रथम अवस्था में प्रमाणादि से यथार्थ वस्तु को जानकर ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि करना; ज्ञान-श्रद्धान के सिद्ध होने पर श्रद्धान के लिये प्रमाणादि की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु अब यह दूसरी अवस्था में प्रमाणादिक के आलम्बन से विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्म का सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है, उससे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होनेके पश्चात् प्रमाणादिका आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई आलम्बन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण, नय, निक्षेप का अभाव ही है।

कलश ८ पर प्रवचन

अनादिकाल से नवतत्त्वों में यह आत्मज्योति छिपी हुई है अर्थात् नवतत्त्वों के भेद की रुचि में संपूर्ण ज्ञायकभाव चैतन्यज्योतिस्वरूप अनंतकाल से ढका हुआ है। जिसे पर्यायबुद्धि द्वारा पर्याय के ही अस्तित्व की स्वीकृति है, निज त्रिकाली शुद्धात्मा स्वीकार नहीं है, उसे शुद्धात्मा अनादि से ढका हुआ है। कंचन, कामिनी और कुम्टुब तो कहीं बाहर ही रह गये—अजीव में रह गये; मात्र नवतत्त्वरूप भेदों के विकल्प की आड़ में संपूर्ण अभेद आत्मा ढक गया है, ऐसा कहा है।

भेद की बुद्धि या राग की बुद्धि—यही पर्यायबुद्धि है। मिथ्यादृष्टि को मुख्य गुणों की निर्मल पर्यायें तो हैं ही नहीं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व गुण की पर्यायें निर्मल हैं; किन्तु अंश—पर्याय की प्रीति में संपूर्ण अंशी—त्रिकाली शुद्धात्मा लुप्त हो गया है। उसके इन नवतत्त्वों में संवर, निर्जरा, मोक्ष—ये सच्चे नहीं हैं (अपेक्षित हैं)। ज्ञायकभाव की दष्टि होने पर ये संवर आदि सच्चे प्रगट होते हैं और तब फिर पर्याय-

अनुभव करो, पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो। पर्याय का एकान्त अनुभव मिथ्यात्व है, इससे पर्यायबुद्धि छोड़ो। इसप्रकार बाहर में और अन्तर में नग्न-दिगम्बर सन्त श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य आदि गुरुओं का उपदेश है।

गाथा १३ की कलश ८ के बाद की टीका पर प्रवचन

नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है। नवतत्त्वों में जितने भेद हैं, उन सबको दूर करके अभेद एक ज्ञायकभाव को ही भूतार्थ कहा, क्योंकि एक भूतार्थ के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। ऐसी वस्तुस्थिति है।

जैसे नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है; उसीप्रकार एकपने – ज्ञायकभावपने प्रकाशमान आत्मा के जानने के उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं, वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी एक आत्मा ही भूतार्थ है। एकपने प्रकाशमान आत्मा के अधिगम का अर्थात् जानने का वास्तविक उपाय तो ज्ञान की पर्याय में (भावश्रुतज्ञान में) एक अखंड ध्रुव ज्ञायकभाव को जानना-अनुभवना है। किन्तु भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा कही गई तत्त्ववस्तु को परमत में कहे गये तत्त्वों से भिन्न जानने के लिए, निश्चित करने के लिए (सविकल्प दशा में) जो प्रमाण, नय व निक्षेप हैं, वे अधिगम के उपाय कहे गये हैं; तथापि वे सब विकल्प हैं। इनके आश्रय से वस्तुतत्त्व का अनुभव नहीं होता। इससे अंतरंग प्रकाशमान स्वरूप के अनुभव की अपेक्षा ये सब निश्चय से अभूतार्थ हैं, झूठे हैं। प्रमाण, नय, निक्षेप के भेद जो प्रथम विकल्पकाल में होते हैं, वे व्यवहार से सत्य हैं; परन्तु अन्तर-अनुभवदृष्टि में ये सब अभूतार्थ हैं, क्योंकि इन विकल्पों से आत्मा जाना नहीं जाता; किन्तु निर्विकल्प अनुभव से ही जाना जाता है। इससे प्रमाणादि विकल्पों में भी एक आत्मा ही प्रकाशमान है।

अब कहते हैं – ज्ञेय और वचनों के भेद से प्रमाण आदि अनेक भेदरूप हो जाते हैं। ज्ञेयों के प्रकार – नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव वगैरह। ज्ञान के भी अनेक प्रकार हैं – प्रमाण, निश्चय, व्यवहार आदि। प्रमाण दो प्रकार का है – एक परोक्ष व दूसरा प्रत्यक्ष। उपात्त और अनुपात्त ऐसे दो द्वारों से प्रवर्ते वह परोक्ष। उपात्त अर्थात् इन्द्रिय, मन वगैरह मेलवाले परपदार्थ; अनुपात्त अर्थात् प्रकाश, उपदेश वगैरह अनमेल वाले परपदार्थ देखो! सर्वज्ञ की वाणी – आगमप्रमाण, यह परोक्षप्रमाण है। जिसमें मन, इन्द्रिय, उपदेश आदि का संबंध नहीं है – ऐसे आत्मा के आश्रय से ही सीधा प्रवर्ते, वह प्रत्यक्ष है।

प्रमाणज्ञान पाँच प्रकार का है – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान। उनमें मति व श्रुत दोनों परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्यय विकलप्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। इसप्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के प्रमाण हैं। वे दोनों प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण; प्रमाता– जाननेवाला, प्रमाण-ज्ञान, प्रमेय – जानने योग्यवस्तु, इन भेदों को अनुभव करते हुए भूतार्थ हैं। व्यवहार से ये विकल्प हैं – इस अपेक्षा से सत्यार्थ हैं, किन्तु ये कोई सम्यग्दर्शन का विषय नहीं हैं। तथा जिसमें सर्वभेद गौण हो गये हैं, जिनमें प्रमाणादि का लक्ष्य अस्त हो गया है, ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं। अनंत-अनंत आनंद, ज्ञान, शाँति, प्रभुता, ईश्वरता आदि जिनका एकस्वरूप है, ऐसे एकरूप चैतन्य का अनुभव करने पर वे प्रमाण के भेद असत्यार्थ हैं।

लोग कहते हैं – राग की मंदता करते-करते अनुभव होता है। व्यवहार साधन और निश्चय साध्य है। अर्थात् कषाय की मंदतारूप व्यवहार साधन हो तो अनुभवरूप साध्य आवे; किन्तु यह बिलकुल झूठी बात है। यहाँ तो कहते हैं कि प्रमाण के भेदों पर जहाँ तक लक्ष्य है, वहाँ तक सम्यग्दर्शन का विषय जो एकरूप आत्मा वह अनुभव में नहीं आता। जीव को क्रोध, मान, माया, लोभवाला जानना, यह तो पर्यायबुद्धि है ही; किन्तु उसे मति, श्रुत आदि पर्याय के भेदवाला जानना भी पर्यायबुद्धि है, मिथ्यादृष्टिपना है।

सर्वज्ञकथित आत्मा को जानने के लिए प्रथम अवस्था में ये सच्चे हैं, क्योंकि अन्यमत वाले आत्मा को अनेक प्रकार से कल्पना करके कहते है। उनसे भिन्न आत्मा का यथार्थ निर्णय करने के लिए ये उपयोगी हैं, अतः इन्हें उपाय कहा है – वह ठीक है; परन्तु इनके द्वारा आत्मा ज्ञात हो जायगा, ऐसा नहीं है।

विकल्प द्वारा जानने पर केवलज्ञान का प्रत्यक्षपना ख्याल में आता है। केवलज्ञान एकसमय में तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष जानता है, ऐसा निर्णय आता है। तथा अवधि, मनःपर्यय देशप्रत्यक्ष हैं; ऐसा विकल्प से नक्की होता है। परन्तु यह तो सब भेद का पक्ष है। भगवान आत्मा अखंड, एकरूप, चिदानंदघन, एकपने के अनुभव में इन भेदों का आलम्बन नहीं है।

अब नय के संबंध में कहते हैं। नय दो प्रकार के हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो नय द्रव्य का लक्ष्य करता है, उसे द्रव्यार्थिकनय

हैं और जो नय पर्याय का लक्ष्य करता है, उसे पर्यार्थिकनय कहते हैं। द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक और पर्याय जिसका प्रयोजन है वह पर्यार्थिकनय है। द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु में द्रव्य को मुख्यपने अनुभव करावे अर्थात् द्रव्य को मुख्यपने जनावे – ज्ञात करावे, वह द्रव्यार्थिकनय है (यहाँ अनुभव का अर्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। विकल्पपूर्वक जानने के अर्थ में अनुभव शब्द है।) और पर्याय का मुख्यपने अनुभव करावे, वह पर्यायार्थिकनय है।

जहाँ भूतार्थ के अनुभव को सम्यग्दर्शन कहा – वहाँ जो भूतार्थ को मुख्य कहा, वह तो किसी भी प्रकार से कभी भी गौण नहीं होता है। भूतार्थ जो त्रिकाली एकरूप ज्ञायकभाव, जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, वह तो मुख्य ही है, हमेशा मुख्य है। जानने में मुख्य-गौणपना होता है – यह दूसरी बात है। वहाँ पर्याय भी मुख्यपने आती है, परन्तु अनुभव में (अनुभव के विषय में) पर्याय कभी मुख्य नहीं हो सकती। पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित, एकसमय की पर्याय से पृथक् जो भूतार्थ त्रिकाली वस्तु है, वह नित्यसत्य है; और जो पर्याय है, उसे गौण करके असत्य कहा है, अनुभव में पर्याय कभी मुख्य नहीं होती। किन्तु यहाँ जो दोनों को मुख्य कहा है, वह तो जानने की अपेक्षा कहा है।

वे दोनों नय द्रव्य और पर्याय को पर्याय से (भेद से, क्रम से) अनुभव करें अर्थात् द्रव्य और पर्याय को भेद से, क्रम से जानें तो यह भूतार्थ है। पर्याय के लक्ष्य से ये दोनों ही भूतार्थ हैं। आगे कहा है कि भूतार्थ एक है। यहाँ दोनों को भूतार्थ कहा है ऐसा क्यों है? दो हैं – अतः इस रीति से दोनों का ज्ञान कराते हैं। उन दोनों की अपेक्षा से दोपने का ज्ञान और दोपना सत् है, किन्तु ये आश्रय करने लायक नहीं हैं।

११वीं गाथा में ऐसा कहा है कि भूतार्थ है, वह शुद्धनय है और पर्याय है, वह अभूतार्थ है। पर्याय जो असत्य है, वह किसी भी काल में सत्य नहीं होती। परन्तु पर्याय पर्याय-तरीके सत्य है, त्रिकाली की अपेक्षा से असत्य है। एक अपेक्षा से त्रिकाल आत्मा को भूतार्थ कहा तथा दूसरी अपेक्षा से द्रव्य और पर्याय – दोनों को भेद से, क्रम से जानना – यह भूतार्थ है, इसप्रकार कहा। यहाँ अपेक्षा अच्छी तरह समझना चाहिए। जब द्रव्य को मुख्य करके द्रव्य जानने में आता है, तब पर्याय गौण रहती है। जब पर्याय को मुख्य करके पर्याय जानी जाती है, तब द्रव्य गौण हो जाता है। ये दोनों नयपक्ष हैं, भेदरूप विकल्प हैं। 'ये हैं' – इस अपेक्षा से दोनों भूतार्थ हैं। आश्रय करने योग्य भूतार्थ की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ये दो नय हैं – मात्र इतना दिखाना हैं, अतः भूतार्थ कहा है; पर जिसके आश्रय सम्यग्दर्शन होता है – ऐसे भूतार्थ ये नहीं हैं। अहो ! दिगम्बर संतों ने गजब काम किया है।

अब कहते हैं – द्रव्य और पर्याय इन दोनों से आलिंगन नहीं करता हुआ अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य को मुख्य करके जानना तथा पर्यायार्थिक-नय से पर्याय को मुख्य करके जानना – ऐसे दोनों भेदपक्षों को स्पर्श नहीं करते हुए या दोनों प्रकार के विकल्पों से रहित शुद्ध वस्तु मात्र त्रिकाली, एकरूप, शुद्ध, चैतन्यभाव को अनुभव करते हुए दोनों नयों के भेद असत्यार्थ हैं, झूठे हैं।

'घड़ीक में साँचा व घड़ीक में झूठा ?' यह क्या ? भाई ! जो अपेक्षा हो, उसे बराबर समझना चाहिए। क्या व्यवहार व्यवहार की अपेक्षा से नहीं है ? क्या पर्याय पर्याय की अपेक्षा भी नहीं है ? यदि पर्याय सर्वथा न हो तो फिर द्रव्य अकेला रह जायगा और एकांत हो जायगा। अतः पर्याय पर्यायपने है, वह शुद्धजीववस्तु में नहीं है। ऐसी शुद्धजीववस्तु का अनुभव तो पर्याय में ही होता है। पर्याय वस्तु से भिन्न रहकर सम्पूर्ण वस्तु को जान लेती है। पर्याय द्रव्य में – शुद्धजीववस्तु में नहीं है, किन्तु पर्याय में पूरा द्रव्य ज्ञात हो जाता है।

द्रव्य जो वस्तुमात्र अखण्ड है, वह त्रिकाली सत् है; किन्तु इस सत् को जानने वाली तो पर्याय है न ? वेदान्त ऐसा कहता है कि आत्मा कूटस्थ है, तो इस कूटस्थ को जाना किसने ? क्या कूटस्थ कूटस्थ को जानता है ? अरे भाई ! अनित्यपर्याय नित्यद्रव्य को जानती है और वह पर्याय द्रव्य को स्पर्श किये बिना ही नित्य को जानती है। ऐसी बात है, भाई ! एक बात बदले तो सम्पूर्ण बात बदल जाती है। वेदान्त एक कूटस्थ द्रव्य ही कहता है; पर एक कूटस्थ द्रव्य ही है, ऐसा निर्णय किसने किया ? पर्याय ने। तो पर्याय है कि नहीं ? पर्याय है; किन्तु वह पर्याय आश्रय करने लायक नहीं है। आश्रय करनेवाली तो पर्याय ही है।

यहाँ कहते हैं कि – चैतन्यमात्र, एकरूप स्वभाव का अनुभव करने पर यानी चैतन्यमात्र वस्तु का पर्याय में वेदन करने पर अर्थात् आनंद का वेदन पर्याय में आने पर ये प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण और नयों के विकल्प – सब झूठे हैं। (पीछे नयों के भेद की चर्चा में जो 'अनुभव' शब्द था, उसमें तो जानने की अपेक्षा थी) भेद से देखने पर ये सत्य हैं, किन्तु अभेद में भेद दिखाई नहीं देता, इससे वह असत्यार्थ है। अभेद में भेद दीखे तो अभेद नहीं रहे। भेद के लक्ष्य से ही भेद दीखता है।

पहले प्रमाण की बात की, पीछे नयों की। अब निक्षेप संबंधी बात कहते हैं। निक्षेप के चार भेद हैं – नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव।

वस्तु में गुणधर्म की अपेक्षा रखे बिना नाममात्र कथन के व्यवहार को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे – किसी भी व्यक्ति का नाम महावीर रखा गया, उसमें महावीर का एक भी गुण नहीं, यह नामनिक्षेप है। 'यह वह है' – ऐसा अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में प्रतिनिधित्व स्थापित करना, प्रतिमारूप स्थापना करना, यह स्थापनानिक्षेप है। अतीत या अनागत पर्याय से वस्तु को वर्त्तमान पर्याय में कहना द्रव्यनिक्षेप है – जैसे भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले जीव को वर्त्तमान में तीर्थंकर कहना; चौवीस तीर्थंकर हो गये, जो अब तो सिद्धावस्था में हैं, उन्हें तीर्थंकर कहना, यह सब द्रव्य-निक्षेप से कथन है। वर्त्तमान पर्याय से वस्तु को वर्त्तमान में कहना भाव-निक्षेप है – जैसे पूजा करते समय पूजा करनेवाले को पुजारी कहना।

इन चारों ही निक्षेपों को अपने-अपने लक्षणभेद से अनुभव (ज्ञान) करना भूतार्थ है। ज्ञान की अपेक्षा से इन चारों प्रकार ज्ञान करना बराबर है, परन्तु वस्तुस्थिति से नहीं।

नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव – इन चार लक्षणों से रहित एक अपना चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर ये चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। नाम, स्थापना आदि ये तो ज्ञेय के भेद हैं। ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय के भेद ज्ञात होना – यह विकल्प है, राग है। पर्याय में चार निक्षेपों को जानने की अपेक्षा से ये चार हैं, किन्तु चैतन्यलक्षणरूप निज एकरूप ज्ञायकभाव का अनुभव करने पर चारों ही झूठे हैं।

इसप्रकार भूतार्थ – सत्यार्थ दृष्टि से देखें तो प्रमाण, नय, निक्षेप में एक जीव ही प्रकाशमान है। त्रिकाली एकरूप ज्ञायकभाव ही आत्मा है। ऐसे आत्मा की दृष्टि व अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है और यहाँ से ही धर्म की शुरुआत होती है।

गाथा १३ की कलश ८ के बाद की टीका के भावार्थ पर प्रवचन

प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण, द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप – इन तीनों का विस्तार से कथन तद्-विषयक अन्य ग्रन्थों से जान लेना चाहिए; क्योंकि इनसे द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु की सिद्धि होती है। द्रव्य यानी वस्तु और पर्याय यानी अवस्था (हालत)। आदि-अंतरहित त्रिकालीध्रुव अविनाशी चीज आत्मवस्तु को द्रव्य कहते हैं। इसकी बदलती दशा – मति, श्रुत आदि को पर्याय कहते

हैं। ऐसी द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु है। वेदान्ती अकेले द्रव्य को कूटस्थ ही मानते हैं, बौद्ध पर्याय को ही मानते हैं; सर्वज्ञ ने द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु को जाना है, और ऐसी ही कही है। ऐसी द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु को प्रथम अवस्था में सिद्ध करने के लिए ये प्रमाण, नय, निक्षेप आवश्यक हैं, इनसे वस्तु की सिद्धि होती है। यह सम्यग्ज्ञान की बात नहीं है। (इनके जानने से सम्यग्ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है) बस इतना है कि ये ज्ञान के विशेष भेद हैं, साधक अवस्था में ये सत्यार्थ ही हैं। त्रिकाली ज्ञायकभाव – द्रव्य है, एकसमय की पर्याय – भेद है, इसप्रकार साधना – यह व्यवहार से सत्यार्थ है, क्योंकि ज्ञान के ये विशेष हैं, इनके बिना वस्तु साधने में आवे तो विपरीतता हो जाती है। इनसे वस्तु की यथार्थ सिद्धि होती है।

अब कहते हैं – अवस्था अनुसार व्यवहार के अभाव की भी रीति है। प्रथम अवस्था में प्रमाण, नय, निक्षेप से यथार्थवस्तु को जानकर ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि करना। प्रथम प्रमाण, नय, निक्षेप द्वारा वस्तु को साधकर यथार्थ निर्णय करना कि वस्तु आत्मा त्रिकाल, एकरूप, अखंड, ज्ञानघन, चैतन्यस्वरूप है। इनका ज्ञान-श्रद्धान करना व्यवहार की बात है।

ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि होने के बाद चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञायकदेव – जो चैतन्य के नूर के तेज का पूर है – ऐसे आत्मा का ज्ञान करना। यहाँ ज्ञान की पर्याय में पूर्ण शुद्धवस्तु का ज्ञान होना – इसको ज्ञान करना कहा है। पर्याय में त्रिकाली आत्मा का ज्ञान होना, इसे आत्मज्ञान – सम्यग्ज्ञान कहते हैं। पहले प्रमाण, नय, निक्षेप से वस्तु को जानकर ज्ञान-श्रद्धान करना – ऐसा कहा था। यह तो व्यवहार से मन द्वारा विकल्प में निर्णय करने की बात थी। यहाँ तो वस्तुतत्त्व के अन्तर-अनुभवपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान की बात की है।

शरीर, मन, वाणी, ये तो मिट्टी-जड़-धूल हैं। ये कोई आत्मा नहीं हैं। अन्दर ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदिकर्म हैं, वे भी जड़-धूल हैं, तथा दया, दान, पूजा, भक्ति वगैरह के जो शुभभाव होते हैं, वे पुण्य-राग है; तथा हिंसा, झूठ, चोरी, भोग, विषय-वासना, ये पाप-राग है। इस पुण्य-पाप के राग से भिन्न अन्दर जो त्रिकालध्रुव आत्मवस्तु चैतन्यरूप है, इसे वर्त्तमान ज्ञान की पर्याय में लक्ष्य में लेना – इसे ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहा जाता है।

नियमसार की गाथा तीन में आता है कि – 'परद्रव्य का अवलम्बन लिये बिना सम्पूर्णरूप से अंतर्मुख योगशक्ति में से उपादेय निजपरमतत्त्व का परिज्ञान ज्ञान है।' परिज्ञान कहने से समस्त प्रकार से ज्ञान होना – जैसा

आत्मा पूर्ण – परिपूर्ण है ऐसा ज्ञान होना – इसका नाम सम्यग्ज्ञान है; शास्त्र-ज्ञान कोई ज्ञान नहीं है।

ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि होने के वाद श्रद्धान के लिए प्रमाणादि की कोई आवश्यकता नहीं है। पीछे प्रमाण, नय, निक्षेप से वस्तुस्वरूप सिद्ध करना शेष नहीं रहता। अनुभव में आ गया कि आत्मा पूर्णानंदस्वरूप है, अर्थात् इसका सम्यग्ज्ञान और प्रतीति हो गई। अब इसे पूर्णस्वरूप में स्थिरता करना ही शेष है।

परन्तु इसका दूसरी अवस्था में प्रमाणादि के आलम्बन से विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्म का सर्वथा अभावरूप यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। अर्थात् ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि होने के पश्चात् जबतक पूर्ण चारित्र प्रगट नहीं होता तवतक नय, निक्षेप से जानना होता है। नय, निक्षेप से चारित्र के स्वरूप का ज्ञान होना – वह व्यवहारचारित्र है। और अन्दर ज्ञानस्वरूप में अतीन्द्रिय आनंदरूप स्थिरता हुई – यह निश्चयचारित्र है। देह की क्रिया तो जड़पुद्गल की क्रिया है, यह कोई चारित्र नहीं है। अन्दर अहिंसा, सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पाँच महाव्रत के विकल्प उठना – यह भी रागभाव है। इनसे रहित परिपूर्ण आनंदमूर्ति भगवान आत्मा में निर्विकल्प स्थिरता हुई, वह चारित्र है। इसप्रकार नय, निक्षेप से चारित्र का स्वरूप जानकर आनंद का नाथ परिपूर्ण भगवान आत्मा जो ज्ञान-श्रद्धान में लिया है – उसमें रमना, स्थिर होना निश्चय-चारित्र है। त्रिकाली में लीन होना कहा, किन्तु ज्ञान-श्रद्धान में लीन होना – ऐसा नहीं कहा; क्योंकि यह तो पर्याय है। त्रिकाली भगवान आत्मा में परिपूर्ण लीनता करने से राग-द्वेष-मोह का सर्वथा अभाव होता है और यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। जैसी स्वरूपस्थिति है, वैसी पर्याय में प्रगट होती है, उससे केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान होने के वाद प्रमाण आदि का आलम्बन नहीं रहता। इसके बाद सिद्धावस्था प्रगट हो जाती है। वहाँ भी कोई आलम्बन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण, नय, निक्षेप का अभाव है।

इस अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं :–

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९।।

जानने की शक्ति से परिपूर्ण चैतन्यचमत्कार प्रकाशमान ज्ञानज्योतिस्वरूप वस्तु है। शुद्धनय सर्वभेदों को–नवतत्त्व के भेदों को गौण करके अर्थात् अजीव-जड़ का लक्ष्य छोड़कर तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष जो (ध्रुव की अपेक्षा) बहि:तत्त्व हैं, उनका भी लक्ष्य छोड़कर एक त्रिकाली शुद्ध चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मवस्तु को देखता है। अज्ञानी को दया, दानादि के राग की आड़ में तथा नवतत्त्व के भेदों के राग की आड़ में चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा दिखाई नहीं देता। परन्तु शुद्धनय सर्वभेदों को गौण करके अनंत-शक्तिसम्पन्न त्रिकाली शुद्ध जीववस्तु को देखता है, अनुभव करता है। उसका अनुभव होनेपर, उसके अनुसरण करने से हुए वेदन में, नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती।

उसका अनुभव होनेपर कहकर किसके अनुभवों की बात कर रहे हैं आप? शुद्धनय के विषयभूत, ध्यान के ध्येयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र ध्रुववस्तु की यह बात है। अहा हा......! ध्यान के ध्येयरूप आनन्दकंद चैतन्यचमत्काररूप पूर्ण आत्मा का अनुभव होनेपर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती। अर्थात् यह द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य है और पर्यायार्थिकनय से पर्याय है, ऐसे नय के विकल्प उत्पन्न नहीं होते।

कोई कह सकता है, यह किस जात का धर्म है? यह कैसा जैनधर्म है? क्या सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा धर्म कहा होगा? अबतक तो ऐसा समझते थे कि ब्रह्मचर्य पालना, हरी सब्जी न खाना, जमीकंद न खाना, दया पालना आदि धर्म है।

भाई! पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। पर का त्याग किया–ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मैंने सब छोड़ दिया, ऐसा अभिमान (मान्यता)–यह भी मिथ्यात्व है। क्योंकि परवस्तु को आत्मा ने ग्रहण ही नहीं किया तो छोड़े कहाँ से? परवस्तु–शरीर, मन, वाणी, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, देश आदि का ग्रहण किया हो तो त्याग हो, किन्तु इनका ग्रहण किया ही नहीं तो किसको छोड़े? हाँ, पर्याय में विकार को अज्ञानभाव से ग्रहण किया है, इसका त्याग भी कथनमात्र है। राग के त्याग का कर्त्ता कहना व्यवहार–कथनमात्र है। परमार्थ से राग का कर्त्ता आत्मा नहीं है। समयसार गाथा ३४ में आता है कि परमार्थ से परभाव के त्याग का कर्त्ता आत्मा नहीं है। आत्मा तो चैतन्यचमत्कारमात्र तेज:पुञ्ज है। उसमें राग है व उसको छोड़ना है–ऐसा है ही नहीं। राग परवस्तु है, इसकारण राग का छोड़ना भी नहीं है। विषय बहुत सूक्ष्म पड़ता है, अत: लोग कह देते हैं कि ये तो निश्चय की बातें हैं। किन्तु यह तो भगवान का कहा हुआ वस्तुस्वरूप है।

भगवान की वाणी सुनने को एक भवावतारी इन्द्र आते हैं। सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख विमान हैं। एक-एक विमान में असंख्य देव हैं। उनका स्वामी शक्रेन्द्र एक भवावतारी होता है। वह एक भव धारणकर मोक्ष जायगा। और उसकी हजारों इन्द्राणियों में प्रमुख इन्द्राणी (पट्टरानी) भी एक भवावतारी होती है। वह वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जायगी। अहा हा........? वे जब समवशरण में दिव्यध्वनि सुनते होंगे, गणधर-मुनिवर सुनते होंगे, वह दिव्यध्वनि – जिनवाणी कैसी होती होगी ? 'दया पालो' – ऐसी बात तो अपढ़-अजान कुम्हार भी कहता है। यहाँ तो परमेश्वर की वाणी के अनुसार कहते हैं कि पर की दया तो आत्मा पाल ही नहीं सकता, परन्तु पर की दया का जो विकल्प उठता है, वह राग है। राग आत्मा की हिंसा है तथा पर की दया मैं पाल सकता हूँ– ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है।

ऐसा मार्ग है भगवन् ! सभी आत्माएं स्वभाव से भगवान हैं। ऐसे भगवान आत्मा का अनुभव होने पर अनेक प्रकार के नय-विकल्प नहीं उठते हैं। तथा 'प्रमाणं अस्तम् एति' प्रमाण अस्त हो जाता है। केवलज्ञान प्रत्यक्ष व मति, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं – ऐसा विकल्प अस्त हो जाता है। 'अपि च' और 'निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः' निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, यह हम नहीं जानते। आत्मानुभव में नाम, स्थापनादि निक्षेपों के विकल्प नष्ट हो जाते हैं। 'किम् अपरम् अभिदध्मः' इससे अधिक क्या कहें ? 'द्वैतम् एव न भाति' द्वैतपना ही भासित नहीं होता। गुण-गुणी का भेद तो दूर रहो, किन्तु इस अनुभव की पर्याय और जिसका अनुभव करे – जाने, वह त्रिकाली शुद्ध आत्मा – यह दोपना भी भासित नहीं होता। अनुभव में एकपने जिसवस्तु का अनुभव है, वही भासती है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई ! (उपयोग सूक्ष्म करे तो समझे, ऐसी बात है।)

कलश ६ के भावार्थ पर प्रवचन

भेद को अत्यन्त गौण करके कहा है कि प्रमाण-नयादि भेद की तो बात ही क्या ? भेद को गौण करना अर्थात् यह पर्याय है, यह द्रव्य है, इस भेद का लक्ष्य भी छोड़ देना। पर्याय का अभाव करके लक्ष्य छोड़ने की बात नहीं है; किन्तु पर्याय को गौण करके, पेटे में रखकर, मात्र उसका लक्ष्य छोड़ देने की बात है।

भगवान आत्मा नित्य, ध्रुव, आदि-अन्तरहित, परमपारिणामिक भावरूप, अखंड, अभेद वस्तु है, त्रिकालशुद्ध है। इसे वर्त्तमान अवस्था से

देखें तो पर्याय है। (पर्याय, दशा, अंश, हालत, अवस्था सब एकार्थवाचक हैं।) परन्तु शुद्ध चैतन्यघन शाश्वत एक ज्ञायकभाव की दृष्टि होनेपर पर्याय का भेद गौण हो जाता है। द्रव्य को विषय तो पर्याय करती है, परन्तु उसमें पर्यायभेद गौण हो जाता है। वर्त्तमान पर्याय त्रिकाली में दृष्टि करके झुके, वहाँ अभेद एकरूप आत्मा का अनुभव होता है, वह सम्यग्दर्शन है।

भाई! तुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो तो पर्यायमात्र को गौण करके, असत्यार्थ करो। नियमसार गाथा ५० में निर्मल पर्याय को परद्रव्य कहा है, गौण करके असत्यार्थ कहा है; क्योंकि जिसप्रकार परद्रव्य में से नई पर्याय नहीं आती; उसीप्रकार पर्याय में से नई पर्याय नहीं आती। यहाँ कहते हैं – शुद्ध ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा का अनुभव होने पर द्वैतपना प्रतिभासित नहीं होता; प्रमाण, नय, निक्षेप की तो बात ही क्या? एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इसके समझे बिना व्रत, तप और भक्ति आदि सब बिना दूल्हे की बरात जैसे हैं। आत्मा 'वर' जो मुख्यवस्तु है, उसे छोड़कर लोग क्रिया-कांड में अटक गये हैं। यह क्रियाकांड बाहर विशेष दिखाई देता है। इससे प्रशंसा मिल जाती है, महिमा हो जाती है। किन्तु प्रभु! एकबार 'सत्य क्या है' – यह सुन तो सही। यह वीतराग का मार्ग जगत की मान्यताओं से जुदा अलौकिक ही है। किसी के साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। सर्वज्ञ भगवान ऐसा फरमाते हैं कि इस अखंड आनंदस्वरूप, चैतन्यघन वस्तु में द्रव्यकर्म व राग तो है ही नहीं, किन्तु जो वर्त्तमान पर्याय वस्तु का अनुभव करती है, वह पर्याय वस्तु – द्रव्य में नहीं है। पर्याय में त्रिकाली का अनुभव होता है, तो भी पर्याय में द्रव्य नहीं आता, किन्तु त्रिकाली द्रव्य का ज्ञान आता है। ऐसी अपूर्व बात है, भाई! ऐसी एकरूप चैतन्यवस्तु का अनुभव होने पर कोई भी भेद ज्ञात नहीं होते, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है। इसे सम्यग्दर्शन और धर्म कहते हैं।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि – अंत में तो परमार्थ-रूप अद्वैत का ही अनुभव हुआ। हम तो अद्वैत कहते ही हैं, तुम्हारे मत में भी अद्वैत आया। आप कहते है न कि 'अनुभव में द्वैत ही भासित नहीं होता।' – द्वैत कहीं है ही नहीं, यही तो हमारा मत है। वेदान्त के मतानुसार – एक ही आत्मा सर्वव्यापक है। विज्ञानाद्वैतवादी भी ऐसा ही कहते हैं। इसप्रकार अज्ञानी प्रश्न करते हैं कि नय, निक्षेप की बहुत लम्बी-लम्बी बातें करके तुमने विशेष क्या कहा?

उत्तर :– आपके मत में सर्वथा अद्वैत अर्थात् दो नहीं, मात्र एक ही माना गया है। सर्वथा अद्वैत माना जाय तो बाह्यवस्तु का अभाव ही हो जायगा। आत्मा जो राग आदि परज्ञेयों को जानता है, उन सब चीजों का अभाव हो जायगा। किन्तु ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मत में नय-विवक्षा है, अपेक्षा से कथन है। वह बाह्यवस्तु का लोप नहीं करती। बाह्यवस्तु, बाह्यवस्तु में तो है; वह आत्मा में नहीं है। राग रागपने है, पर्याय भी पर्यायरूप से है। बाह्यवस्तु कहीं अभावरूप नहीं है। हमारे यहाँ तो नय-विवक्षा है। निश्चयनय के विषय का अनुभव होने पर द्वैत दिखाई नहीं देता – ऐसा है। ऐसा कहने से बाह्यवस्तु राग, पर्याय आदि हैं ही नहीं – ऐसा नहीं है। शुद्धद्रव्य अनुभव में आने पर विकल्प मिट जाते हैं – इतना ही प्रयोजन है। पूर्णानन्द का नाथ जो शुद्धज्ञायकभाव, उसकी ओर के झुकाव से जब अनुभव होता है, तब भेद का विकल्प मिट जाता है। भेदरूप वस्तु जगत में है ही नहीं – ऐसा नहीं है।

वेदान्त एक सर्वव्यापक ही कहता है, किन्तु ऐसा नहीं है। संख्या में अनंत आत्माएँ हैं। एक-एक आत्मा (असंख्यातप्रदेशी) शरीरप्रमाण है। आत्मा (क्षेत्र से) सर्वव्यापक नहीं है। एक आत्मा में अनंत गुण हैं; और इन अनंत गुणों में एकसमय में अनंत पर्यायें होती हैं। इन सबकी सत्ता (अस्तित्त्व) रखते हुए अभेद के अनुभव में इनका (परसत्ता व भेदों का) विकल्प मिट जाता है – ऐसी बात है; वस्तु ही मिट जाती हो –ऐसी बात नहीं है।

अरे रे........! जैनदर्शन क्या है? इसे यथार्थ समझे बिना जैन होने पर भी कुछ लोगों को वेदान्त की ही श्रद्धा रहती है। जैनदर्शन में तो परमानंदस्वरूप, अतीन्द्रिय आनंद का धाम, शुद्धचेतनामात्र वस्तु जो है, उसमें एकाग्र होनेपर भेद का विकल्प मिट जाता है और प्रगट परमानंद की प्राप्ति होती है, इसे अद्वैत कहा है। अद्वैत अर्थात् सब एक हैं, ऐसा नहीं। इसप्रकार अनुभव करने के लिए ऐसा कहा कि 'शुद्धनय में द्वैत भसित नहीं होता।' पं० जयचंदजी यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं कि – जो बाह्यवस्तु का लोप करेंगे तो आत्मा का ही लोप हो जायगा। आत्मवस्तु दर्शन-ज्ञानस्वभाव है। उसकी एक-एक समय की पर्याय प्रगट होती है। आत्मा की ज्ञान की पर्याय में संपूर्ण लोकालोक को जानने की ताकत है। अब कहते हैं कि – जो बाह्यवस्तु – लोकालोक न हो तो उसको जानने-वाली ज्ञान की पर्याय भी न हो और जो पर्याय न हो तो जिसकी ये पर्यायें हैं वह अनंतपर्यायों का पिण्ड आत्मा ही न हो, उससे यह लोकालोक हो

मानने में नहीं आयेगा तो स्वयं का ही लोप हो जायगा। इसप्रकार शून्यवाद का प्रसंग आ जायगा। आत्मा के श्रुतज्ञान की पर्याय में भी लोकालोक को जानने की ताकत है। जो लोकालोक को न मानें तो उसे जाननेवाली अपनी पर्याय को भी नहीं माना, ऐसी अनंतपर्यायों का आधार जो ज्ञानगुण वह भी नहीं माना तथा अनंतगुण का पिण्ड जो आत्मा स्वयं है, उसे भी नहीं माना। इसतरह सर्वशून्यवाद का प्रसंग आ जायगा। इसलिए जो तुम कहते हो उसप्रकार से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।

तुम, अद्वैत ही है, दूसरा कुछ है ही नहीं, ऐसा कहते हो। द्रव्य अकेला ही हो और पर्याय नहीं हो, तो द्रव्य है – इसका निर्णय करनेवाला कौन ? जो अनित्यपर्याय है वह नित्यवस्तु का निर्णय करती है। जो तुम अकेले नित्य को मानोगे तो उसे माननेवाली – निर्णय करनेवाली पर्याय का नाश हो जायगा। इस प्रसंग में नित्य का भी अभाव हो जायगा।

इसतरह वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है, उसमें ध्रुव नित्यानंदस्वरूप ज्ञायकभाव द्रव्य की दृष्टि करने पर अकेले अभेद का, निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। ऐसे अभेद आत्मा का अनुभव कोई विशेष ज्ञान हो तो ही होता हो, ऐसा नहीं है। नरक में पड़ा हुआ नारकी जीव, आठ वर्ष की बालिका तथा तिर्यञ्च भी अनुभवपूर्वक समकित प्राप्त करता है। ढाई द्वीप में जहाँ-जहाँ मनुष्य हैं वहाँ भी तिर्यञ्च हैं तथा ढाई द्वीप के बाहर असंख्य द्वीप-समुद्र में असंख्य तिर्यञ्च हैं, जो पंचम गुणस्थानवाले हैं। एक त्रिकाल ध्रुव आत्मा की दृष्टि होना चाहिए।

अनादि से जीव एकसमय की पर्याय में (भेद में) रमते हैं (इसे ही देखते हैं)। पर्याय के पीछे संपूर्ण ध्रुवद्रव्य पड़ा है, इसे नहीं देखते। जैसे– सोने का कुण्डल, कड़ा, अँगूठी आदि पर्यायों के पीछे संपूर्णद्रव्य पड़ा है कि नहीं ? इसी तरह एकसमय की प्रगट ज्ञान की जो पर्याय है, इस पर्याय के पीछे एकरूप परमात्मस्वरूप पूर्ण ज्ञायकदल पड़ा है। वह अनंतगुण मंडित है, किन्तु गुण-गुणी के भेद पर नजर करने से विकल्प – राग उठता है। जो राग उत्पन्न होता है, वह दुख का कारण है, दुख ही है। इससे भेद को गौण करके भगवान सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा देखा है, उस शुद्ध चैतन्यघन आनंददल में दृष्टि करना चाहिए। उससे सम्यग्दर्शनरूप धर्म होता है।

वस्तु जैसी अनतगुणरूप और एकसमय की पर्यायरूप है, जिसमें लोकालोक को जानने की शक्ति है, ऐसी वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा विना अनुभव करने में आवे तो मिथ्यात्व है। वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा विना

बहुत से वेदान्ती ऐसा कहते हैं कि – हम शुद्ध अद्वैत का अनुभव करते हैं, किन्तु यह अनुभव नहीं है।

भगवान ने अनंत आत्मा, इनसे अनंतगुणे पुद्गल परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश – ऐसे छह द्रव्य देखे हैं। तथा इन सभी द्रव्यों की जाननेवाली पर्याय भी है। इस पर्याय से भिन्न संपूर्ण आत्मदल पड़ा है। पर्याय से इस चैतन्यदल की दृष्टि करने पर विकल्प टूट जाता है, राग नहीं रहता। तब निर्विकल्प दशा में शुद्ध अद्वैत का अनुभव होता है, और तब प्रगट परम आनंद प्राप्त होता है। इसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

'मैं शुद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा कहा करे, किन्तु शुद्ध वस्तु क्या है ? और कैसी है ? यह जाने बिना 'मैं शुद्ध हूँ' – यह अनुभव सच्चा नहीं है। यह तो मिथ्यात्व है। सर्वथा अद्वैतवादी को शून्य का प्रसंग होने से उल्टी श्रद्धा में जो राग का अनुभव हुआ, वह तो आकाश के फूल जैसा अनुभव हुआ (आकाश में जैसे फूल नहीं हैं, उसी तरह इसे आत्मा का अनुभव नहीं है)।

ज्ञान में प्रथम ऐसा निर्णय करे कि मैं तो अनंतगुण का पिण्ड चैतन्यमात्र वस्तु हूँ। यह निर्णय करनेवाली तो पर्याय है, किन्तु वह पर्याय ऐसा जानती है कि मैं तो त्रिकाली ध्रुव हूँ। समयसार गाथा ३२० की जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि आत्मद्रव्य सकल निरावरण, अखंड, एक, अभेद, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। ऐसा अविनश्वर, नित्य ध्रुव, शुद्धपारिणामिक, परमभावलक्षण निजपरमात्म द्रव्य मैं हूँ। पर्याय ऐसा जानती है कि मैं यह हूँ। मैं पर्याय हूँ ऐसा नहीं जानती। निर्णय कार्यपर्याय में होता है, ध्रुव में नहीं। ध्रुव तो त्रिकाल निरावरण कारणरूप है, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं।

भाई ! परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा का मार्ग तो कोई अलौकिक है। वह वस्तुदृष्टि विना अनंतकाल में भी प्राप्त नहीं हुआ। ग्यारह अंग का ज्ञान किया, नौ पूर्व की लब्धि प्रगट हुई और शुक्ल लेश्या – चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी आँख का कोना भी लाल न हो, ऐसा शुक्ललेश्या का मंदकषायरूप परिणाम हुआ तथा उसके फल में स्वर्ग गया, किन्तु इससे जन्म-मरण नहीं मिटा।

स्वर्ग का भव हो या नरक का – चारों ही गति दुर्गति हैं, एक सिद्धपद सुगति है। अतः भगवान आत्मा की यथार्थ दृष्टि करके सिद्धपद की साधना प्रगट करना चाहिए।

आगे शुद्धनय का उदय होता है उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं:-

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।१०।।

श्लोकार्थ :– [शुद्धनयः आत्मस्वभावं प्रकाशयन् अभ्युदेति] शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभाव को **[परभावभिन्नम्]** परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव – ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है। और वह, **[आपूर्णम्]** आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है – समस्त लोकालोक का ज्ञाता है – ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञान में भेद कर्मसंयोग से हैं, शुद्धनय में कर्म गौण हैं।) और वह, **[आदि-अन्त-विमुक्तम्]** आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भाव को प्रगट करता है।) और वह, **[एकम्]** आत्मस्वभाव को एक – सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है, और **[विलीनसंकल्प-विकल्प-जालं]** जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं, ऐसा प्रगट करता है। (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है ।।१०।।

कलश १० पर प्रवचन

शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ उदित होता है। ज्ञान की जो पर्याय त्रिकाली ध्रुव को अपना विषय बनाये, उसे शुद्धनय कहते हैं। विषय और विषयी के भेद को हटाकर गाथा ११ में त्रिकाली ध्रुव को ही शुद्धनय कहा है। एकसमय की पर्याय के अतिरिक्त संपूर्ण वस्तु जो सत्यार्थ, अनादि-अनंत शुद्ध अखंड द्रव्य है, वह शुद्धनय है, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। अध्यात्म में नय विषयी और इसका विषय द्रव्य, ऐसा भेद भी हटा दिया जाता है। त्रिकाली को सत्यार्थ कहकर पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा। पर्याय और पर का लक्ष्य छुड़ाने के लिए पर्याय होते हुए भी इसे गौण करके व्यवहार कहा। परवस्तु जो व्यवहार

है, यह 'स्व' की अपेक्षा से असत् है। स्वद्रव्य की अपेक्षा से परवस्तु अद्रव्य है। इसीप्रकार त्रिकाली की अपेक्षा से पर्याय को गौण करके असत् कहा है।

भाई! यह तो केवलीपरमात्मा की कही हुई बात है। नियमसार गाथा ८ की टीका में कहा है कि – 'परमागम भव्यजीवों के कर्णरूपी अंजुली से पीने योग्य अमृत है।' यह तो अमृत का प्याला है। जिनका भाग्य हो, उन्हें ही सुनने को मिलता है। वर्त्तमान में वहुत ही गड़बड़ है। सत्य बात को निश्चयाभास कहते हैं; और कहते हैं कि (सोनगढ़ वाले) व्यवहार को मानते नहीं हैं। परन्तु कौन कहता है कि व्यवहार नहीं है? व्यवहार है, परद्रव्य है, राग है, पर्याय है; परन्तु सम्यग्दर्शन और ज्ञान की प्राप्ति कराने के प्रयोजन की सिद्धि के लिए त्रिकालीद्रव्य को सत्य कहा और पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्य कहा है।

भगवान! एकबार सुन तो सही; जो पर्याय को छूती नहीं, ऐसी तेरी परमात्मस्वरूप चीज अन्दर पड़ी है। प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के १९वें वोल में कहा है कि – 'आत्मा पर्याय-विशेष से छूता नहीं – ऐसा शुद्ध द्रव्य है।' तथा समयसार गाथा ४९ के अव्यक्त के पाँचवें वोल में आता है कि – 'व्यक्तपना और अव्यक्तपना एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है।' यहाँ कहते हैं कि ऐसे आत्मा के शुद्धज्ञायकभाव परमपारिणामिकस्वभाव को प्रगट करता हुआ शुद्धनय उदित होता है।

वह (शुद्धनय) आत्मस्वभाव को 'परभावभिन्नम्' परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विभावरूप परभावों से भिन्न प्रगट करता है। देखो! 'अपना विभाव' ऐसा शब्द लिया है। परद्रव्य के निमित्त से हुआ नैमित्तिक विभावभाव किसी निमित्त से नहीं हुआ। निमित्त तो निमित्त में है और अपनी पर्याय अपने में होती है। पंचास्तिकाय गाथा ६२ में आता है कि 'विकार होने में परकारकों की अपेक्षा नहीं है। निश्चय से विकार पर की अपेक्षा विना ही होता है।' यहाँ जो कहा है कि – 'परद्रव्य के निमित्त से होने वाला' यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। निश्चय से तो विकार अपने में अपनी अपेक्षा से होता है, परकारकों की इसमें अपेक्षा है ही नहीं। परद्रव्य के निमित्त के संबंध से अपनी योग्यता से पर्याय होती है। इस विकारी पर्याय से भी आत्मा भिन्न है। यहाँ तीन वातें कहीं। परद्रव्य जो शरीर, मन, वचन, कर्म आदि; परद्रव्य के भाव अर्थात् कर्म के उदयादि; तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने

आगे शुद्धनय का उदय होता है उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं:-

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।१०।।

श्लोकार्थ :– [शुद्धनयः आत्मस्वभावं प्रकाशयन् अभ्युदेति] शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभाव को **[परभावभिन्नम्]** परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव – ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है। और वह, **[आपूर्णम्]** आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है – समस्त लोकालोक का ज्ञाता है – ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञान में भेद कर्मसंयोग से हैं, शुद्धनय में कर्म गौण हैं।) और वह, **[आदि-अन्त-विमुक्तम्]** आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भाव को प्रगट करता है।) और वह,**[एकम्]** आत्मस्वभाव को एक – सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है, और **[विलीनसंकल्प-विकल्प-जालं]** जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं, ऐसा प्रगट करता है। (द्रव्यकर्म, भाव-कर्म, नोकर्म आदि पुद्‌गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है ।।१०।।

कलश १० पर प्रवचन

शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ उदित होता है। ज्ञान की जो पर्याय त्रिकाली ध्रुव को अपना विषय बनाये, उसे शुद्धनय कहते हैं। विषय और विषयी के भेद को हटाकर गाथा ११ में त्रिकाली ध्रुव को ही शुद्धनय कहा है। एकसमय की पर्याय के अतिरिक्त संपूर्ण वस्तु जो सत्यार्थ, अनादि-अनंत शुद्ध अखंड द्रव्य है, वह शुद्धनय है, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। अध्यात्म में नय विषयी और इसका विषय द्रव्य, ऐसा भेद भी हटा दिया जाता है। त्रिकाली को सत्यार्थ कहकर पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा। पर्याय और पर का लक्ष्य छुड़ाने के लिए पर्याय होते हुए भी इसे गौण करके व्यवहार कहा। परवस्तु जो व्यवहार

है, यह 'स्व' की अपेक्षा से असत् है। स्वद्रव्य की अपेक्षा से परवस्तु अद्रव्य है। इसीप्रकार त्रिकाली की अपेक्षा से पर्याय को गौण करके असत् कहा है।

भाई ! यह तो केवलीपरमात्मा की कही हुई बात है। नियमसार गाथा ८ की टीका में कहा है कि – 'परमागम भव्यजीवों के कर्णरूपी अंजुली से पीने योग्य अमृत है।' यह तो अमृत का प्याला है। जिनका भाग्य हो, उन्हें ही सुनने को मिलता है। वर्त्तमान में बहुत ही गड़बड़ है। सत्य बात को निश्चयाभास कहते हैं; और कहते हैं कि (सोनगढ़ वाले) व्यवहार को मानते नहीं हैं। परन्तु कौन कहता है कि व्यवहार नहीं है ? व्यवहार है, परद्रव्य है, राग है, पर्याय है; परन्तु सम्यग्दर्शन और ज्ञान की प्राप्ति कराने के प्रयोजन की सिद्धि के लिए त्रिकालीद्रव्य को सत्य कहा और पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्य कहा है।

भगवान ! एकबार सुन तो सही; जो पर्याय को छूती नहीं, ऐसी तेरी परमात्मस्वरूप चीज अन्दर पड़ी है। प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के १९वें बोल में कहा है कि – 'आत्मा पर्याय-विशेष से छूता नहीं – ऐसा शुद्ध द्रव्य है।' तथा समयसार गाथा ४९ के अव्यक्त के पाँचवें बोल में आता है कि – 'व्यक्तपना और अव्यक्तपना एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है।' यहाँ कहते हैं कि ऐसे आत्मा के शुद्धज्ञायकभाव परमपारिणामिकस्वभाव को प्रगट करता हुआ शुद्धनय उदित होता है।

वह (शुद्धनय) आत्मस्वभाव को 'परभावभिन्नम्' परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विभावरूप परभावों से भिन्न प्रगट करता है। देखो ! 'अपना विभाव' ऐसा शब्द लिया है। परद्रव्य के निमित्त से हुआ नैमित्तिक विभावभाव किसी निमित्त से नहीं हुआ। निमित्त तो निमित्त में है और अपनी पर्याय अपने में होती है। पंचास्तिकाय गाथा ६२ में आता है कि 'विकार होने में परकारकों की अपेक्षा नहीं है। निश्चय से विकार पर की अपेक्षा बिना ही होता है।' यहाँ जो कहा है कि – 'परद्रव्य के निमित्त से होने वाला' यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। निश्चय से तो विकार अपने में अपनी अपेक्षा से होता है, परकारकों की इसमें अपेक्षा है ही नहीं। परद्रव्य के निमित्त के संबंध से अपनी योग्यता से पर्याय होती है। इस विकारी पर्याय से भी आत्मा भिन्न है। यहाँ तीन बातें कहीं। परद्रव्य जो शरीर, मन, वचन, कर्म आदि; परद्रव्य के भाव अर्थात् कर्म के उदयादि; तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने

विभावभाव विकारादि – उन सब परभावों से भिन्न आत्मा को शुद्धनय प्रगट करता है।

कोई प्रश्न करे कि – 'परभावों से भिन्न कहा' – इसमें (वर्त्तमान) पर्याय की भिन्नता भी आती है या नहीं? समाधान यह है कि – पर्याय है तो द्रव्य से भिन्न ही, किन्तु यह बात यहाँ नहीं है। त्रिकाली को विषय करनेवाली पर्याय कर्म एवं कर्म के भाव और विभाव से भिन्न होकर अन्तर में द्रव्य तरफ झुकती है, तब यह पर्याय आत्मस्वभाव को परभावों से भिन्न प्रगट करती है।

तथा वह आत्मस्वभाव समस्तपने पूर्ण है। ज्ञान से पूर्ण, दर्शन से पूर्ण, आनंद से पूर्ण, शांति से पूर्ण, स्वच्छता से पूर्ण, प्रभुता से पूर्ण, कर्त्ता से पूर्ण, इत्यादि समस्त अनंत शक्तियों से आत्मस्वभाव परिपूर्ण है।

तीन लोक में (संख्या में) अनंत जीव हैं, इनसे अनंतगुणे परमाणु हैं। इनसे अनंतगुणे तीनकाल के समय हैं, इनसे अनंतगुणे आकाश के प्रदेश हैं, इनसे अनंतगुणे एक जीव में गुण हैं। ये सब गुण पूर्ण हैं और ऐसी अनंत शक्तियों से परिपूर्ण आत्मद्रव्य है। शुद्धनय इन परिपूर्ण शक्तियों से मंडित, समस्त लोकालोक को जानने की सामर्थ्यवाले आत्मस्वभाव को प्रगट करता है। ज्ञान में जो भेद पड़ते हैं ये तो कर्मसंयोग से हैं। यह मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान – ये जो पर्याय में भेद हैं, ये तो कर्म के निमित्त की अपेक्षा भेद हैं। वस्तु में (ज्ञानस्वभाव में) भेद नहीं हैं। शुद्धनय में कर्म व कर्म की अपेक्षा गौण है। शुद्धनय तो एकमात्र पूर्ण-स्वभाव को प्रगट करता है। भाई! इस चीज को समझना कोई अलौकिक पुरुषार्थ है।

तथा वह आत्मस्वभाव को आदि-अंत से रहित प्रगट करता है। वस्तु त्रिकाली पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा है। यह आदि-अंत विमुक्त है। जैसा आत्मा आदि-अंत रहित है, वैसा स्वभाव भी आदि-अंत रहित है। 'है' की आदि क्या? 'है' का अंत क्या? 'है' में अपूर्णता कैसी? 'है' में विकार कैसा? वस्तु 'है' तो जब नजर डाले तभी है। शुद्धनय – आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया और कभी भी जिसका किसी से विनाश नहीं होता – ऐसे पारिणामिकभाव को प्रगट करता है। परमाणु जो पर्यायरहित द्रव्य है, उसे भी पारिणामिकभाव कहते हैं। यहाँ तो जीव के ज्ञायकभावरूप पारिणामिकभाव की बात है। पर्यायरहित द्रव्य यह परमपारिणामिकभाव है, उसे शुद्धनय प्रगट करता है।

तथा सब भेदभावों से रहित एकाकार एक आत्मस्वभाव को प्रगट करता है। आत्मा और पर्याय – ऐसे द्वैतभावों से रहित अभेद एकाकार को प्रगट करता है। किसी को ऐसा लगे कि अभेद एकाकार मानने में वेदान्त जैसा तो नहीं हो जायगा ? तो कहते हैं कि भाई ! वेदान्त में द्रव्य-गुण और पर्याय हैं ही कहाँ ?

तथा जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह नाश को प्राप्त हो गये हैं, ऐसा आत्मा प्रगट होता है। द्रव्यकर्म – जड़, भावकर्म – विकार तथा नोकर्म – शरीरादि पुद्गलद्रव्यों में मेरेपने की कल्पना करने को संकल्प कहते हैं, यह मिथ्यात्व है। शुभराग के विकल्पों को भी अपना मानना मिथ्यात्व है। पुण्य-पाप के भावों को शास्त्र में पुद्गल कहा है, क्योंकि इनमें चेतन का – ज्ञान का अंश नहीं है। राग चैतन्य के अभावरूप है, उसमें चैतन्य के नूर का अंश भी नहीं है। दया, दान, भक्ति, पूजा इत्यादि विकल्पों में भगवान चैतन्य की जाति नहीं है, इससे इन्हें पुद्गल का कहा है।

तथा ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद मालूम पड़ने को विकल्प कहते हैं। ज्ञेयों के भेदों से ज्ञान में भेद मालूम पड़ते हैं, यह अनंतानुबंधी का विकल्प है। अनेक को जाननेरूप पर्याय तो स्वयं से हुई है। और वास्तव में तो ज्ञान एकरूप रहकर स्वयं को जानता है। एकपने में अनंतपना – खण्डपना तो नहीं होता; तथापि ज्ञेय के भेद से ज्ञान में खण्ड – भेद मालूम पड़ना, यह विकल्प है।

इन संकल्प-विकल्पों से भगवान आत्मा भिन्न है। सम्यग्दर्शन होने पर अर्थात् पूर्णस्वरूप का अनुभव होने पर संकल्प-विकल्प का नाश हो जाता है। ऐसे आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ शुद्धनय उदित होता है।

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।।१४।।

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम् ।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ।।१४।।

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव । इत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोभूतिरिति चेद् बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात् । तथा

उस शुद्धनय को गाथासूत्र से कहते हैं :—

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को ।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो ।।१४।।

गाथार्थ :— [**यः**] जो नय [**आत्मानं**] आत्मा को [**अबद्धस्पृष्टम्**] बन्धरहित और पर के स्पर्श से रहित, [**अनन्यकं**] अन्यत्वरहित, [**नियतम्**] चलाचलतारहित, [**अविशेषम्**] विशेषरहित, [**असंयुक्तं**] अन्य के संयोग से रहित – ऐसे पांच भावरूप से [**पश्यति**] देखता है [**तं**] उसे, हे शिष्य ! तू [**शुद्धनयं**] शुद्धनय [**विजानीहि**] जान ।

टीका :— निश्चय से अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त – ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है । (शुद्धनय, आत्मा की अनभूति, या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं ।) यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ? उसका समाधान यह है :— बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ है, इसलिए यह अनुभूति हो सकती है । इस बात को दृष्टान्त से प्रकट करते हैं :— जैसे कमलिनी-पत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करनेपर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करनेपर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा का, पुद्गलकर्मों से बँधने –

हि – यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनोनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्ख-

---

स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है – सत्यार्थ है तथापि पुद्गल से किंचित्‌मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। तथा जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि, पर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (– सर्व पर्यायभेदों से किंचित्‌मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का नारक आदि पर्यायों से अनुभव करनेपर (पर्यायों के अन्य – अन्यरूप से) अन्यत्व भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्यायभेदों से किंचित्‌मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे समुद्र का, वृद्धिहानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि नित्यस्थिर समुद्रस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि नित्यस्थिर (निश्चल) आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे सोने का, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णता के साथ

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१४॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव। इत्यात्मैक एव प्रद्योतते। कथं यथोदितस्यात्मनोभूतिरिति चेद् बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्। तथा

उस शुद्धनय को गाथासूत्र से कहते हैं :—

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो ॥१४॥

गाथार्थ :— [यः] जो नय [**आत्मानं**] आत्मा को [**अबद्धस्पृष्टम्**] बन्धरहित और पर के स्पर्श से रहित, [**अनन्यकं**] अन्यत्वरहित, [**नियतम्**] चलाचलतारहित, [**अविशेषम्**] विशेषरहित, [**असंयुक्तं**] अन्य के संयोग से रहित – ऐसे पांच भावरूप से [**पश्यति**] देखता है [**तं**] उसे, हे शिष्य! तू [**शुद्धनयं**] शुद्धनय [**विजानीहि**] जान।

टीका :— निश्चय से अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त – ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। (शुद्धनय, आत्मा की अनभूति, या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं।) यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है? उसका समाधान यह है :— बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ है, इसलिए यह अनुभूति हो सकती है। इस बात को दृष्टान्त से प्रकट करते हैं :— जैसे कमलिनी-पत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करनेपर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करनेपर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा का, पुद्गलकर्मों से बँधने –

हि – यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनोनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्ख-

---

स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है – सत्यार्थ है तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। तथा जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि, पर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (– सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का नारक आदि पर्यायों से अनुभव करनेपर (पर्यायों के अन्य – अन्यरूप से) अन्यत्व भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे समुद्र का, वृद्धिहानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि नित्यस्थिर समुद्रस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि नित्यस्थिर (निश्चल) आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे सोने का, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णता के साथ

लंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च वारिधेर्वृद्धि-हानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो वृद्धिहानि-पर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभाव-मुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादि-पर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो ज्ञानदर्शनादि-

---

संयुक्ततारूप – तप्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर (जल का) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर (उष्णता के साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोह के साथ संयुक्तारूप अवस्था से अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप (ज्ञानरूप) है ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है।

भावार्थ :– आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है :– (१) अनादिकाल से कर्मपुद्गल के सम्बन्ध से बंधा हुआ कर्मपुद्गल के स्पर्शवाला दिखाई देता है, (२) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारक आदि पर्यायों में भिन्न-भिन्न स्वरूप से दिखाई देता है, (३) शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, और बढ़ते भी हैं – यह वस्तुस्वभाव है इसलिए वह नित्य – नियत एकरूप दिखाई नहीं देता, (४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेषरूप दिखाई देता है और (५) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामोंकर सहित वह सुख-दुःखरूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है। इस दृष्टि (अपेक्षा) से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है। परन्तु आत्मा का एकस्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता, और एकस्वभाव को जाने बिना यथार्थ आत्मा को कैसे जाना जा सकता है? इसलिए दूसरे नय को – उसके प्रतिपक्षी शुद्धद्रव्यार्थिकनय को ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर, उसे शुद्धनय की दृष्टि से सर्व परद्रव्यों से भिन्न, सर्व पर्यायों में एकाकार, हानिवृद्धि से रहित, विशेषों से रहित और नैमित्तिक भावों से रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावों से जो अनेकप्रकारता है वह अभूतार्थ है – असत्यार्थ है।

पर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेष-मात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा चापां सप्तार्चिः-प्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोह-समाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं बोधं जीवस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।

यहाँ यह समझना चाहिए कि वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है, वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है । आत्मा भी अनन्तधर्मवाला है । उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्गल के संयोग से होते हैं । जो कर्म के संयोग से होते हैं, उनसे आत्मा की सांसारिक प्रवृत्ति होती है और तत्सम्वन्धी जो सुखदु:खादि होते हैं उन्हें भोगता है । यह, इस आत्मा की अनादिकालीन अज्ञान से पर्यायबुद्धि है; उसे अनादिअनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है । इसे वतानेवाला सर्वज्ञ का आगम है । उसमें शुद्धद्रव्यार्थिक नय से यह वताया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड, नित्य और अनादिनिधन है । उसे जानने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिट जाता है । परद्रव्यों से, उनके भावों से और उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभावों से अपने आत्मा को भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है तव परद्रव्य के भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए कर्म-वन्ध नहीं होता और संसार से निवृत्ति हो जाती है । इसलिये पर्यायार्थिक-रूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्ध निश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है । वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद उसका भी आलम्वन नहीं रहता । इस कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुद्धनय को सत्यार्थ कहा है इसलिए अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है । ऐसा मानने से वेदान्तमत वाले जो कि संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आजायेगा और उससे मिथ्यात्व आजायेगा, इसप्रकार यह शुद्धनय का आलम्वन भी वेदान्तियों की भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा । इसलिये सर्वनयों की कथंचित् सत्यार्थता का श्रद्धान करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है । इसप्रकार स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना चाहिए, मुख्य-गौण कथन को सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिए । इस गाथासूत्र का विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्य ने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि में जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टि से तो सत्यार्थ ही है,

परन्तु शुद्धनय की दृष्टि से बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथन में टीकाकार आचार्य ने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना।

यहाँ यह समझना चाहिए कि नय श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है; इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही; और उसकी व्यक्ति कर्मसंयोग से मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है, और सम्पूर्णज्ञान – केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थ के प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानरूप को परोक्ष बतलाता है। जबतक जीव इस नय को नहीं जानता तबतक आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता। इसलिए श्रीगुरु ने इस शुद्धनय को प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना चाहिए, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिए।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि – ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत्-श्रद्धान है। उसका उत्तर यह है :– देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमत में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं, उनमें से आगमप्रमाण परोक्ष है, उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए, मात्र व्यवहार-प्रत्यक्ष का ही एकान्त नहीं करना चाहिए।

गाथा १४ की उत्थानिका पर प्रवचन

अब शुद्धनय को गाथासूत्र से कहते हैं। कैसा जीव जानने से जीव को जाना कहा जाता है, यह बात करते हैं। वास्तव में भगवान आत्मा अबद्ध है, राग और कर्म के सम्बन्ध से रहित वस्तु है। ज्ञान की पर्याय में राग के साथ जो निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, यह तो व्यवहार है; परन्तु राग का कर्म के साथ जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, यह भी असद्भूत-व्यवहार है। आत्मा राग व कर्म के सम्बन्धरहित त्रिकालीवस्तु है, ऐसी अंतर्दृष्टि करना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। ऐसे आत्मा को जाने, तब आत्मा को जाना – ऐसा कहा जा सकता है।

गाथा १४ पर प्रवचन

जो नय आत्मा को बंध और पर के स्पर्श से रहित, अन्यपनारहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित और अन्य के संयोग से रहित देखता है – हे शिष्य ! तू उसे शुद्धनय जान।

देखो, निश्चयनय – शुद्धनय आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखता है, बंधरहित और पर के स्पर्शरहित देखता है। अबद्धस्पृष्ट को अबद्धस्पृष्ट नहीं देखता, अबद्धस्पृष्ट तो त्रिकाली वस्तु है। इस त्रिकाली वस्तु की ओर जब निर्मल ज्ञान की पर्याय झुकती है तब अबद्धस्पृष्ट का अनुभव होता है, इसे शुद्धोपयोग कहते हैं। यह शुद्धोपयोग आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अर्थात् बंधरहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यपने से रहित यानी अन्य नर-नारकादि गतिरहित, चलाचलतारहित – वृद्धि-हानिरहित, विशेषरहित अर्थात् गुण-गुणीभेदरहित, और अन्य के संयोगरहित अर्थात् कर्म और कर्म के निमित्त से होने वाले विकार व दुःख से रहित देखता है। इसप्रकार उपरोक्त पाँच भावों से रहित देखता है।

पाँच भावों से रहित का अर्थ ही यह हुआ कि ये पाँच भाव तो हैं, किन्तु जो इन पाँच भावों से रहित आत्मा को देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान। कुन्दकुन्दाचार्य शिष्य को आदेश देकर कहते हैं कि हे भाई! अबद्धस्पृष्ट आदि पाँचभावरहित एकरूप शुद्धवस्तु के अनुभव को तू शुद्धनय जान। इन पाँच भावों के समझने में क्रम पड़ता है, अनुभव में क्रम नहीं पड़ता।

गाथा १४ की टीका पर प्रवचन

निश्चय से यह ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा अबद्धस्पृष्ट है। अबद्ध अर्थात् राग व कर्म के बंध से रहित तथा अस्पृष्ट अर्थात् एकक्षेत्रावगाही बंधने योग्य कर्मपरमाणुओं के स्पर्श से रहित। तथा यह आत्मा अनन्य है अर्थात् भिन्न-भिन्न जो नर-नारकादि पर्यायें हैं, उनसे रहित है। तथा 'नियत' अर्थात् ज्ञान तथा अन्य अनन्तगुणों की पर्यायों में हीनाधिकता होती है, यह अनियतपना है, इनसे रहित भगवान आत्मा नियत है। ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि गुणों के विशेष-भेद द्रव्यसामान्य में नहीं हैं, इससे आत्मा अविशेष है। तथा कर्म के निमित्त से जो विकारी शुभाशुभभाव पर्याय में उत्पन्न होते हैं, इनसे भगवान आत्मा असंयुक्त है, सम्बन्धरहित है।

ऐसे अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, व असंयुक्त आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है। देखो! आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है। सामान्य, एक ध्रुव चैतन्यस्वरूप का अनुसरण करने से जो शांति और आनंद का अनुभव हुआ वह शुद्धनय है। एक त्रिकाली का लक्ष्य करने पर पर्याय में जो त्रिकाली द्रव्य ज्ञात हुआ, वह शुद्धनय है। और यह अनुभूति आत्मा ही है। आत्मा का परिणाम होने से अनुभूति आत्मा ही है। शुद्धनय कहो,

आत्मानुभूति कहो या आत्मा कहो – यह सब एक ही है, जुदे नहीं हैं। अभेद से अनुभूति व अनुभूति के विषय आत्मा को एक कहा है। इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है, रागादि अनात्मा प्रकाशमान नहीं होते।

एक ओर गाथा ३८ में यह कहा है कि वास्तव में तो पर्यायरहित जो त्रिकाली एक ज्ञायकभाव है, उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा और भी अनेक स्थानों पर आता है, किन्तु यहाँ जब इसकी अनुभूति ज्ञान में हुई तब ख्याल में आया कि आत्मा त्रिकाली ज्ञायक है; इस अनुभूति को शुद्धनय कहा है। गाथा ६ में ऐसा कहा है कि – ज्ञायकभाव शुभाशुभभाव के स्वभावरूप नहीं होता। शुभाशुभभाव अचेतन हैं, और ज्ञायकभाव चेतन है, वह कभी भी अचेतनरूप नहीं होता, इससे वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। प्रमत्त-अप्रमत्तरूप संयोगजनित पर्यायों से ज्ञायकभाव भिन्न है। यह द्रव्यदृष्टि का विषय है। किन्तु यहाँ तो जिस ज्ञान की पर्याय में आत्मा की – ज्ञायक की अनुभूति हुई, उसे शुद्धनय कहा है। यह अनुभूति आत्मा ही है, रागादि आत्मा नहीं; यह भी कहा है।

तथा गाथा ६ में आता है कि – वही ज्ञायक अन्यद्रव्यों के भावों से भिन्नपने उपासना करने में आता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। अर्थात् पर-द्रव्यों का लक्ष्य छोड़कर एक निजज्ञायक का लक्ष्य करने पर जो शुद्धता प्रगट होती है, उस शुद्धता में यह 'शुद्ध' है – ऐसा भान होता है। ऐसा भान हुए बिना, जाने बिना 'शुद्ध' है – यह कैसे कहा जा सकता है? इस त्रिकाली शुद्ध को जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय है, उसे शुद्धनय कहते हैं।

आस्रव अधिकार में आता है कि शुद्धनय की पूर्णता केवलज्ञान होने पर होती है। अर्थात् जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है तब शुद्धनय का आश्रय करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस अपेक्षा शुद्धनय की पूर्णता हो गई, ऐसा कहा गया है। यहाँ तो ज्ञायक को विषय करनेवाली पर्याय को अनुभूति अथवा शुद्धनय कहा है; और वह आत्मा का ही परिणाम है, इससे अनुभूति आत्मा ही है, ऐसा कहा है।

एक ओर कहते हैं कि अनुभूति का परिणाम आत्मा से भिन्न नहीं है और दूसरी ओर ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय भी आत्मा से भिन्न है, बहिःतत्त्व है। अन्तःतत्त्व एक ज्ञायक आत्मा है। इसमें अपेक्षा क्या है? यह बराबर (ठीक से) जानना चाहिए। जहाँ केवलज्ञान को बहिःतत्त्व कहा, वहाँ तो केवलज्ञान पर्याय है, और उसके आश्रय से धर्म नहीं होता – पर्याय में से नई पर्याय नहीं आती, किन्तु एक ज्ञायकभाव के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है, यह बात बताई है।

अहा हा……! शुद्धनय का विषय तो अकेला द्रव्य ही है, किन्तु द्रव्य का लक्ष्य करने से परिणति शुद्ध प्रगट हो जाती है तब प्रमाणज्ञान प्रगट हो जाता है। वहाँ कोई प्रश्न करे कि निश्चयनय तो अकेला त्रिकाली को जानता है और प्रमाण तो एक काल में त्रिकाली और पर्याय दोनों को जानता है। तो शुद्ध कौन ? पूज्य कौन ? निश्चयनय या प्रमाण ? उत्तर:- निश्चयनय पूज्य है, क्योंकि प्रमाण में पर्याय का निषेध नहीं आता। निश्चयनय में पर्याय का निषेध आता है, इससे निश्चयनय शुद्ध है, पूज्य है। (निश्चयनय एक को ही विषय करता है और जो एक है वही शुद्ध है।)

समयसार की ग्यारहवीं गाथा 'भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' में त्रिकाली ज्ञानानंद एकरूप आत्मवस्तु को सत्यार्थ कहकर 'शुद्धनय' कहा है। नय और नय के विषय का भेद हटाकर त्रिकाली वस्तु को 'शुद्धनय' कहा है। यहाँ कहते हैं कि ऐसी सत्यार्थ अबद्धस्पृष्ट त्रिकाली वस्तु की अनुभूति शुद्धनय है। त्रिकाली सत्यार्थ वस्तु में झुककर, एकाग्र होने पर जो अनुभूति होती है, इस अनुभूति में त्रिकाली का जो यथार्थ निर्णय होता है, वह शुद्धनय है।

सविकल्प निर्णय पहले होता है। इसी ग्रंथ की तेरहवीं गाथा में आया है कि – अज्ञानी के (वेदान्तादि के) अभिप्राय से भिन्न सर्वज्ञ भगवान ने जैसा वस्तुतत्त्व कहा है, वैसा सिद्ध करने के लिए पहले प्रमाण, नय, निक्षेप से विकल्पपूर्वक निर्णय करते हैं, किन्तु यह कोई वास्तविक निर्णय नहीं है। वस्तुतत्त्व का अनुभव करके निर्णय करना और इस निर्विकल्प अनुभूति में यह वस्तु ज्ञायकशुद्ध है, इसका भास हो जाना – इसे यथार्थ निर्णय और शुद्धनय कहते हैं।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि समयसार को वेदान्त के ढाँचे में ढाल दिया है। ऐसे लोगों को कुछ खबर नहीं है। न उन्हें समयसार की खबर है, न वेदान्त की। जो चीज समयसार में है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

यह अनुभूति आत्मा ही है, इसे शुद्धनय कहो, आत्मा कहो – यह सब एक ही है, अलग नहीं है। यहाँ अलग नहीं है, यह बात सम्पूर्ण वस्तु की अपेक्षा से है। निश्चय से अनुभूति तो द्रव्य का परिणाम है, द्रव्य नहीं; यह द्रव्य से भिन्न है। परन्तु शुद्धनय की जो अनुभूति हुई, वह त्रिकाली शुद्ध आत्मा की जाति की ही है, इसकारण आत्मा ही है, – ऐसा कहा है। जैसे राग भिन्न वस्तु है, आत्मा से अनुभूति वैसी भिन्न नहीं है, इसकारण आत्मा ही है। भाई ! यह तो जिनेन्द्र का मार्ग अर्थात् आत्मा का मार्ग है, आत्मा जिनस्वरूप ही है। कहा है न :-

आत्मानुभूति कहो या आत्मा कहो – यह सब एक ही है, जुदे नहीं हैं। अभेद से अनुभूति व अनुभूति के विषय आत्मा को एक कहा है। इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है, रागादि अनात्मा प्रकाशमान नहीं होते।

एक ओर गाथा ३८ में यह कहा है कि वास्तव में तो पर्यायरहित जो त्रिकाली एक ज्ञायकभाव है, उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा और भी अनेक स्थानों पर आता है, किन्तु यहाँ जब इसकी अनुभूति ज्ञान में हुई तब ख्याल में आया कि आत्मा त्रिकाली ज्ञायक है; इस अनुभूति को शुद्धनय कहा है। गाथा ६ में ऐसा कहा है कि – ज्ञायकभाव शुभाशुभभाव के स्वभावरूप नहीं होता। शुभाशुभभाव अचेतन हैं, और ज्ञायकभाव चेतन है, वह कभी भी अचेतनरूप नहीं होता, इससे वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। प्रमत्त-अप्रमत्तरूप संयोगजनित पर्यायों से ज्ञायकभाव भिन्न है। यह द्रव्यदृष्टि का विषय है। किन्तु यहाँ तो जिस ज्ञान की पर्याय में आत्मा की – ज्ञायक की अनुभूति हुई, उसे शुद्धनय कहा है। यह अनुभूति आत्मा ही है, रागादि आत्मा नहीं; यह भी कहा है।

तथा गाथा ६ में आता है कि – वही ज्ञायक अन्यद्रव्यों के भावों से भिन्नपने उपासना करने में आता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। अर्थात् पर-द्रव्यों का लक्ष्य छोड़कर एक निजज्ञायक का लक्ष्य करने पर जो शुद्धता प्रगट होती है, उस शुद्धता में यह 'शुद्ध' है – ऐसा भान होता है। ऐसा भान हुए बिना, जाने बिना 'शुद्ध' है – यह कैसे कहा जा सकता है? इस त्रिकाली शुद्ध को जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय है, उसे शुद्धनय कहते हैं।

आस्रव अधिकार में आता है कि शुद्धनय की पूर्णता केवलज्ञान होने पर होती है। अर्थात् जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है तब शुद्धनय का आश्रय करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस अपेक्षा शुद्धनय की पूर्णता हो गई, ऐसा कहा गया है। यहाँ तो ज्ञायक को विषय करनेवाली पर्याय को अनुभूति अथवा शुद्धनय कहा है; और वह आत्मा का ही परिणाम है, इससे अनुभूति आत्मा ही है, ऐसा कहा है।

एक ओर कहते हैं कि अनुभूति का परिणाम आत्मा से भिन्न नहीं है और दूसरी ओर ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय भी आत्मा से भिन्न है, बहि:तत्त्व है। अन्त:तत्त्व एक ज्ञायक आत्मा है। इसमें अपेक्षा क्या है? यह बराबर (ठीक से)जानना चाहिए। जहाँ केवलज्ञान को बहि:तत्त्व कहा, वहाँ तो केवलज्ञान पर्याय है, और उसके आश्रय से धर्म नहीं होता – पर्याय में से नई पर्याय नहीं आती, किन्तु एक ज्ञायकभाव के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है, यह बात बताई है।

अहा हा........! शुद्धनय का विषय तो अकेला द्रव्य ही है, किन्तु द्रव्य का लक्ष्य करने से परिणति शुद्ध प्रगट हो जाती है तब प्रमाणज्ञान प्रगट हो जाता है। वहाँ कोई प्रश्न करे कि निश्चयनय तो अकेला त्रिकाली को जानता है और प्रमाण तो एक काल में त्रिकाली और पर्याय दोनों को जानता है। तो शुद्ध कौन ? पूज्य कौन ? निश्चयनय या प्रमाण ? उत्तर:- निश्चयनय पूज्य है, क्योंकि प्रमाण में पर्याय का निषेध नहीं आता। निश्चयनय में पर्याय का निषेध आता है, इससे निश्चयनय शुद्ध है, पूज्य है। (निश्चयनय एक को ही विषय करता है और जो एक है वही शुद्ध है।)

समयसार की ग्यारहवीं गाथा 'भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' में त्रिकाली ज्ञानानंद एकरूप आत्मवस्तु को सत्यार्थ कहकर 'शुद्धनय' कहा है। नय और नय के विषय का भेद हटाकर त्रिकाली वस्तु को 'शुद्धनय' कहा है। यहाँ कहते हैं कि ऐसी सत्यार्थ अबद्धस्पृष्ट त्रिकाली वस्तु की अनुभूति शुद्धनय है। त्रिकाली सत्यार्थ वस्तु में झुककर, एकाग्र होने पर जो अनुभूति होती है, इस अनुभूति में त्रिकाली का जो यथार्थ निर्णय होता है, वह शुद्धनय है।

सविकल्प निर्णय पहले होता है। इसी ग्रंथ की तेरहवीं गाथा में आया है कि – अज्ञानी के (वेदान्तादि के) अभिप्राय से भिन्न सर्वज्ञ भगवान ने जैसा वस्तुतत्त्व कहा है, वैसा सिद्ध करने के लिए पहले प्रमाण, नय, निक्षेप से विकल्पपूर्वक निर्णय करते हैं, किन्तु यह कोई वास्तविक निर्णय नहीं है। वस्तुतत्त्व का अनुभव करके निर्णय करना और इस निर्विकल्प अनुभूति में यह वस्तु ज्ञायकशुद्ध है, इसका भास हो जाना – इसे यथार्थ निर्णय और शुद्धनय कहते हैं।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि समयसार को वेदान्त के ढाँचे में ढाल दिया है। ऐसे लोगों को कुछ खबर नहीं है। न उन्हें समयसार की खबर है, न वेदान्त की। जो चीज समयसार में है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

यह अनुभूति आत्मा ही है, इसे शुद्धनय कहो, आत्मा कहो – यह सब एक ही है, अलग नहीं है। यहाँ अलग नहीं है, यह बात सम्पूर्ण वस्तु की अपेक्षा से है। निश्चय से अनुभूति तो द्रव्य का परिणाम है, द्रव्य नहीं; यह द्रव्य से भिन्न है। परन्तु शुद्धनय की जो अनुभूति हुई, वह त्रिकाली शुद्ध आत्मा की जाति की ही है, इसकारण आत्मा ही है, – ऐसा कहा है। जैसे राग भिन्न वस्तु है, आत्मा से अनूभूति वैसी भिन्न नहीं है, इसकारण आत्मा ही है। भाई ! यह तो जिनेन्द्र का मार्ग अर्थात् आत्मा का मार्ग है, आत्मा जिनस्वरूप ही है। कहा है न :–

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझ ले, जिन-प्रवचन का मर्म ।।

शिष्य ने इतना तो लक्ष्य में लिया कि अबद्धस्पृष्टादिरूप भूतार्थ को आत्मा कहा है; तथा ऐसे आत्मा की अनुभूति को धर्म कहा है। अब शिष्य पूछता है कि – ऐसे आत्मा की अनुभूति कैसे होती है ? हमारे देखने में आता नहीं है, तो अनुभव कैसे होगा ? हमारी दृष्टि में तो बद्धस्पृष्टत्वादि भाव आते हैं ?

समाधान :– शिष्य के प्रश्न को समझकर गुरु समाधान करते हैं कि बद्धस्पृष्टत्वादि भाव अभूतार्थ होने से उनसे भिन्न आत्मा की अनुभूति हो सकती है। बद्धस्पृष्टत्वादि भाव त्रिकाल रहने वाली वस्तु नहीं है, बदल जाते हैं; इससे अभूतार्थ हैं। इसकारण से इनसे भिन्न आत्मा की अनुभूति हो सकती है। कर्म का सम्बन्ध व रागादि का सम्बन्ध कायम रहनेवाली वस्तु नहीं है, अभूतार्थ है, इसलिए भूतार्थ का आश्रय करने से अभूतार्थ का नाश हो जाता है।

प्रश्न :– जो है, उसे अभूतार्थ – असत्यार्थ कैसे कहा ?

उत्तर :– वर्त्तमान पर्याय की अपेक्षा सत्य है, किन्तु त्रिकाली ध्रुव में यह नहीं है, तथा बदल जाती है; इससे स्थिर रहनेवाली नहीं है – अतः गौण करके व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है। भूतार्थ त्रिकाली चीज भगवान आत्मा का आश्रय करने पर यह अभूतार्थ है अर्थात् इसका नाश हो जाता है। व्यवहार से व्यवहार है, परन्तु भूतार्थ का लक्ष्य होने पर यह छूट जाता है, इस अपेक्षा से अभूतार्थ कहा जाता है।

बद्धस्पृष्टत्वादिभाव अभूतार्थ होने से अनुभूति हो सकती है यह बात अब दृष्टान्त से प्रगट करते हैं। जिसप्रकार जल में डूबे हुए कमलिनी-पत्र का जल से स्पर्शरूप अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्श करना भूतार्थ है – सत्यार्थ है। अवस्थादृष्टि से देखो तो पानी में डूबा हुआ कमलिनी-पत्र पानी के साथ व्यवहार से संबंध में है, यह सत्य है। पानी के संबंध में कमलिनी का पत्र है ही नहीं, ऐसा नहीं है। जल में डूबी हुई अवस्था से देखने पर जल और कमलिनी-पत्र का संबंध भूतार्थ है, तो भी जल से किंचित् भी स्पर्श न करनेवाले कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर जल से स्पर्शपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। कमलिनी-पत्र की रोमावली ही ऐसी रूखे स्वभाव की होती है कि पानी उसे छूता ही नहीं है। कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अर्थात् इसके

स्वभाव का लक्ष्य करके देखें तो जल से स्पर्शपना झूठा है। कमलिनी-पत्र का जल के साथ बिल्कुल भी स्पर्श नहीं है। भले ही वह पानी में डूबा हो तो भी उस काल में भी स्वभाव से कमलिनी का पत्र पानी को छूता नहीं है। अतः यदि जल के संबंध का लक्ष्य छोड़कर कमलिनी-पत्र के स्वभाव का लक्ष्य करें तो उसका जल से स्पर्शपना अभूतार्थ है, झूठा है। यह दृष्टान्त हुआ।

अब सिद्धान्त कहते हैं। इसीतरह अनादिकाल से बंधे हुए आत्मा को पुद्गलद्रव्य से बंधी हुई अवस्था से अनुभव करते हुए बद्धस्पृष्टपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है। निमित्त-नैमित्तिक संबंधरूप अवस्था से ज्ञान करें तो बद्धस्पृष्टपना सत्य है, पर्याय न हो; ऐसा नहीं है। आत्मा की वर्त्तमान पर्याय में राग का और कर्म का संबंध व्यवहार से है। भगवान आत्मा को अनादिकर्मरूप अवस्था से देखो तो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं इसमें हैं। तथापि पुद्गल से किंचित् भी स्पर्श न करने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टपना अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा पुद्गल से किंचित् मात्र भी स्पर्शवाला नहीं है। अवस्थादृष्टि छोड़कर आत्मा के एक त्रिकालीस्वभाव का लक्ष्य करने पर, स्वभाव के समीप होकर अनुभव करने पर, बद्धस्पृष्टपना झूठा है। इसमें धर्म क्या आया ? तो कहते हैं कि – अवस्थादृष्टि छोड़कर त्रिकाली-स्वभाव की दृष्टि की, इसमें एकाग्र होनेपर भूतार्थ का अनुभव होता है, वह सम्यग्दर्शन है, धर्म है। बाकी दया पालो, व्रत करो, उपवास करो – यह तो सब राग है; इनमें धर्म नहीं है।

प्रश्न :– क्रियाकांड से ज्ञानकांड होता है न ?

उत्तर :– प्रचंड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड होता है – ऐसा जो शास्त्र में (प्रवचनसार में) आता है यह तो निमित्त का – व्यवहार का कथन है।

अवस्थादृष्टि से देखो तो कर्म का संबंध है और वह मात्र जानने लायक है। सर्वथा बंध है – ऐसी मान्यता दृष्टि की विपरीतता है। पर्याय में संबंध है, परन्तु पर्याय से अधिक इस त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव के ऊपर दृष्टि देने पर पर्याय का संबंध असत्यार्थ हो जाता है। थोड़ा संबंध है, परन्तु इसका त्रिकाली वस्तु में तो अभाव ही है। दृष्टि में तो एकसाथ अभाव हुआ है, थोड़ा संबंध पर्याय में है, इससे व्यवहार से गौणपने जानने में आता है। सम्यग्दर्शन होने पर अनंतानुबंधी का अभाव –

जाता है। दूसरा जो कर्म का संबंध पर्याय में है, वह वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर झूठा है। वस्तु जो त्रिकाल निरावरण, निर्लेप, ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का पुंज पड़ी है, इसकी दृष्टि करने पर पर्यायभाव गौण होकर असत्यार्थ हो जाता है। द्रव्यस्वभाव के साथ कर्म का संबंध कैसा ?

भाई ! रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि वस्तु का ज्ञान न्यूनता, अधिकता और विपरीतता रहित हो, वह सत्य है, वह सम्यग्ज्ञान है, और वह सम्यग्दर्शन सहित होता है। मात्र शास्त्र का पढ़ना सम्यग्ज्ञान नहीं है।

भगवान आत्मा पूर्ण, पूर्णस्वरूप से अन्दर में है। अभी ही है। जैसे – लेंडी पीपल में चौसठ पुटी चरपराहट अर्थात् शत्प्रतिशत पूर्ण तीखापना जो शक्तिरूप से है वह व्यक्तरूप से पूर्ण प्रगट हो जाता है। प्राप्त की प्राप्ति होती है। इस रीति से भगवान आत्मा पूर्णस्वरूप, मोक्षस्वरूप है। शास्त्र में आता है न कि 'तू है मोक्षस्वरूप' – ऐसे त्रिकाल स्वभाव के ऊपर लक्ष्य देने पर वर्त्तमान अवस्था गौण हो जाती है, असत्यार्थ हो जाती है। भले ही थोड़ी अशुद्धता रहे, किन्तु वह वस्तुस्वभाव में नहीं है।

दूसरा बोल :– तथा जैसे माटी का कमंडल, घड़ा, झारी, रामपात्र आदि पर्यायों से अनुभव करने पर अन्य-अन्यपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है। माटी की अवस्था की दृष्टि से देखें तो उसके भिन्न-भिन्न आकार जैसे प्याला, कटोरी आदि सत्य हैं। यह अशुद्धनय व्यवहारनय है, यह मलिन-पना है। प्रवचनसार के ४७ नयों के अधिकार में आता है कि माटी को पर्याय की अपेक्षा देखना यह अशुद्धनय है। परन्तु स्वत: अस्खलित एक माटी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यपना अभूतार्थ है। अकेली माटी, माटी, देखने पर भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ इसमें नहीं हैं, अभूतार्थ हैं – अर्थात् इसमें दीखती नहीं हैं।

इसीप्रकार नर-नारकादि पर्याय से अनुभव करने पर यह नारकी है, यह मनुष्य है, यह देव है, यह एकेन्द्रिय है, यह पंचेन्द्रिय है, इत्यादि अवस्था से वर्त्तमान में देखने पर अन्य-अन्य गतिरूप अवस्थाऐं हैं। अन्दर में आत्मा की मनुष्यपने की, नारकीपने आदि की योग्यतारूप पर्याय है। व्यवहार में मनुष्य या नारकी की देह दीखती है, इसकी वात नहीं है। यह तो जड़-मिट्टी है, यह कोई मनुष्यादि पर्याय नहीं है। वर्त्तमान अवस्था से देखने में आवे तो गति आदि के भिन्न-भिन्न अन्य-अन्यभाव सत्यार्थ हैं, किन्तु इसमें अखण्ड आत्मा नहीं आया, खण्ड-अंश-पर्याय आयी – इससे वह व्यवहार है।

व्यवहारनय से नरक, मनुष्य, देव, तिर्यंचपना इत्यादि पर्याय में है, तो भी सर्वत: अस्खलित अर्थात् सर्व पर्यायभेदों में जरा भी भेदपने नहीं होनेरूप ऐसे चैतन्याकार आत्मस्वभाव को देखने पर नरक, मनुष्य या पंचेन्द्रियादि की जो योग्यताएँ पर्याय में हैं, वे सर्व योग्यताएँ अभूतार्थ हैं। उन अन्य-अन्य पर्यायों से ज्ञायकभाव भेदरूप नहीं होता। पर्याय में त्रिकाली आता ही नहीं। मिट्टी का बर्तन कहना यह व्यवहार है; मिट्टी मिट्टीरूप है, यह निश्चय है। एकरूप मिट्टी देखो तो यह भेदरूप अवस्था को छूती नहीं है। भगवान आत्मा को कर्म के सम्बन्ध में नारकी, पशु, एकेन्द्रियादि भिन्न-भिन्न गतियाँ हैं, यह व्यवहार है। अवस्था की दृष्टि से देखने पर यह सत्य है, तो भी चैतन्याकार एक ध्रुव ज्ञायक की दृष्टि करने पर यह पर्यायभेद कुछ नहीं है। त्रिकालीभाव भेदों को छूता नहीं है। एकरूप स्वभाव में कोई भेद नहीं है।

भाई! यह तो वीतराग मार्ग है। अनंतकाल में अनंत बार द्रव्यलिंगी नग्न-दिगम्बर मुनि होकर नववें ग्रैवेयक गया, तथापि आत्मज्ञान बिना किंचित् भी सुख नहीं पाया। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञायकभाव, एक, चैतन्यरस-स्वभाव कभी भी भेदरूप हुआ ही नहीं। जैसे सूर्य का प्रकाश अंधकाररूप नहीं हुआ; उसीतरह भगवान ज्ञानपुंज कभी भी पुण्य-पाप नहीं होता। इससे विशेष बात यहाँ कहते हैं कि – ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक एक चैतन्याकारस्वरूप आत्मा गति आदि पर्यायों से किंचित्-मात्र भेदरूप नहीं होता।

यहाँ यह कहते हैं कि त्रिलोकीनाथ भगवान आत्मा सत्‌वस्तु अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। यह भेद में या पर्याय में नहीं। अनादि से जबतक एकसमय की पर्याय पर दृष्टि है, तबतक आत्मभगवान स्वभाव से दूर है। पर्यायदृष्टि को छोड़कर त्रिकाली को देखे तो आत्मस्वभावमय हो जाय और तब फिर उसके पर्यायभेद सब असत्यार्थ हो जाते हैं। अभेद की दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। अहो! इस पंचमकाल में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तीर्थंकर जैसा और अमृतचंद्राचार्यदेव ने गणधर जैसा काम किया है। स्वचेतन की अपेक्षा से दूसरे चेतनद्रव्य व जड़पदार्थ असत् हैं, भले ही वे अपनी-अपनी अपेक्षा से सत् हैं। इस आत्मा की अपेक्षा से अरहंत और सिद्धपरमात्मा भी अनात्मा हैं। इसप्रकार अन्दर में त्रिकाली की अपेक्षा से पर्याय असत् है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय सत् है।

जाता है। दूसरा जो कर्म का संबंध पर्याय में है, वह वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर झूठा है। वस्तु जो त्रिकाल निरावरण, निर्लेप, ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का पुंज पड़ी है, इसकी दृष्टि करने पर पर्यायभाव गौण होकर असत्यार्थ हो जाता है। द्रव्यस्वभाव के साथ कर्म का संबंध कैसा ?

भाई ! रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि वस्तु का ज्ञान न्यूनता, अधिकता और विपरीतता रहित हो, वह सत्य है, वह सम्यग्ज्ञान है, और वह सम्यग्दर्शन सहित होता है। मात्र शास्त्र का पढ़ना सम्यग्ज्ञान नहीं है।

भगवान आत्मा पूर्ण, पूर्णस्वरूप से अन्दर में है। अभी ही है। जैसे – लेंडी पीपल में चौसठ पुटी चरपराहट अर्थात् शतप्रतिशत पूर्ण तीखापना जो शक्तिरूप से है वह व्यक्तरूप से पूर्ण प्रगट हो जाता है। प्राप्त की प्राप्ति होती है। इस रीति से भगवान आत्मा पूर्णस्वरूप, मोक्षस्वरूप है। शास्त्र में आता है न कि 'तू है मोक्षस्वरूप' – ऐसे त्रिकाल स्वभाव के ऊपर लक्ष्य देने पर वर्त्तमान अवस्था गौण हो जाती है, असत्यार्थ हो जाती है। भले ही थोड़ी अशुद्धता रहे, किन्तु वह वस्तुस्वभाव में नहीं है।

दूसरा बोल :– तथा जैसे माटी का कमंडल, घड़ा, झारी, रामपात्र आदि पर्यायों से अनुभव करने पर अन्य-अन्यपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है। माटी की अवस्था की दृष्टि से देखें तो उसके भिन्न-भिन्न आकार जैसे प्याला, कटोरी आदि सत्य हैं। यह अशुद्धनय व्यवहारनय है, यह मलिन-पना है। प्रवचनसार के ४७ नयों के अधिकार में आता है कि माटी को पर्याय की अपेक्षा देखना यह अशुद्धनय है। परन्तु स्वतः अस्खलित एक माटी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यपना अभूतार्थ है। अकेली माटी, माटी, देखने पर भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ इसमें नहीं हैं, अभूतार्थ हैं – अर्थात् इसमें दीखती नहीं हैं।

इसीप्रकार नर-नारकादि पर्याय से अनुभव करने पर यह नारकी है, यह मनुष्य है, यह देव है, यह एकेन्द्रिय है, यह पंचेन्द्रिय है, इत्यादि अवस्था से वर्त्तमान में देखने पर अन्य-अन्य गतिरूप अवस्थाऐं हैं। अन्दर में आत्मा की मनुष्यपने की, नारकीपने आदि की योग्यतारूप पर्याय है। व्यवहार में मनुष्य या नारकी की देह दीखती है, इसकी बात नहीं है। यह तो जड़-मिट्टी है, यह कोई मनुष्यादि पर्याय नहीं है। वर्त्तमान अवस्था से देखने में आवे तो गति आदि के भिन्न-भिन्न अन्य-अन्यभाव सत्यार्थ हैं, किन्तु इसमें अखण्ड आत्मा नहीं आया, खण्ड-अंश-पर्याय आयी – इससे वह व्यवहार है।

व्यवहारनय से नरक, मनुष्य, देव, तिर्यंचपना इत्यादि पर्याय में है तो भी सर्वत: अस्खलित अर्थात् सर्व पर्यायभेदों में जरा भी भेदपने नहीं होनेरूप ऐसे चैतन्याकार आत्मस्वभाव को देखने पर नरक, मनुष्य या पंचेन्द्रियादि की जो योग्यताऐं पर्याय में हैं, वे सर्व योग्यताऐं अभूतार्थ हैं उन अन्य-अन्य पर्यायों से ज्ञायकभाव भेदरूप नहीं होता। पर्याय में त्रिकाली आता ही नहीं। मिट्टी का बर्तन कहना यह व्यवहार है; मिट्टी मिट्टीरूप है, यह निश्चय है। एकरूप मिट्टी देखो तो यह भेदरूप अवस्था को छूती नहीं है। भगवान आत्मा को कर्म के सम्बन्ध में नारकी, पशु, एकेन्द्रियादि भिन्न-भिन्न गतियाँ हैं, यह व्यवहार है। अवस्था की दृष्टि से देखने पर यह सत्य है, तो भी चैतन्याकार एक ध्रुव ज्ञायक की दृष्टि करने पर यह पर्यायभेद कुछ नहीं है। त्रिकालीभाव भेदों को छूता नहीं है। एकरूप स्वभाव में कोई भेद नहीं है।

भाई! यह तो वीतराग मार्ग है। अनंतकाल में अनंत बार द्रव्य-लिंगी नग्न-दिगम्बर मुनि होकर नववें ग्रैवेयक गया, तथापि आत्मज्ञान बिना किंचित् भी सुख नहीं पाया। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञायकभाव, एक, चैतन्यरस-स्वभाव कभी भी भेदरूप हुआ ही नहीं। जैसे सूर्य का प्रकाश अंधकाररूप नहीं हुआ; उसीतरह भगवान ज्ञानपुंज कभी भी पुण्य-पाप नहीं होता। इससे विशेष बात यहाँ कहते हैं कि – ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक एक चैतन्याकारस्वरूप आत्मा गति आदि पर्यायों से किंचित्-मात्र भेदरूप नहीं होता।

यहाँ यह कहते हैं कि त्रिलोकीनाथ भगवान आत्मा सत्‌वस्तु अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। यह भेद में या पर्याय में नहीं। अनादि से जबतक एकसमय की पर्याय पर दृष्टि है, तबतक आत्मभगवान स्वभाव से दूर है। पर्यायदृष्टि को छोड़कर त्रिकाली को देखे तो आत्मस्वभावमय हो जाय और तब फिर उसके पर्यायभेद सब असत्यार्थ हो जाते हैं। अभेद की दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। अहो! इस पंचमकाल में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तीर्थंकर जैसा और अमृत-चंद्राचार्यदेव ने गणधर जैसा काम किया है। स्वचेतन की अपेक्षा से दूसरे चेतनद्रव्य व जड़पदार्थ असत् हैं, भले ही वे अपनी-अपनी अपेक्षा से सत् हैं। इस आत्मा की अपेक्षा से अरहंत और सिद्धपरमात्मा भी अनात्मा हैं। इसप्रकार अन्दर में त्रिकाली की अपेक्षा से पर्याय असत् है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय सत् है।

यहाँ कोई कहे कि तो फिर पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य असत् है कि नहीं ?

पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य असत् (अभूतार्थ) और द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय असत् (अभूतार्थ) यह तो जानने की अपेक्षा से वात है। आश्रय करने की अपेक्षा से तो द्रव्य ही एक त्रिकाल सत् रहता है और यही भूतार्थ है। आश्रय करने के लिए कभी भी पर्याय सत् और भूतार्थ नहीं होती।

जहाँ 'पर्याय से अनुभव करने पर' ऐसा आवे वहाँ 'अनुभव करने' का अर्थ 'जानना' लेना तथा जहाँ 'द्रव्य का अनुभव करने पर' ऐसा आवे वहाँ अनुभव करने का अर्थ 'द्रव्य का आश्रय करना जानना चाहिए'।

द्रव्यस्वभाव सर्वथा अस्खलित है। त्रिकाली ज्ञायकभाव अभेद एकरूप वस्तु कभी भी अनेकरूप नहीं होती, पर्याय को स्पर्श नहीं करती। द्रव्य पर्याय को आलिंगन नहीं करता। प्रवचनसार गाथा १७२ की टीका में अलिंगग्रहण के १९वें बोल में आता है कि लिंग यानी पर्याय को द्रव्य छूता नहीं है, क्योंकि स्पर्श करे तो एक हो जाय। त्रिकाली की अपेक्षा अन्य-अन्य गतियाँ अभूतार्थ हैं, इनका अस्तित्व ही नहीं है।

प्रश्न :– एकान्त हो जायगा न ?

उत्तर :– त्रिकाली का ज्ञान सम्यक्-एकान्त है।

प्रश्न :– क्या एकान्त भी सम्यक् होता है ?

उत्तर :– हाँ, 'एक' चैतन्यस्वभाव सम्यक्-एकान्त है। सम्यक्-एकान्त बिना अनेकान्त का सच्चा ज्ञान नहीं होता।

भाई ! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्यध्वनि में कहा हुआ मार्ग है। लोगों को सुनने को नहीं मिला, इससे क्या करें ? विचारे क्रिया-कांड में रचे-पचे रहते हैं और ऐसे ही काल पूरा हो जायगा। तथा महिमा भी ऐसी ही करते हैं कि इसका यह त्याग है और उसका वह त्याग है। किन्तु अरे भाई ! वाहरी त्याग-त्याग में अटकने से दृष्टि में से सम्पूर्ण आत्मा का भी त्याग हो जाता है, इसकी इसे खवर नहीं पड़ती।

तीसरा बोल :– जैसे समुद्र की वृद्धि-हानिरूप अवस्था से अनुभव करनेपर अनियतपना (अनिश्चितपना) भूतार्थ है, सत्यार्थ है। पर्याय से देखें तो ज्वार और भाटा – ऐसे वृद्धि और हानि के प्रकार समुद्र में होते हैं, यह सत्य है। पूनम के दिन समुद्र में ज्वार आता है, समुद्र व चन्द्रमा का

ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इसप्रकार वर्त्तमान भेददृष्टि से देखने पर वृद्धि-हानि सत्यार्थ है; तो भी नित्य-स्थिर ऐसे समुद्रस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर अनियतपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। वृद्धि-हानि को गौण करके नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव को देखने पर अनियतपना झूठ है। समुद्र का मध्यबिन्दु जहाँ है, वहाँ समुद्र एकरूप स्थिर है। इस नित्य-स्थिर स्वभाव में हानि-वृद्धि नहीं है। यह तो दृष्टान्त हुआ। अब सिद्धान्त कहते हैं।

इसीप्रकार आत्मा को वृद्धि-हानिरूप पर्यायों से देखें तो अनियतपना कम-बढ़पना है। ज्ञान की पर्याय में हीनाधिकता होती है। किसी समय 'नौ पूर्व' का क्षयोपशम प्रगट हो, ऐसी ज्ञान की पर्याय होती है तो किसी समय अक्षर का अनंतवाँ भागमात्र ज्ञान का क्षयोपशम देखा जाता है। आलू, लहसुन, मूली आदि कंदमूल में निगोद के जीव हैं। एक राई जितने टुकड़े में असंख्यात शरीर हैं। एक-एक शरीर में आजतक जितने सिद्ध हुए, उनसे अनंतगुणे जीव हैं। छह माह व आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं, ऐसे आजतक अनंतकाल में अनंत जीव सिद्ध हुए हैं, इन अनंत सिद्धों से अनंतगुणे निगोद के जीव हैं। निगोद के जीवों की पर्याय में अक्षर के अनंतवें भाग का विकास है। उसमें से कोई जीव बाहर निकलकर मनुष्य होकर द्रव्यलिंगी साधु हो और पर्याय में नौ पूर्व की लब्धि (क्षयोपशम) प्रगट करले। इसप्रकार आत्मा के वृद्धि-हानिरूप पर्यायभेदों से देखने पर अनियतपना सत्यार्थ है। व्यवहारनय से पर्याय में वृद्धि-हानि है, यह सत्य है; तथापि नित्यस्थिर (निश्चल), उत्पादव्ययरहित ध्रुव आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करनेपर अनियतपना अभूतार्थ है। आत्मस्वभाव में वृद्धि-हानि नहीं है। उत्पादव्यय में वृद्धि-हानि भले हो। पर्याय में केवलज्ञान हो, तो भी ध्रुवस्वभाव में कुछ घटता नहीं है और निगोद में अक्षर का अनंतवाँ भाग क्षयोपशम रह जाय, इससे नित्य ध्रुवस्वभाव में कुछ बढ़ जाय – ऐसा नहीं है। भले पर्याय में हीनाधिकता हो; तथापि वस्तु तो जैसी है वैसी ध्रुव-ध्रुव-ध्रुवस्वभाव रहती है।

अहा हा……! विषय तो यह चलता है कि आत्मा की ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि की पर्याय में एकपना नहीं है, वृद्धि-हानि होती है। पर्याय के लक्ष्य से देखने पर यह वृद्धि-हानि सत्यार्थ है; परन्तु पर्याय के लक्ष्य से त्रिकाली आत्मा अनुभव में नहीं आता है; तथा आत्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तो त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभाव का अनुभव करने पर होता है। इससे ध्रुव निश्चल नित्यानंदस्वभाव भगवान आत्मा के समीप जाकर

अर्थात् पर्यायगत हीनाधिकतापने का लक्ष्य छोड़कर और ध्रुव ज्ञायकभाव – एक का ही लक्ष्य करके अनुभव करने पर अनियतपना झूठ है। हीनाधिकपना कुछ नहीं है; मात्र ध्रुव, ध्रुववस्तु का अनुभव है। यह सम्यग्दर्शन है, धर्म है। स्वभाव के सन्मुख जाकर अनुभव करना कहो, मुख्य का अनुभव करना कहो या अधिक स्वभाव का अनुभव करना कहो – यह सब एकार्थवाचक हैं। समयसार गाथा ३१ में इन्द्रियों से अधिक (भिन्न) आत्मस्वभाव का अनुभव करना कहा। गाथा ११ में त्रिकालस्वभाव को मुख्य करके इसका अनुभव करने को कहा और यहाँ स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने को कहा। ये तीनों ही एकार्थवाची हैं।

त्रिकाली ज्ञायकभाव पर्याय से अधिक है अर्थात् पर्याय से भिन्न है, ऐसे ज्ञायकभाव के समीप जाकर उसकी ही दृष्टि करनेपर पर्याय लक्ष्य में नहीं रहती अर्थात् अनुभव में नहीं आती, इसलिए अनियतपना असत्यार्थ हो गया। पर्याय में हीनाधिकता होती है, इस अपेक्षा से अवस्था विशेष आत्मा के अन्दर है, दूसरे पदार्थ में – जड़ में नहीं है। किन्तु अंतर्मुख वस्तु में दृष्टि करने से हीनाधिकपना असत्यार्थ हो जाता है। यह मुख्य-गौण की बात है।

भाई ! लक्ष्मी-पैसा, यह तो पूर्व का पुण्य हो तो बहुत हो जाता है, इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता तथा ये मेहनत से भी नहीं मिलते, जबकि धर्म तो पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। धर्म प्राप्त करने के लिए स्वयं पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

चौथा बोल :– जैसे सोने का चिकनापन, पीलापन, भारीपन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करनेपर विशेषपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है। सोने में ये पीलापना, चिकनाई, वजन आदि हैं न ? भेददृष्टि से देखने पर सोने में पीलापन चिकनाई वजन आदि हैं, यह सत्यार्थ है; तथापि जिसमें सर्व विशेष समा गये हैं, ऐसे स्वर्णस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर विशेषपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। स्वर्ण, स्वर्ण, स्वर्ण–ऐसे अकेले स्वर्ण की ही दृष्टि करने पर क्या चिकनाई आदि दिखाई देती हैं? एकरूप सामान्य स्वर्णस्वभाव की दृष्टि में चिकनाई आदि सर्व विशेष समा जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, ये भेद दृष्टि में से छूट जाते हैं। यह दृष्टान्त हुआ। अब सिद्धान्त कहते हैं।

इसीप्रकार आत्मा को ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषणपने भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि

गुणरूप भेदों से देखने पर यह विशेषणपना आत्मा में है। पुद्गलादि दूसरे द्रव्यों में ऐसे भेद नहीं हैं, इस अपेक्षा से सत्यार्थ हैं। तो भी जिसमें सर्वविशेष समाप्त हो गये हैं, ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषपना अभूतार्थ है। प्रवचनसार गाथा १७२ के अलिंगग्रहण के अठारहवें बोल में आता है कि आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता। 'लिंग' अर्थात् गुण, इनका ग्रहण अर्थात् अर्थविबोध (पदार्थज्ञान); वह जिसको नहीं, वह अलिंगग्रहण है। यहाँ ज्ञानगुण की मुख्यता से बात की है, किन्तु सभी गुणभेद इनमें ग्रहण कर लेना। त्रिकाली में कोई गुणभेद नहीं है। एक सामान्य ज्ञायकभाव चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि जाते ही गुणभेद अस्त हो जाते हैं, असत्यार्थ हो जाते हैं। आत्मस्वभाव के समीप जाकर अर्थात् भूतार्थस्वभाव को मुख्य करके इसका आश्रय करें और गुण-भेदों को गौण करें तो ज्ञान, दर्शन आदि भेद अभूतार्थ हैं।

सोने में भेद की अपेक्षा से चिकनाहट, वजन आदि भेद हैं; किन्तु भेदों को देखने पर ज्ञान में अंश ज्ञात होते हैं, सम्पूर्ण स्वर्णवस्तु दृष्टि में नहीं आती, और सम्पूर्ण वस्तु दृष्टि में आये बिना स्वर्ण का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

स्वर्णकार के यहाँ कोई सोने का जेवर बेचने के लिए ले जावे तो स्वर्णकार मैल की कीमत नहीं देता, क्योंकि मैल की कोई कीमत नहीं है, उसके ज्ञान में तो स्वर्ण की कीमत है। इसीप्रकार ज्ञानी के ज्ञान में पर्यायविशेष या गुणविशेष नहीं हैं। गाथा ७ में आता है कि ज्ञानी के ज्ञान, दर्शन आदि भेद नहीं हैं। तो प्रश्न उठता है कि तो क्या ये भेद जड़ में हैं? नहीं, जड़ में नहीं हैं। ज्ञान, दर्शन आदि हैं तो आत्मा में ही, किन्तु ज्ञानी का भेदों के ऊपर लक्ष्य नहीं है, क्योंकि गुणभेद की दृष्टि करने पर सामान्य त्रिकालध्रुव सम्पूर्ण आत्मवस्तु अनुभव में नहीं आती, सम्पूर्ण वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; इससे ज्ञानी के एक ज्ञायकभाव ही मुख्य है। इस-कारण द्रव्यदृष्टि होने पर गुणभेद कुछ नहीं है, असत्यार्थ है।

ज्ञानपर्याय जबतक पर की ओर तथा राग की ओर झुके तबतक द्रव्य का ज्ञान नहीं है; तबतक पर का और राग का ही ज्ञान है। परन्तु जब वह दृष्टि पर की ओर का झुकाव छोड़कर द्रव्य-सन्मुख हुई, तब द्रव्य के आश्रय से जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसमें सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान हो जाता है। आत्मा जैसा पूर्ण है वैसा पर्याय में ज्ञात होना वह परिपूर्ण आत्मा का ज्ञान है। उसे आत्मज्ञान व सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अकेला शास्त्र का ज्ञान, राग का ज्ञान, पर्याय का ज्ञान या गुणभेद का

ज्ञान, यह सब ज्ञान ही नहीं है (वह तो अज्ञान है)। परिपूर्ण की प्रतीति सम्यग्दर्शन और परिपूर्ण में स्थिरता चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में स्थिरता चारित्र नहीं; ये तो पर्यायें हैं। परिज्ञान यह पर्याय है। इस पर्याय में आत्मा जैसा परिपूर्ण है, इसे ज्ञेय बनाकर इसका ज्ञान आता है, परन्तु सम्पूर्ण आत्मा पर्याय में नहीं आता।

भाई ! यह तो केवलज्ञानी की वाणी है। केवलज्ञानी का विरह भुला देवे, ऐसी बात है। जगत के जीवों का भाग्य है कि समयसार जैसा शास्त्र बच गया है, ऐसी वाणी भरतक्षेत्र में रह गई।

अहो ! जैनदर्शन कोई अद्‌भुत है, अलौकिक है। उसमें मूलस्वरूप – निश्चयस्वरूप तो यथार्थ है ही, जो कि अन्यत्र नहीं है; किन्तु पर्याय जो कि व्यवहार है – इसका स्वरूप भी जैनदर्शन में जैसा बताया है, ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं है। एक-एक भेद का ज्ञान करने के बाद इन भेदों का निषेध किया है। समयसार गाथा ५० से ५५ में 'भिन्न-भिन्न शुभभाव हैं, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि भेद हैं, किन्तु ये अनुभूति से भिन्न हैं' – केवलज्ञान में ऐसा जो व्यवहार ज्ञात हुआ, उस व्यवहार का ज्ञान कराके त्रिकाली की दृष्टि में इसका निषेध करते हैं।

ऐसा है भाई ! सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का विषय बहुत सूक्ष्म है। इसका पता लग गया तो बस इससे संसार का अन्त आ जायगा। भले ही वर्त्तमान में चारित्र न हो, तथापि अल्पकाल में चारित्र प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

दर्शनपाहुड़ में आता है कि – 'सिज्झंत्ति चरिय भट्टा दर्शन भट्टा न सिज्झंति' अर्थात् चारित्र से भ्रष्ट तो मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मुक्ति नहीं पाते। सम्यग्दर्शन है, किन्तु जिन्हें चारित्र नहीं है, वे श्रद्धान के बल से स्वरूप में रमणता करके (चारित्र धारण करके) मोक्ष को प्राप्त कर लेंगे; परन्तु जिन्हें सत्य श्रद्धान ही नहीं है, वे स्थिरता कैसे करेंगे ? उन्हें आत्मा की स्थिरता बन ही नहीं सकती।

अहा हा·······! आत्मा का एकरूपस्वभाव – ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक, ऐसा जो अनादि-अनंत ध्रुव, ध्रुव, चैतन्यभाव का एक सदृश प्रवाह (पर्यायरूप नहीं) है; वह व्यवहारनय के आलम्बन से (भेद के लक्ष्य से) प्राप्त नहीं होता। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी पण्डित जयचन्दजी ने (गाथा ३११-३१२ में) यह बात कही है कि आत्मा को दया, दान, भक्ति आदि के राग से तथा मति, श्रुत आदि पर्यायों से तो अनादि से जाना है;

राग और पर्याय को जानते हुए एकरूप स्वभाव जानने में नहीं ; इससे इन पर्यायों में, भेदों में, भेदों को गौण करके अभेदरूप अनन्त वरूप चैतन्य को ग्रहणकर वस्तु का, द्रव्य का ज्ञान कराया है। ! आत्मा की ऐसी यथार्थ समझ के बिना कुछ भी क्रियाकाँड करे, र्थ है, एक के बिना बिन्दी जैसा है।

पाँचवाँ बोल :– जैसे जल को, अग्नि जिसका निमित्त है, ऐसी ता के साथ संयुक्तपनेरूप – तप्तपनेरूप अवस्था से अनुभव करनेपर के) उष्णतारूप संयुक्तपना भूतार्थ है। जल तो स्वभाव से ठंडा है, अपनी योग्यता और अग्नि के निमित्त से पर्याय में उष्ण हो है। उष्णता स्वयं की पर्याय में स्वयं से है, अग्नि तो निमित्तमात्र ानी की उष्ण अवस्था अग्नि से नहीं हुई है, उष्ण अवस्था होने ह समय जन्मक्षण है, इसलिए हुई है। प्रवचनसार गाथा १०२ की में ऐसा है। अब पर्यायदृष्टि से देखने पर जल में उष्णपना है, वह है। अवस्था से देखने पर जल का उष्णता के साथ संयुक्तपना है – तार्थ है; तथापि एकांत शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर व करने पर (उष्णता के साथ) संयुक्तपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। का स्वभाव तो एकांत शीतल है, अवस्था में उष्णपना है, उस ता के काल में भी पानी का स्वभाव तो शीतल ही है। ऐसे जल के ल स्वभाव के सन्मुख होकर देखें तो उष्णपना असत्यार्थ है, अभूतार्थ यह तो दृष्टान्त हुआ। अब सिद्धान्त कहते हैं।

इसीप्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है, ऐसे मोह के साथ पनेरूप अवस्था से अनुभव करनेपर संयुक्तपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है। ान आत्मा की पर्याय में जितना कर्म का संबंध पाकर विकार उत्पन्न है, वह वर्त्तमान पर्याय की दृष्टि से देखने पर सत्यार्थ है। वेदान्त में राग और पर्याय हैं ही नहीं, ऐसा यहाँ नहीं है। तथापि जो स्वयं न्तबोधरूप (ज्ञानरूप) है, ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव पर अर्थात् जीवस्वभाव के अन्दर गहराई में जानेपर संयुक्तपना ार्थ है।

अहा हा..........! भगवान तेरी वस्तु एकान्त बोधरूप है। भाषा खो ! स्वयं एकान्तज्ञानरूप है, किसी ईश्वर ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप बनाया है। 'ज्ञानस्वरूप' आत्मा का सहजरूप है। अग्नि के निमित्त ानी पर्याय में उष्ण हुआ है; तथापि पानी का शीतलतारूप स्वभाव अन्दर पड़ा ही है। उसीप्रकार भगवान आत्मा की वर्त्तमान पर्याय में

कर्म-संबंध से विकारी दुःखरूप अवस्था है, तो भी आत्मा का सहज आनंद, बोधरूप स्वभाव अन्दर पड़ा ही है। ऐसे स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अर्थात् वर्त्तमान विकारी दशा को गौण करके एक ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने पर आनंद का अनुभव होता है। इस अपेक्षा से दुःख रूप – संयुक्तपनेरूप दशा असत्यार्थ है, झूठी है। भाई ! बात बहुत सूक्ष्म है, पर समझने जैसी है।

आज तो मूल बात ही उल्टी हो रही है। बस पूजा करो, भक्ति करो, दान करो, मन्दिर बनवाओ, इनसे कल्याण हो जायगा, सब ऐसा ही तो सम्प्रदाय में चलता है। मन्दिर बनवाने में मंदकषाय हो तो भी वह शुभभाव है, बंधन है। कविवर बनारसीदासजी ने सिद्धान्त में से निकालकर समयसार नाटक (मोक्ष द्वार) में कहा है कि छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झुलते हुए भावलिंगी सन्तों को अथवा जिसको तीन कषायों का अभाव है, और प्रचुर आनंद का स्वसंवेदन पर्याय में वर्तता है, उसे भी जो शुभभावरूप महाव्रत का विकल्प उठता है, वह 'जगत का पंथ' है।

ता कारण जगपंथ इत, उत शिव मारग जोर।
परमादी जग कौ धुकै, अपरमादी शिव ओर।।

अहा हा····! अन्तर में जिसको आनंद का अनुभव वर्तता है, जिसे परद्रव्य का कर्त्तापना तो दूर रहा, राग का भी कर्त्तापना छूट गया है, ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि को पर्याय में जो महाव्रत का शुभराग आता है, वह 'जगपंथ' है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्वयं पुण्य-पाप अधिकार में कहा है कि पुण्य प्राणियों को संसार में दाखिल करता है, इसे भला कैसे कहा जाय ? जबतक पर्याय में पूर्ण वीतरागता नहीं प्रगटी, तबतक अशुभ से बचने के लिए शुभराग आता है, परन्तु श्रद्धा में साधक को यह हेय है, क्योंकि यह 'जगपंथ' है। मुनि को भी जितना शुभराग आता है, वह प्रमाद है और संसार का कारण है। भाई, एकान्तबोधरूप ज्ञायकभाव के लक्ष्य विना पर के लक्ष्य से जो राग उत्पन्न होता है, वह 'जगपंथ' है। भले ही वह शुभराग भगवान की भक्ति-स्मरण का या महाव्रत संबंधी हो, सब 'जगपंथ' ही है। कायर का कलेजा काँप उठे, ऐसी यह बात है।

श्रीमद् ने कहा है :–

बचनामृत वीतरागना, परमशान्त रसमूल।
औषध जे भवरोगना, कायरने प्रतिकूल।।

अन्तर में जो भगवान आत्मा शक्तिरूप से मोक्षस्वरूप विराजता है, ऐसे निजस्वभाव के आश्रय करने पर जितनी वीतरागता–निर्मलदशा उत्पन्न हो, वह 'मोक्षपंथ' है। अन्तरस्वभाव के आश्रय में जो अप्रमत्तभाव उत्पन्न हो, वह मुक्तिमार्ग है। तथा जो पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित हैं; 'णमोलोए सव्वसाहूणं' कहने पर जिन्हें गणधरदेव का नमस्कार पहुँचता है; वे भावलिंगी मुनि हों – उन्हें भी जितना परलक्ष्य से राग उत्पन्न होता है, वह भी 'जगपंथ' है – संसार का मार्ग है। कठोर बात है, भाई! लोगों ने 'धर्म क्या है' ? यह बात कभी सुनी ही नहीं है।

शास्त्र में पाँच पाण्डवों का दृष्टान्त आता है। जब पाँचों पाण्डव शत्रुञ्जय पर्वत पर ध्यान में खड़े थे, तब दुर्योधन के भानजे ने आकर उन्हें लोहे के जलते हुए – धकधकाते हुए कड़े शरीर पर पहना दिये। पाँचों पाण्डव आत्मानुभवी छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए भावलिंगी संत थे। उनमें युधिष्ठर, भीम और अर्जुन तो स्वरूप में मग्न होकर केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष चले गये। किन्तु नकुल और सहदेव के ऐसा शुभ विकल्प आया कि अग्रज भाइयों के क्या हो रहा होगा ? क्योंकि वे उनके सगे भाई एवं साधर्मी थे, इसलिए ऐसा विकल्प दो भाइयों को आया। तो उसके फल में सर्वार्थसिद्धि की तेतीस सागर की स्थिति वाली आयु बंध गई। तेतीस सागर तक को केवलज्ञान से वे दूर हो गये, इसके बाद मनुष्य होकर मोक्ष जावेंगे। भाई! वीतराग परमेश्वर का मार्ग कोई जुदी वस्तु है। निर्ग्रन्थ मुनिराज का दूसरे धर्मात्मा पर लक्ष्य गया, इसके फल में केवलज्ञान से दूर होकर तेतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि की आयु का बंधन हुआ। एक सागर में दश कोड़ाकोड़ी पल्योपम जाता है और एक पल्योपम के असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं।

प्रश्न :– क्या यह बहुत बड़ा दण्ड नहीं है ? क्या यह ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा नहीं है ?

उत्तर :– नहीं, शुभ भाव का फल संसार ही है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञपरमात्मा भावलिंगी सन्त तो ऐसा कहते हैं कि तेरी दशा अन्तरअवलम्बन से जितनी निर्मल हुई वह मोक्षपंथ है और पर्याय में जितना परलक्षी पाँच महाव्रत का, अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का राग उत्पन्न होता है, वह जगपंथ है, संसार है। लोग स्त्री, कुटुम्ब-परिवार को संसार मानते हैं, किन्तु वास्तव में यह संसार नहीं है। ये तो सब परवस्तु हैं। आत्मा का संसार बाहर में नहीं है, किन्तु अन्दर इसी की पर्याय में (दशा में) मिथ्याश्रद्धा, रागद्वेष है, वह संसार है। जो स्त्री पुत्र, परिवार

आदि संसार हो तो मरण होने पर ये सब छूट जाते हैं, तो क्या यह संसार से छूट गया ? नहीं 'संसरणं इति संसार:' भगवान ऐसा कहते है कि तेरी चीज जो चिदानंदघन है, उससे हटकर तू जितना मिथ्यात्व, राग व द्वेष में आया, वह संसार है।

अतीन्द्रिय आनंदरूप अनुभव से छूटकर भावलिंगी संत छटवें गुणस्थान में आते हैं, यह प्रमाद है। विकल्प जो उठते हैं, वह आलस है। भाई ! तू स्वरूप की सच्ची श्रद्धा तो कर। श्रद्धा में घोटाला गड़बड़ी होगी तो संसार में ही रखड़ना होगा। मोह में पागल दुनियाँ कुछ भी कहे, उसका सर्टिफिकेट काम नहीं आयेगा।

भगवान त्रिलोकीनाथ की दिव्यध्वनि द्वारा इन्द्र और गणधरों के बीच में ऐसा कहा गया था कि – भगवान आत्मा स्वयं एकान्त बोधरूप, सहज, अनाकुलआनन्दस्वरूप, वीतरागस्वभावी है – ऐसे आत्मा का आश्रय लेने पर जो निर्विकल्प वीतराग पर्याय उत्पन्न होती है, वह शिवपंथ है और पर के लक्ष्य से जितना राग होता है, वह प्रमाद है, अनुभव में शिथिलता है, उतना शिवपंथ दूर है।

जिसप्रकार मृग की नाभि में कस्तूरी है, किन्तु मृग को इसकी खबर नहीं होने से कस्तूरी की सुवास बाहर से आ रही है – ऐसा समझकर जहाँ कस्तूरी है वहाँ तो वह देखता नहीं है और बाहर ढूँढ़ता है; उसीप्रकार अज्ञानी जीव समझता है कि ज्ञान और आनन्द पर में से आता है – अतः बाहर में खोजता है और जहाँ है, वहाँ स्वयं में देखता नहीं है। इससे इस जीव को चतुर्गति-भ्रमणरूप संसार है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा स्वयं एकान्तज्ञानरूप, आनन्दरूप, सहजस्वभाव है। इस स्वभाव को मुख्य करके उनका आश्रय करने से रागादि के साथ संयुक्तपना अभूतार्थ, असत्यार्थ हो जाता है और वह धर्म है, मुक्तिमार्ग है।

गाथा १४ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप देखा जाता है।

(१) अनादिकाल से कर्मपुद्गल के संबंध से बंधा हुआ कर्मपुद्गल के स्पर्शवाला।

(२) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारकादिरूप पर्यायों में भिन्न-भिन्न गतिरूप से दीखता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के ९६ हजार रानी, ९६ करोड़ प्यादे, ९६ करोड़ ग्राम, ७२ हजार नगर थे तथा हीरों के पलंग थे, किन्तु आयु पूरी हुई तब दूसरे ही क्षण सातवें भयंकर नरक

में गया। अभी भी सातवें नरक में है। भगवान कहते हैं कि मिथ्याश्रद्धान और अनंतानुबंधी कषाय का ७०० वर्ष तक सेवन करने से वह तेतीस सागरोपम सातवें नरक में रहेगा। सातसौ वर्ष की जितनी श्वाँसें होती हैं, उसमें से एक श्वाँस के कल्पित सुख के फल में ११ लाख ९६ हजार ९७५ पल्योपम का दुःख वहाँ भोगेगा। भाई! यह भगवान के मार्ग की गिनती भी जुदी जाति की है। इसप्रकार कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारकादि भिन्न-भिन्न पर्यायों में आत्मा दीखती है। वर्त्तमान में समर्थ राजा हो और दूसरे ही क्षण में नरक में जन्म लेवे, ऐसा अनंतबार हो गया है।

शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं। ज्ञानादिक पर्यायों में हीनाधिकता होती है। पर्याय में हीनाधिकता होना – यह पर्याय का स्वभाव है, इससे नित्य-नियत एकरूप नहीं दीखता।

दर्शन-ज्ञानादि अनेक गुणों से विशेषरूप दीखता है। दूसरे द्रव्यों में नहीं हैं, ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणभेद विशेष अपेक्षा से आत्मा में हैं, एकरूप सामान्यस्वभाव में ये नहीं हैं।

कर्म के निमित्त से हुए मोह-राग-द्वेष आदि परिणामों सहित वह सुख-दुःखरूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय के विषय हैं। क्योंकि पर्याय में अशुद्धता हुई है, इस अपेक्षा से अशुद्ध और स्वयं में स्वयं से हुई है, पर से नहीं, इस अपेक्षा से द्रव्यार्थिक कहा है। त्रिकाल आनंदरूप निज-आत्मा की पर्याय में जो अशुद्धता है, यह द्रव्य का अपना पर्यायरूप परिणमन है। यह निज में है, दूसरे द्रव्य में नहीं है, और दूसरे द्रव्य से भी नहीं है।

द्रव्य तो कभी अशुद्ध होता नहीं है, किन्तु पर्याय में यह द्रव्य अशुद्ध हुआ, यह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से कहा। पर में नहीं व पर से नहीं, यह बताने के लिए अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहा है। तेरी सत्ता में – पर्याय में यह पाँचों भाव हैं, इस अपेक्षा से द्रव्य को अशुद्धद्रव्यार्थिक कहकर व्यवहार-नय का विषय कहा। व्यवहारनय का विषय अर्थात् पर्याय का विषय। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहो, व्यवहार कहो या पर्यायार्थिकनय कहो – ये सब एकार्थवाचक हैं।

अशुद्धता तो पर्याय में है, किन्तु यहाँ अशुद्धद्रव्यार्थिक क्यों लिया?

द्रव्य स्वयं तो त्रिकाल शुद्ध ही है, किन्तु द्रव्य की पर्याय स्वयं से स्वयं में अशुद्ध हुई है। कर्म से कर्म में अशुद्धपर्याय नहीं हुई – ऐसा सिद्ध करने के लिए द्रव्य को अशुद्धद्रव्यार्थिक कहा है।

पर्याय में द्रव्य अशुद्ध हुआ है, यह पर्यायदृष्टि से सत्यार्थ है। परन्तु आत्मा का एकस्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता, और त्रिकाली एकरूप स्वभाव दृष्टि में आये बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय पर्याय की सत्ता को बतलाता है, किन्तु इससे एकरूप स्वभाव-भाव चिदानंदमूर्ति ज्ञायकभाव दृष्टि में नहीं आता, और ज्ञायक को जाने बिना अखण्ड एक आत्मा का ज्ञान कैसे हो ? पाँच प्रकार में तो आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है, किन्तु वस्तु तो अन्दर अखण्ड एकरूप त्रिकाल है। भगवान आत्मा ज्ञान और आनंद स्वभाव से भरपूर भरा हुआ गोदाम है। ऐसे आत्मा का भेददृष्टि से – अंशदृष्टि से या पर्यायदृष्टि से ज्ञान नहीं होता। इसलिए व्यवहारनय के प्रतिपक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक अर्थात् निश्चयनय को मुख्य करके आत्मा के एकस्वभाव को ज्ञान में ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर मात्र ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान का पिण्ड (झलझलाती) जलहलज्योति, एकरूप, सम्पूर्ण चैतन्यबिम्ब को शुद्धनय की दृष्टि से सर्व परद्रव्यों से भिन्न, सर्व पर्यायों में एकाकार, हानिवृद्धि से रहित देखें तो पाँचों भावों से जो अनेकरूपपना है, वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। अन्दर जो पूर्णानन्दरूप, ज्ञानघन, ध्रुवज्ञायकभाव है, उसमें दृष्टि करके आश्रय करने पर यह पाँच पर्यायरूप भाव झूठे हो जाते हैं।

बापू ! यह तो जन्म-मरण मिटानेवाली बात है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने मोक्षपाहुड़ गाथा १६ में ऐसा कहा है :–

'परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो दु सुग्गई होई'।

परद्रव्य पर जितना लक्ष्य जायगा उतना राग उत्पन्न होगा, और इसके फल में चार गतियाँ मिलेंगी, सिद्धगति नहीं मिलेगी। भाई ! तीन लोक के नाथ, तेरी अपेक्षा से परद्रव्य हैं। इनके लक्ष्य से राग ही उत्पन्न होगा, इससे पुण्य बन्ध होगा और स्वर्गादिक भी मिलेंगे, किन्तु यह सब दुर्गति है। मनुष्य में पैसावाला होगा यह भी दुर्गति है, तथा स्वद्रव्य के अवलम्बन से सुगति – सिद्ध दशा प्राप्त होती है। दो शब्दों में सम्पूर्ण सिद्धान्त रख दिया है। यह तो अजर-अमर प्याला है।

यहाँ ऐसा जानना कि वस्तु का स्वरूप अनंत धर्मात्मक है, वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा अनंत धर्मस्वरूप है। आत्मा में गुण और पर्यायें – ये सब आत्मा द्वारा धारण किये हुए भाव होने से आत्मा के धर्म हैं। पर्याय में शुद्धता या अशुद्धता है, वह भी पर्याय ने धारण कर रखी है, इससे वह भी धर्म है। इसमें ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि

अनंत धर्म तो स्वाभाविक हैं और पर्याय में जो पुण्य-पाप आदि हैं, वे कर्म के संयोग से होते हैं और इनसे आत्मा को संसार की प्रवृत्ति होती है। राग-द्वेषादि तीव्र हों तो नरक या तिर्यंच में जाता है और मंद हो तो देव या मनुष्य होता है। यह सब संसार की प्रवृत्ति है। इस सम्बन्धी जो सुख-दुःख आदि होता है, उसे आत्मा भोगता है। वास्तव में तो नरक या स्वर्ग में कहीं सुख नहीं है, परन्तु कल्पना करके आत्मा सुख-दुःख भोगता है। मनुष्य की अपेक्षा स्वर्ग में बहुत अनुकूल सामग्री है, किन्तु उसपर लक्ष्य करते ही पापभाव होता है, और यह दुःखरूप ही है। स्वर्ग के जीव भी दुःखी ही हैं। वर्त्तमान पर्यायमात्र को ही देखना, रागादिक को देखना—अनादि अज्ञान से ऐसी पर्यायबुद्धि है, अनादि-अनंत एक आत्मा का ज्ञान नहीं है।

भगवान आत्मा है, है, है,—ऐसा त्रिकाल ध्रुव एक सदृश्य प्रवाह अनादि-अनंत है। ऐसा एकरूप आत्मा का ज्ञान पर्यायबुद्धिवाले अज्ञानी जीवों को नहीं होता है। उसको बतानेवाला सर्वज्ञ का आगम है। जैनमत के सिवाय अन्य मत में सर्वज्ञ ही नहीं है। इससे उनमें ऐसा वस्तु का यथार्थ स्वरूप बतानेवाला भी कोई नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने अन्तर में जो पूर्ण 'ज्ञ' स्वभाव—सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है, उसके पूर्ण अवलम्बन से सर्वज्ञ-पर्याय प्रगट की। ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी आगम है। उसमें शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से यह बताया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है; वह अखंड है, नित्य है, अनादिनिधन है,—इसे जानने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात छूट जाता है। पर्याय का नाश हो जाता है—ऐसा नहीं है, किन्तु [illegible] अखण्ड एक ज्ञायक हूँ', ऐसी दृष्टि होने पर अपनी वर्त्तमान रागादि [illegible] बराबर जो अपने को माना था, वह पक्षपात मिट जाता है।

जब यह जीव शरीर कर्म आदि परद्रव्यों से, उनके [illegible] उनके निमित्त से हुये अपने विभावों से अपने आत्मा को [illegible] एक ज्ञायकभावरूप अनुभव करे तब परद्रव्य के [illegible] नहीं परिणमता। आत्मा में दो भाग पड़े हैं—एक ध्रुव [illegible] और दूसरा वर्त्तमान पर्याय जिसमें राग-द्वेषादि भाव होते हैं [illegible]— व्यवहारदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। यह पर्याय की [illegible] (प्रतिपक्ष) शुद्धनय के विषयभूत एकरूप [illegible] का पिण्ड आनंन्दकन्द भगवान आत्मा है, [illegible] में पर के सम्बन्ध से जो रागादि [illegible] परिणमन नहीं करता। अरागी [illegible]

शुद्धता प्रगट होती है और अशुद्धता का नाश होता है तथा इससे कर्मबंध नहीं होता और संसार से निवृत्ति हो जाती है। स्वभाव में प्रवृत्ति पुष्ट होने पर विकारी परिणमन से निवृत्ति हो जाती है और आत्मा अकेला सिद्ध भगवान हो जाता है।

अहा ! बाहर की क्रिया पालता हो और इस चर्चा (तत्त्वज्ञान) में ऐसा लगे कि यह कोई एलएल.बी. जैसी कोई ऊँची बात है, किन्तु ऐसा नहीं है। यह तो प्रथम कक्षा की बात है। जैनधर्म इसने सुना नहीं है। जैनधर्म कोई क्रियाकांड या सम्प्रदाय का नाम नहीं है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि करके अज्ञान और राग-द्वेष को जीतने का नाम जैनधर्म है। इसलिए पर्यायार्थिकरूप व्यवहार को गौण करके असत्यार्थ कहा है। देखो ! भाषा कैसी ली है ? व्यवहार को गौण करके कहा, अभाव करके नहीं कहा। पर्याय है ही नहीं, ऐसा नहीं है; परन्तु वह दृष्टि का विषय नहीं है। तथा शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन कराया है। शुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली शुद्ध आत्मा का ही अवलम्बन लेने को कहा है। भगवान की मूर्ति का आलम्बन तो पर का आलम्बन है। यहाँ तो त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव के आलम्बन की बात है।

परवस्तु और आत्मा के तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है। भाई, तेरी पर्याय का भी लक्ष्य करने लायक नहीं है, तो परद्रव्य का लक्ष्य करना तो कहाँ रहा ? प्रवचनसार में (चरणानुयोगचूलिका अधिकार में) आचार्यदेव ने कहा है कि जब कोई जीव आत्मज्ञानपूर्वक वैराग्य प्रगट होने पर दीक्षा लेना चाहता है तब वह कुटुम्बीजनों के पास स्वीकृति लेने जाता है। पिता के पास जाकर ऐसा कहता है:—इस पुरुष-शरीर के जनक के आत्मा ! इस पुरुष का आत्मा तुमसे जनित नहीं है। अब मैं अपनी निर्मल पर्याय के जनक अनादि-अनंत त्रिकाली द्रव्य के पास जाना चाहता हूँ; मुझे स्वीकृति प्रदान करो। इसीप्रकार स्त्री के समीप जाकर ऐसा कहता है :— इस पुरुष के शरीर की रमणी का आत्मा! इस पुरुष के आत्मा को तू रमाती नहीं है। अब मैं अनादि-अनन्त त्रिकाल अनुभूतिस्वरूप जो मेरी स्त्री है, उसके पास जाना चाहता हूँ। इसीप्रकार हे माता-पिता ! मेरी चीज जो मेरे पास है, मैं उसके पास जाना चाहता हूँ। बाहर में जो विकल्प उठते हैं वे भी मेरी चीज नहीं हैं; तो परद्रव्यों के साथ तो मेरा क्या सम्बन्ध हो सकता है ? आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई भी सम्वन्ध नहीं है।

अव कहते हैं कि—वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होने के वाद शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। पर्याय में जवतक पूर्णता प्रगट न हो,

तबतक स्वद्रव्य की ओर झुकाव करने की आवश्यकता रहती है। स्वद्रव्य की ओर के झुकाव से जब पर्याय में पूर्णता प्रगट हो जाती है तो फिर द्रव्य के आलम्बन करने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

पर्यायार्थिकनय को गौण करके असत्यार्थ कहा है और शुद्धनय को सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन कराया है। पूर्ण प्राप्ति होने के पश्चात् उसका भी आलम्बन नहीं रहता। पूर्ण दशा में तो भेदाभेद का ज्ञान रहा करता है। इस कथन से ऐसा नहीं समझना कि अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ है। पर्याय में राग और दुःख हैं, अतः अशुद्धनय भी है। दृष्टि के विषय को मुख्य करके, पर्याय को गौण करके उसे झूठ कहा है। अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ मानने से वेदान्तमत का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि वे संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं। वेदान्त आत्मा को सर्वव्यापक मानता है और पर्याय में भेद व अनेकता को स्वीकारता ही नहीं है। वेदान्ती संसार को अवस्तु मानते हैं। ऐसी मान्यतापूर्वक शुद्धनय का आलम्बन वेदान्तियों की तरह मिथ्यादृष्टिपना लाएगा। इसलिए सर्वनयों का कथंचित् रीति से सत्यार्थपने के श्रद्धान से ही सम्यक्दृष्टिपना हो सकता है।

पर्यायनय से आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध, राग, अनेकता तथा गुणभेद है, वह सत्य है, वह अवस्तु नहीं है; परन्तु उसके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन आदि प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। सम्यग्दर्शन के प्रयोजन की सिद्धि तो एकमात्र अभेद, अखंड, एकरूप त्रिकालीज्ञायक का लक्ष्य करके उसका आश्रय करने से होती है। इसीलिए दिगम्बर सन्तों ने प्रयोजन की सिद्धि के लिए त्रिकाली को मुख्य करके, निश्चय कहकर, सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन कराया है; तथा पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर, असत्यार्थ कहकर उसका लक्ष्य छुड़ाया है। त्रिकाली शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय और ध्येय है। ऐसा होनेपर भी 'पर्याय है ही नहीं' — ऐसा मानकर द्रव्य का आश्रय करे तो ऐसा बनता ही नहीं है, क्योंकि द्रव्य का आश्रय तो पर्याय करती है। इसलिए 'पर्याय नहीं है' — ऐसा मानने पर आश्रय करनेवाला कोई रहता ही नहीं है, तो फिर जिसका आश्रय करना है ऐसी द्रव्यवस्तु भी दृष्टि में नहीं आ सकती।

आनन्दघनजी एक स्थान पर लिखते हैं :—

गगनमंडल में अधबीच कुआ, वहाँ है अमी का वासा।
सुगुरा होय सो भर-भर पीवै, निगुरा जावे प्यासा।।

गगनमंडल में आत्मा शरीर से, कर्म से और वर्त्तमान पर्याय से भिन्न अधबीच अधर में रहता है। इस सम्पूर्ण आत्मा में अमृत भरा है। अन्दर

में अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ यह आत्मा अमृत का सागर है। जिसे सुगुरु का शरण मिला है, जिसे सुगुरु की देशना प्राप्त हुई है, वह अन्तर्मुख दृष्टि करके सुखामृत का प्याला भर-भर कर पान करता है। तथा जो अज्ञानी हैं, वे बाहर में धन, पैसा, स्त्री, इज्जत-आबरू में सुख ढूँढ़ते हैं, उनकी प्यास नहीं बुझती, वे दुःखी ही रहते हैं।

भाई! आत्मा वीतरागस्वरूप है। चारित्र की अपेक्षा से वीतरागस्वरूप, आनंद की अपेक्षा से पूर्णआनंदस्वरूप, ज्ञान की अपेक्षा से पूर्णज्ञानस्वरूप, श्रद्धा की अपेक्षा से पूर्णश्रद्धास्वरूप, प्रभुता की अपेक्षा से पूर्णईश्वरस्वरूप है, यद्यपि ऐसे भेद भेद-अपेक्षा से सत्य हैं, तथापि भेदों का लक्ष्य करने से राग उत्पन्न होता है, अतः यह सब पर्यायदृष्टि है। पर्यायदृष्टि जहाँतक है, वहाँतक पूर्ण आत्मा का अनुभव नहीं होता; इसलिए पर्याय पर से दृष्टि उठाकर पूर्णआनन्द की सत्ता का – एक अखंड अभेदवस्तु का अवलम्बन लेकर अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना – यह सम्यग्दर्शन की रीति है।

इस रीति से स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना। मुख्य गौण कथन को सुनकर सर्वथा एकान्तपक्ष नहीं पकड़ना। पर्याय को असत्यार्थ कहा तो इससे पर्याय का सर्वथा निषेध नहीं मान लेना चाहिए। पर्याय को गौणकर असत्य तथा द्रव्य को मुख्य करके उसे सत्य कहा है – ऐसा समझकर जिनमत में कहा गया एक वीतरागस्वरूप त्रिकाली आत्मा का सेवन करना। पर्याय है ही नहीं – ऐसी मान्यता जिनमत नहीं है, तथा पर्याय का आश्रय करना भी जिनमत नहीं है; यह तो मिथ्यात्व है।

इस गाथासूत्र का व्याख्यान करते हुए टीकाकार आचार्य ने भी कहा है कि व्यवहारनय की दृष्टि में जो बद्धस्पृष्टादिरूप आत्मा दीखता है, वह उस दृष्टि में तो सत्यार्थ ही है, परन्तु शुद्धनय की दृष्टि में बद्धस्पृष्टादिपना असत्यार्थ है, क्योंकि अभेद में पर्याय का भेद नहीं है; तथा अभेद की दृष्टि करने पर भेद दिखाई नहीं देता, इससे अभेद का अनुभव करने के लिए पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है।

यह नय श्रुतज्ञानप्रमाण का अंश है। शुद्धनय हो या व्यवहारनय, ये श्रुतज्ञानप्रमाण के अंश हैं। त्रिकाल ज्ञानगुण जिसका लक्षण है, ऐसे द्रव्य का अनुभव करके जो भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ, वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान अवयवी है, और नय उसका अवयव है। भावश्रुतप्रमाणज्ञान ज्ञान की वर्त्तमान अवस्था है, और इसका एक भाग नय है। श्रुतज्ञान में

वस्तु अर्थात् त्रिकालीद्रव्य परोक्षरूप से जानी जाती है। यद्यपि जिसप्रकार सर्वज्ञ परमात्मा पूर्ण आत्मा को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसा श्रुतज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता; तथापि शास्त्रों में दो अपेक्षाओं से श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है :–

(१) अनुभूति में अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के वेदन की अपेक्षा से।

(२) श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञायक को जानने में राग या निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती – इस अपेक्षा प्रत्यक्ष कहा है।

शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को श्रुतज्ञान सर्वज्ञ के आगम अनुसार पूर्ण जानता है। श्रुतज्ञान पूर्णवस्तु को प्रत्यक्ष देखे – ऐसा नहीं होता। श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष जानता है। नय भी वस्तु को परोक्ष ही जानता है। श्रुतज्ञान परोक्ष है, तो नय भी परोक्ष ही है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत आत्मा बद्धस्पृष्ट आदि पाँचों भावों स रहित चैतन्यशक्तिमात्र है। यह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष ही है। आत्मा में ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान – ऐसा सामर्थ्यरूप चैतन्यस्वभाव भी परोक्ष है, तथा उसकी व्यक्तता कर्मसंयोग से मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है। वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है। आत्मवस्तु, ज्ञानशक्ति-मात्र गुण, इनकी मतिश्रुत आदि प्रगट व्यक्तता – तीनों आगये। इनमें भगवान आत्मा परोक्ष है। तथा इसप्रकार के द्रव्य का आलम्बन लेने से शक्ति में से मतिश्रुतादि पर्यायें प्रगट हुईं – यह व्यक्त है। पहले कहा था कि शुद्धनय का विषय परोक्ष है, वह तो त्रिकाली की बात है। अब इस त्रिकाली ध्येय में एकाग्र होकर जो मतिश्रुतज्ञानरूप पर्याय प्रगट हुई उसे कथंचित् – ज्ञान, ज्ञान को पर की अपेक्षा बिना सीधा जानता है – इस अपेक्षा से प्रत्यक्ष रूप भी कहा जाता है। तथा सम्पूर्ण केवलज्ञान जो कि छद्मस्थ को प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानस्वरूप को परोक्ष बताता है। यद्यपि केवलज्ञान पर्याय प्रगट नहीं है; तथापि यह शुद्धनय बताता है कि यह जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है, वह बढ़कर केवल-ज्ञानरूप होगा। धवल में यह पाठ है कि – मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। परोक्षज्ञान में यह प्रतीति में आ गया है कि यह मतिज्ञान-श्रुतज्ञानादि पर्याय बढ़कर केवलज्ञान होंगे ही। जयधवल में भी कहा है कि – केवलज्ञान अवयवी है और मति-श्रुत इसके अवयव हैं। अवयव से अवयवी जानने में आते हैं। खम्भे का एक हिस्सा देखने पर जैसे सम्पूर्ण स्तम्भ का निर्णय हो जाता है; उसीप्रकार आत्मा में मति-श्रुत अवयव प्रगट होने पर

केवलज्ञानरूप अवयवी की प्रतीति हो जाती है। छद्मस्थ को केवलज्ञान नहीं है। किन्तु शुद्धनय परोक्षरूप से ऐसा बताता है कि यह वर्तमान वर्तता ज्ञान पूर्ण होगा – वह केवलज्ञान है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है – श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान है, विचारदशा से और इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है, इच्छा – भावना इसकी (केवलज्ञान की) ही है – इस अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ है, ऐसा कहा। उपरोक्त न्याय से वह परोक्ष है – यह सर्वज्ञ का (स्याद्वाद का) मार्ग है।

मति-श्रुतज्ञान सर्वज्ञपद की प्राप्ति के उपाय हैं। मति-श्रुतज्ञान साधक हैं और केवलज्ञान साध्य है। अष्टपाहुड़ में चारित्रप्राभृत की चौथी गाथा में तो मोक्षमार्ग की ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय को 'अक्षय अमेय' कहा है। समयसार में मति-श्रुतज्ञान को 'उपाय' तथा केवलज्ञान को 'उपेय' कहा है। उपाय के ज्ञान में उपेय की प्रतीति आ जाती है। नवतत्त्व की अभेद प्रतीति में मोक्ष की प्रतीति आ जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – इन सब को एकवचन में लिया है। जैसा शक्ति में ज्ञान पूर्ण है, ऐसी ही यह मति-श्रुतपर्याय पूर्ण हो जायगी – ऐसी परोक्ष प्रतीति श्रुतज्ञान में आती है।

अब कहते हैं – जबतक इस शुद्धनय को जीव जानता नहीं है, तबतक आत्मा के पूर्णस्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता। शुद्धनय का विषय अखंड, एक पूर्ण श्रद्धा-ज्ञानस्वरूप आत्मा है। इस आत्मा में झुककर पर्याय जबतक उसे नहीं जानती, तबतक उसका श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता। इससे श्रीगुरु ने इस शुद्धनय को प्रगट करके उपदेश दिया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित पूर्णज्ञानघन आत्मा को जानकर श्रद्धान करना। संत प्रसिद्ध करके कहते हैं कि पूर्णज्ञानघनस्वरूप आत्मा की दृष्टि-श्रद्धा करो। यह शुद्धनय अखण्ड एक, त्रिकाली, ध्रुव, परमस्वभाव ज्ञायकभाव को दिखाता है – इसकी अन्तर्मुख होकर श्रद्धा करो।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करता है कि ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई देता नहीं है और बिना देखे श्रद्धान करना तो झूठा श्रद्धान है?

उससे कहते हैं कि देखे हुए का ही श्रद्धान करना, यह तो नास्तिकमत है। जिनमत में तो सर्वज्ञ के शास्त्र में प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं। उनमें आगमप्रमाण परोक्ष है। उसका भेद शुद्धनय है। प्रमाण से अनुमानज्ञान में परिपूर्ण ध्रुव आत्मा को जानकर शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना श्रुतज्ञान परोक्ष है, क्योंकि इसमें आत्मा के

असंख्यात प्रदेश और अनंतगुण प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं होते। इसप्रकार ज्ञान की पर्याय में अखण्ड, अभेद, पूर्ण आत्मा जो ज्ञेय है, उसका ज्ञान करके श्रद्धान करना। मात्र व्यवहारप्रत्यक्ष का ही एकान्त नहीं करना। हमें प्रत्यक्ष दीखेगा तभी मानेंगे—ऐसा एकान्त नहीं करना।

यहाँ, इस शुद्धनय को मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ।। ११ ।।

श्लोकार्थ :– [जगत् तम् एव सम्यक्स्वभावम् अनुभवतु] जगत के प्राणियो ! इस सम्यक्स्वभाव का अनुभव करो कि **[यत्र]** जहाँ **[अमी बद्धस्पृष्टभावादयः]** यह बद्धस्पृष्टादिभाव **[एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः अपि]** स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तरते हैं, तथापि वे **[प्रतिष्ठाम् न हि विदधति]** (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है और यह भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करतीं, ऊपर ही रहती हैं। **[समन्तात् द्योतमानं]** यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। **[अपगतमोहीभूय]** ऐसे शुद्ध स्वभाव का, मोहरहित होकर जगत अनुभव करे; क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

भावार्थ :– यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनय के विषयरूप आत्मा का अनुभव करो।

कलश ११ पर प्रवचन

आचार्य अमृतचन्द्र जगत के जीवों को लक्ष्य करके कहते हैं :– जगत के प्राणियो ! इस सम्यक्-स्वभाव का अनुभव करो। 'सम्यक्' – इस एक शब्द में बारह अंग का सार रख दिया है। एक स्थान पर स्तुतिकार भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं :–

प्रभु तुम जानग रीति सहु, जग देखता हो लाल।
निज सत्ताए शुद्ध, सहुने पेखता हो लाल ।।

नाथ ! आप सम्पूर्ण जगत को निज सत्ता से – स्वयं के अस्तित्त्व से शुद्ध देख रहे हो। प्रत्येक आत्मा शुद्ध परिपूर्ण भगवानमयी है, ऐसा आप ज्ञान में देख रहे हो।

अहा हा……! भाई ! भगवान ने देखा है कि तू अन्दर परिपूर्ण शुद्ध है, तुझे अपूर्ण और विपरीत मानना – यह तेरा अपमान है। जैसे किसी अरबपति को निर्धन कहना उसका अपमान है; उसीप्रकार भगवान पूर्णानन्द के नाथ निज आत्मा को दुःखी-दरिद्री मानना उसका अपमान है। यहाँ कहते हैं कि अन्दर त्रिकाल ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी अखण्ड एकस्वभाव आत्मा है, उसका अनुभव करो। सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद आता है, इसे अनुभव कहते हैं। आनन्द का वेदन यह अनुभव की मोहर, छाप, मुद्रा (ट्रेडमार्क) है। समयसार गाथा ५ की टीका में कहा है कि जैसे पहाड़ से पानी झरता है; उसीप्रकार दृष्टि जाते ही आनन्दकन्द आत्मारूपी पर्वत से मुझे निरन्तर आनन्द झरता है। ऐसा आनन्द झरते हुए प्रचुर स्वसंवेदन से मेरे निजवैभव का जन्म हुआ है। अनुभव आनन्द के सहित ही होता है।

भगवान आत्मा ज्ञान, आनन्द जैसे अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। आचार्य कहते हैं कि ऐसे आत्मा का साक्षात्कार करो, इससे अतीन्द्रिय आनन्द होगा। आत्मा को छोड़कर बाहर में – स्त्री, पुत्र या इज्जत में कहीं भी सुख नहीं है। ये सब तो दुःख के बाह्य निमित्त हैं। पं० बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में कहा है –

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोक्षस्वरूप ॥

आनन्द के नाथ चैतन्यप्रभु आत्मा के सन्मुख होने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, वह चिन्तामणि रत्न है, वह आनन्द-रस का कुआ है, मोक्ष का उपाय और पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपमोक्ष है। अहा हा……! अनुभव मोक्षस्वरूप है। द्रव्य तो त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है। इसका अंश जो पर्याय में द्रव्य के आलम्बन से प्रगट होता है, वह भी मुक्तस्वरूप है। तथा पर्याय में जो द्रव्य की दृष्टि होती है, उस दृष्टि में भी द्रव्य मुक्तस्वरूप ही भासता है।

अब कहते हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम इस सम्यक्-स्वभाव का अनुभव करो, जिस स्वभाव में यह बद्धस्पृष्टादिभाव स्पष्टरूप से ऊपर तैरते हैं। यह बद्धस्पृष्टादि पाँचों भाव स्पष्टरूप से त्रिकाल ध्रुव पूर्ण

ज्ञायकभाव के ऊपर-ऊपर तैरते हैं, अन्दर प्रवेश नहीं पाते। कर्म के संबंधरूप बंधभाव, पृथक्-पृथक् गतिरूपभाव, ज्ञान की हीनाधिक दशा या रागादिभाव – ये पर्यायभाव ज्ञायकभाव के ऊपर-ऊपर रहते हैं, अन्दर प्रवेश नहीं पाते। जैसे पानी में तेल डालें तो तेल ऊपर-ऊपर ही रहता है, अन्दर प्रवेश नहीं पाता, तेल की चिकनाहट अन्दर नहीं जाती; उसी-प्रकार अनादि-अनन्त सहज विज्ञानघन स्वभाव में दया-दान-पूजा-भक्ति का राग तो प्रवेश पाता ही नहीं, किन्तु इस राग को जाननेवाली ज्ञान की क्षयोपशमरूप अनियत अवस्था भी अन्दर में प्रवेश नहीं पाती, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है; तथा ये भाव अनित्य व अनेकरूप हैं। आत्मतत्त्व नित्य, ध्रुव, चिदानन्दघनस्वभावी चैतन्यदल है। इसमें ग्यारह अंग का क्षयोपशम हो या अनुभव की पर्याय हो, यह सब ऊपर-ऊपर रहती है, अन्दर प्रवेश नहीं पाती। भाई! इस द्रव्यस्वभाव में पर्याय की हीनाधिकता प्रवेश नहीं पाती तो स्त्री, पुत्रादि प्रवेश कैसे पा सकते हैं? दृष्टि में ऐसे स्वभाव की महिमा आनी चाहिए। अपनी महिमा आये बिना पर्याय में राग की महिमा आती है, वह अपने जीवन का घात करती है, यही मिथ्यात्व है।

प्रश्न :– राग की पर्याय व्यय होकर अन्दर ध्रुव में मिल जाती है न?

समाधान :– नहीं, बिलकुल नहीं मिलती। राग का नाश होता है तब वह अन्दर पारिणामिकभावरूप हो जाती है। आत्मा में जो वर्त्तमान राग होता है वह दूसरे समय में नाश हो जाता है। वह योग्यतारूप से पारिणामिकभावरूप हो जाता है; किन्तु वह अशुद्धतारूप से द्रव्य में मिल कर नहीं रहता, पर्याय की अशुद्धता द्रव्य में जाती ही नहीं है। इसी-प्रकार क्षयोपशमभाव हो या क्षायिकभाव की पर्याय हो, उसकी स्थिति भी एकसमय की है, दूसरे समय में उसका व्यय होने पर वह पारिणामिकभाव-रूप हो जाती है।

यह द्रव्यस्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। औदयिकभाव हो, उपशमभाव हो, क्षयोपशमभाव हो, या क्षायिकभाव हो, इन सभी पर्यायों में सामान्य ध्रुवस्वभाव, ज्ञायकभाव, कायम, त्रिकाल प्रकाशमान है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अपनी प्रत्येक पर्याय में ध्रुव-ध्रुव-ध्रुवपने प्रकाशमान रहता है। ऐसे शुद्ध स्वभाव का मोहरहित होकर जगत अनुभव करो। हे जगत के जीवो! मिथ्यात्वरूपी मोह को छोड़कर एक ज्ञायकस्वभाव का अनुभव करो। बारह अंग का यही सार है।

भगवान ! तेरे पास सम्पूर्ण आत्मा पड़ा है न ? पास भी कहाँ, तू ही आत्मा है न ? पर्याय के पास कहने में आता है, पर पर्याय तू नहीं है। पर्यायबुद्धि, अंशबुद्धि, व्यवहारबुद्धि – ये तो अज्ञान हैं। प्रवचनसार गाथा ९३ में 'पज्जयमूढ़ा हि परसमया' ऐसा कहा है। जो एकसमय की पर्याय में मूढ़ है, वह मिथ्यादृष्टि है। परिपूर्ण आत्मस्वरूप का आदर छोड़कर एकसमय की पर्याय में – दया, दान, व्रत आदि के विकल्पों का आदर मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्वरूप अज्ञान है तो जीव की पर्याय, किन्तु इसमें मोहकर्म का निमित्त है। पर्याय में चाहे जितनी क्षयोपशमज्ञान की प्रगटता हो या राग की मन्दता हो, किन्तु इसकी रुचि-प्रेम मिथ्यात्व ही है। आचार्य कहते हैं कि मोहकर्म के निमित्त से उत्पन्न मिथ्यात्वरूप मोह का त्याग करके, पर्याय की रुचि मेटकर, पर्याय के पीछे जो अखण्ड एक पूर्ण ध्रुव चैतन्यस्वभाव आत्मा प्रकाशमान रहता है, उसका लक्ष्य करके उसका अनुभव करो। यह सम्यग्दर्शन है।

अहा हा.......! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा की रुचि होने पर इन्द्र के इन्द्रासन का भोग सड़े कुत्ते और बिलाव जैसा अरुचिकर लगता है। किन्तु ज्ञानी को जबतक पूर्ण वीतराग पर्याय प्रगट नहीं हो तबतक शुभ-अशुभ दोनों ही राग आते हैं। गृहस्थाश्रम में स्त्री वगैरह के अनेक भोग उसके जीवन में होते हैं, परन्तु वे सब काले नाग जैसे उपसर्ग समान लगते हैं। इसमें इसे होंश (उत्साह, उमंग) नहीं है।

शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्ती थे। उनके ९६ हजार रानियाँ थीं, पर वे उनके प्रति भोग के भाव को (राग को) जहर समझते थे। समयसार (मोक्ष अधिकार) में पुण्यभाव को जहर का घड़ा कहा है। भगवान आत्मा अमृतकुंभ है। यह तो मक्खन-मक्खन की बातें हैं। कहा है न :–

गगन मंडल में गौआ वियानी, वसुधा दूध जमाया।
मक्खन था सो विरला रे पाया, जगत छाछ भरमाया॥

भाई ! यह तो समवशरण में जगतगुरु के मुख से निकली हुई सार बात है। जिनका महान भाग्य हो उनको सुनने को मिलती है, शेष लोगों को तो पुण्यभाव – शुभभाव की रुचि, पैसा स्त्री आदि का प्रेम होने से यह बात कठिन लगती है। परन्तु क्या करें ? जहाँ परमस्वभाव–ध्रुव चैतन्य-स्वभाव के आगे क्षायिकभाव भी अपरमभाव है (अप्रतिष्ठित है), तो फिर राग की तो बात ही क्या है ?

कलश ११ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ ऐसा उपदेश है कि शुद्धनय के विषयभूत पर्यायरहित त्रिकाली शुद्धात्मा का अनुभव करो। आनन्दकन्द में झूलने वाले वनवासी, नग्न-दिगम्बर मुनि और आचार्यों का यह उपदेश है, और यही भगवान का भी उपदेश है। मुनिराज तो जंगल में रहते हैं, कभी-कभी भोजन के लिए गाँव में आते हैं। इन मुनियों को कभी-कभी विकल्प उठता है तो वन में ताड़पत्रों पर शास्त्र लिखते हैं। वहीं के वहीं ताड़पत्र छोड़कर स्वयं दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। किसी गृहस्थ को ख्याल हो कि मुनिराज ने शास्त्र लिखा है, तो वह गृहस्थ उन ताड़पत्रों पर लिखे शास्त्रों को ले लेते हैं। पूरा समयसार इसी रीति से बना है। अहा हा·······! लिखने का जिन्हें अभिमान नहीं है और लिखने के विकल्प के भी जो स्वामी नहीं बनते, ऐसे मुनिराजों का यह उपदेश है कि एक शुद्ध आत्मा का अनुभव करो।

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य पुनः कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है :–

(शार्दूलविक्रीड़ित)

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ।।१२।।

श्लोकार्थ :– [**यदि**] यदि [**कः अपि सुधीः**] कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) [**भूतं भान्तम् अभूतम् एव बन्धं**] जीव भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों काल में कर्मों के बन्ध को अपने आत्मा से [**रभसात्**] तत्काल – शीघ्र [**निर्भिद्य**] भिन्न करके तथा [**मोहं**] उस कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को [**हठात्**] अपने बल से पुरुषार्थ से [**व्याहत्य**] रोककर अथवा नाश करके [**अन्तः**] अन्तरङ्ग में [**किल अहो कलयति**] अभ्यास करे – देखे तो [**अयम् आत्मा**] यह आत्मा [**आत्म-अनुभव-एक-गम्य-महिमा**] अपने अनुभव से ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा [**व्यक्तः**] व्यक्त (अनुभवगोचर), [**ध्रुवं**] निश्चल, [**शाश्वतः**] शाश्वत, [**नित्यं कर्म-कलङ्क-पङ्क-विकलः**] नित्य कर्मकलङ्क-कर्दम से रहित [**स्वयं देवः**] स्वयं ऐसा स्तुति करने देव [**आस्ते**] विराजमान है।

भावार्थ :—शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरङ्ग में स्वयं विराजमान है। यह प्राणी – पर्यायबुद्धि बहिरात्मा उसे बाहर ढूँढता है, यह महाअज्ञान है।

कलश १२ पर प्रवचन

यदि कोई सुबुद्धि अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव भूत, वर्त्तमान और भविष्य – तीनों कालों के कर्मों के वंध को या पुण्य-पाप के भावों को अपने आत्मा से तत्काल – शीघ्र भिन्न करके अर्थात् भिन्न जानकर तथा कर्मोदय के निमित्त से होने वाले मिथ्यात्व को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोक करके या नाश करके अन्तरंग में पूर्ण आनंद के नाथ निज आत्मा का अभ्यास करे, देखे, अनुभव करे, साक्षात्कार करे, तो यह आत्मा – अपने अनुभव से ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है – ऐसा व्यक्त (अनुभव गोचर), निश्चल, शाश्वत, नित्य कर्मकलंककर्दम से रहित स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।

जो भगवान हो गये या स्वर्ग के जो देव हैं उनकी यह बात नहीं है, यह तो 'आत्मा स्वयं देव है' उसकी बात है। देह-देवालय में देह से भिन्न पवित्र महाचैतन्यसत्ता अन्दर परमात्मस्वरूप विराजमान है। आत्मा में अन्दर से परमात्मस्वरूप न हो तो प्रगट कहाँ से हो। आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप देव है। परन्तु अरे! 'नजरनी आलसे रे, नयणे न नीरखा हरि' दृष्टि के प्रमाद से अन्दर पड़ा हुआ सम्पूर्ण परमात्मस्वरूप दिखाई नहीं देता, अन्दर का खजाना दीखता नहीं है। दृष्टि को पर्याय पर से हटाकर, अन्तर में डालकर अनुभव करे तो आत्मदेव के दर्शन हुये बिना नहीं रहेंगे। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को ऐसा आत्मा अनुभव में आता है। पाँचवें गुणस्थान वाले श्रावक एवं छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले मुनियों की बात तो अलौकिक है।

कलश १२ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्धनय की दृष्टि से देखें तो सर्व कर्मों से रहित अविनाशी चैतन्यमात्र देव अन्तरंग में स्वयं विराज रहा है। ज्ञानी कहते हैं – इसीसमय शुद्धनय से आत्मा को देखें तो ज्ञानस्वभावमात्र आत्म – ज्ञान, शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता जैसी अनंत शक्तियों की दिव्यता को धारण करने वाला देव – अन्तरंग में विराज रहा है। यह तीर्थंकरदेव की वात नहीं है, यह तो तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से वंधता है, वह भाव भी जिसमें नहीं है – ऐसे त्रिकाली शुद्ध आत्मदेव की वात है। तीर्थंकरगोत्र जिस

भाव से बंधे वह भाव धर्म नहीं है, बंधभाव है। जिस भाव से बंधन में पड़े, वह धर्म नहीं हो सकता, कठोर भाषा में कहें तो अधर्म है। जगत से जुदी बात है। जगत माने न माने, तीनों काल में परमार्थ का मार्ग तो एक ही है। चैतन्य का पुंज, चिदानन्दघन, अनंतशक्ति का सागर आत्मा स्तुति करने योग्य स्वयं देव है। वर्त्तमान अवस्था की जिसे दृष्टि है – ऐसा अज्ञानी पर्यायबुद्धि बहिरात्मा जीव इसे बाहर ढूँढ़ता है; यह बड़ा भारी अज्ञान है।

पण्डित बनारसीदासजी गृहस्थ थे, महाज्ञानी थे, वस्तुस्थिति के जानकार थे। उन्होंने समयसार नाटक के 'बंधद्वार' में इस प्रसंग में सुन्दर बात लिखी है :—

केई उदास रहैं प्रभु कारन,
केई कहैं उठि जांहि कहींकै।
केई प्रनाम करें गढ़ि मूरति,
केई पहार चढ़ै चढ़ि छींकै॥
केई कहैं असमानके ऊपरि,
केई कहैं प्रभु हेठि जमींकै।
मेरो धनी नंहि दूर दिसन्तर,
मोही में है मोहि सूझत नीकै॥ ४८॥

आत्मा को जानने के लिए अर्थात् ईश्वर की खोज करने के लिए कोई तो त्यागी बन गये हैं, कोई दूसरे क्षेत्र में यात्रा आदि के लिए जाते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमस्कार-पूजन करते हैं, कोई डोली में बैठकर पर्वतों पर चढ़ते हैं, कोई कहता है कि ईश्वर आकाश में है, तथा कोई कहता है कि पाताल में है। परन्तु पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि मेरा प्रभु मुझसे दूर नहीं है, मुझमें ही है; तथा मुझे भलीप्रकार दिखाई देता है, अनुभव में आता है।

चैतन्य-चमत्कार अविनाशी आत्मदेव अन्तरंग में विराजमान है, इसे अज्ञानी शत्रुंजय, गिरनार और सम्मेदशिखर में मिल जायगा – ऐसा समझकर बाहर में ढूँढ़ता है। प्रतिमा की पूजन आदि से मिल जायगा – ऐसा मानकर पूजा आदि करता है। किन्तु यह तो बाहर के (पर) भगवान हैं। यह क्या तेरा भगवान है? तेरा भगवान तो सच्चिदानन्दप्रभु अन्तरंग में विराजता है, वहाँ देखो। बाहर के भगवान के ऊपर लक्ष्य करना तो शुभराग है। अशुभ की निवृत्ति के लिए वह आता है, किन्तु वह कोई धर्म नहीं है। भाई! मार्ग तो ऐसा है।

अब, शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है, इसप्रकार आगे की गाथा की सूचना के अर्थरूप काव्य कहते हैं :—

(वसन्ततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ।। १३ ।।

श्लोकार्थ :– [**इति**] इसप्रकार [**या शुद्धनयात्मिका आत्म-अनुभूतिः**] जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है [**इयम् एव किल ज्ञान-अनुभूतिः**] वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, [**इति बुद्ध्वा**] यह जानकर तथा [**आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य**] आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके, [**नित्यम् समन्तात् एकःअवबोधःघन अस्ति**] 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है', इसप्रकार देखना चाहिए ।

भावार्थ :– पहले सम्यग्दर्शन को प्रधान करके कहा था; अब ज्ञान को मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है ।

कलश १३ पर प्रवचन

इसप्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वही वस्तुतः ज्ञान की अनुभूति है। देखो ! 'शुद्धनयस्वरूप आत्मा'–ऐसा कहकर नय और नय के विषय को अभेद करके बात की है । शुद्धनय के विषयभूत आत्मा, ऐसे भेद से नहीं कहा । अहा हा.......! त्रिकाल शुद्ध चैतन्यघन अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु आत्मा, यही शुद्धनय है । ऐसे शुद्ध-नयस्वरूप आत्मा का अनुभव ही, ज्ञान का अनुभव है । आत्मा का अनुभव या ज्ञान का अनुभव, यह दो जुदी वस्तुएं नहीं हैं । सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के ज्ञान का अनुभव ही आत्मद्रव्य का अनुभव है और आत्मद्रव्य का अनुभव ही ज्ञान का अनुभव है । गाथा १४ में सम्यग्दर्शन की प्रधानता से कथन किया है । गाथा १५ में सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से कथन है । आत्मा का–गुणी का अनुभव, ज्ञान का अनुभव, सम्यग्दर्शन और जैनशासन–सब एक ही हैं । ऐसा जान कर आत्म को आत्मा में–अपने स्वरूप में निश्चल स्थापित करके सदा सर्वतरफ एक ज्ञानघन आत्मा है–ऐसा देखना, अनुभवना, इसका नाम जैनधर्म और मोक्षमार्ग है ।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
*अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्, ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः । किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते । तथा हि—

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं :—

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्मको ।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो ॥१५॥

गाथार्थ :—[यः] जो पुरुष [आत्मानम्] आत्मा को [अबद्धस्पृष्टम्] अबद्धस्पृष्ट, [अनन्यम्] अनन्य, [अविशेषम्] अविशेष [तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त] [पश्यति] देखता है वह [सर्वम् जिनशासनं] सर्व जिनशासन को [पश्यति] देखता है, – जो जिनशासन [*[1]अपदेशसांतमध्यं] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है ।

टीका :—जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वह निश्चय से समस्त जिन-शासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है । इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है । परन्तु अब वहाँ, सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव (आच्छा-दन) से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है; तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं उन्हें वह स्वाद में नहीं आता । यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं । जैसे – अनेक प्रकार के शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो (सामान्य के

---

* पाठान्तर : अपदेससुत्तमज्झं । १ अपदेश = द्रव्यश्रुत; सान्त = ज्ञानरूपी भावश्रुत ।

यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्य-

---

तिरोभावरूप और शाकादि के स्वादभेद से भेदरूप – विशेषरूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी, शाक-लोलुप मनुष्यों को आता है, किन्तु अन्य की सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थ से देखा जाये तो, विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है। इसप्रकार – अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध जीवों के स्वाद में आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता, और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान-विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है वही ज्ञान-सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वत: एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है; उसीप्रकार आत्मा भी, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वत: एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

भावार्थ :–यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही – इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही – लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं, परन्तु ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं – ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं, जैसे – शाकों से भिन्न नमक की डली

विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योन्यद्रव्य-संयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतो-प्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते।

का क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इसप्रकार गुण-गुणी की अभेददृष्टि में आनेवाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव ज्ञान का अनुभव है; और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।

गाथा १५ पर प्रवचन

यह गाथा समस्त जिनशासन के रहस्य की गाथा है। सर्वज्ञ परमेश्वर का जो मार्ग है, यही जैनशासन का मोक्षमार्ग है।

जो पुरुष शुद्ध आनन्दघन चैतन्यस्वरूप आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अर्थात् कर्म के साथ बंध व स्पर्शरहित, अनन्य अर्थात् मनुष्य, नरक आदि अन्य-अन्य गति से रहित, अविशेष अर्थात् ज्ञान, दर्शन, गुणभेदरहित सामान्य एकरूप तथा उपलक्षण से नियत अर्थात् वृद्धि-हानिरूप अवस्था से रहित तथा असंयुक्त अर्थात् पुण्य व पाप सुख-दुःख कल्पनाओं से रहित देखता है अर्थात् अन्तर में अनुभव करता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है। समस्त जिनशासन के रहस्य को उस आत्मा ने जान लिया है। भगवान आत्मा नित्य मुक्तस्वरूप शुभाशुभ भावरहित त्रिकालशुद्ध चैतन्यवस्तु है। ऐसे आत्मा का अभ्यन्तरज्ञान से (भावश्रुतज्ञान से) अनुभव करना शुद्धोपयोग है। यह वीतरागी पर्याय है और यही जैनधर्म है। वीतरागी दशा जैनशासन है, और यह जैनधर्म का रहस्य है।

आत्मा जो त्रिकाली वस्तु है वह जिनस्वरूप ही है। जिनवर में और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। कहा है :—

जिन सो ही है आतमा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझ ले, जिन-प्रवचन का मर्म॥

प्रत्येक आत्मा का द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल ऐसा ही एकरूप है। जो भी आजतक भगवान हुआ वह ऐसे आत्मा का पूर्ण आश्रय कर

पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट करके हुआ है। शुद्धोपयोग द्वारा जिनस्वरूप भगवान आत्मा में रमणता करना, जानना, अनुभवना – इसे भगवान जैनशासन कहते हैं। यह जैनशासन पर्याय में है, द्रव्य में नहीं। यह पूर्ण जिनस्वरूप आत्मा को ग्रहण करनेवाला शुद्धोपयोग ही जैनशासन है, परमेश्वर का मार्ग है। जिसने ऐसे आत्मा को नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना। पर्यायदृष्टि में आत्मा को बद्धस्पृष्ट, अन्य-अन्य अवस्थारूप, अनियत – भेदरूप और रागरूप देखते हैं, यह जैनशासन नहीं है। ये सेठ लोग करोड़ों का दान करें, कोई भक्ति-पूजा करे, दया, व्रत पालें, ये कोई जैनशासन नहीं है। वीतराग की वाणी स्याद्वादरूप है। इसलिए कहीं किसी स्थान पर राग को भी धर्म कहा है, किन्तु ऐसा नहीं है। (वीतरागता से भी धर्म व राग से भी धर्म – ऐसा स्याद्वाद का स्वरूप नहीं है।)

धर्मधुरधंर, धर्म के स्तम्भ, जिन्हें मंगलाचरण में तीसरे स्थान पर स्मरण किया जाता है, उन आचार्य कुन्दकुन्द ने आगम में जैसा कहा है उसे पूर्वाग्रह छोड़कर एकबार सुन तो सही ! अन्तर में एकरूप परमात्मतत्त्व की प्रतीति व रमणता करना, यही शुद्धोपयोग है, यही जैनशासन है। यह जैनशासन 'अपदेशसान्तमध्यं' अर्थात् बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है। जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि – बाह्य द्रव्यश्रुत में ऐसा ही कहा है कि – अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करना ही जैन-शासन है। बारह अंगरूप वीतरागवाणी का यही सार है कि शुद्धात्मा का अनुभव कर। द्रव्यश्रुत वाचक है, अन्दर भावश्रुतज्ञान उसका वाच्य है। द्रव्यश्रुत अबद्धस्पृष्ट आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है और भावश्रुत अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करता है।

पण्डित श्री राजमलजी ने कलश १३ में इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। शिष्य ने पूछा :– इस प्रसंग में दूसरी यह भी शंका होती है कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है।

उसका समाधान :– द्वादशांगज्ञान विकल्प है। उसमें भी ऐसा ही कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, वीतरागी शुद्धात्मा का अनुसरण करने पर जो अनुभव होता है, वह अनुभूति मोक्षमार्ग है। ऐसी वस्तु को जानने के बाद विकल्प आवें तो शास्त्र बांचे, किन्तु ऐसे जीवों को शास्त्र पढ़ने की कोई अटक नहीं है अर्थात् शास्त्र पढ़े बिना चले नहीं – ऐसा नहीं है।

ऐसा मार्ग है भाई ! अरे ! (स्थानकवासी) सम्प्रदाय में लोगों ने भगवान के मार्ग को नष्ट कर दिया है। अरे ! भगवान का विरह पड़ा

और लोग बड़े झगड़े में पड़ गये हैं। कोई कहे कि शुभराग से धर्म होता है, तथा कोई कहे कि शुभभाव करते-करते धर्म होगा। भारी विपरीतता पड़ी है, किन्तु इससे क्या हो ? सर्वज्ञता तो प्रगट हुई नहीं है, और सर्वज्ञ-स्वभाव का अनुभव नहीं है। यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञस्वभाव का अनुभवरूप शुद्धोपयोग जैनशासन है, जैनधर्म है। जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है, यह तो वस्तु का स्वरूप है।

प्रवचनसार में ४७ नयों में शुद्धनय और अशुद्धनय की बात आती है; उसमें माटी के बर्त्तन-घटादि से देखें तो अशुद्धनय है तथा अकेली माटी-माटी-माटी सामान्य से देखें तो शुद्धनय है। उसीप्रकार भगवान आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय से देखें तो अशुद्धनय है और त्रिकाली एकरूप चैतन्य सामान्यपने देखें तो शुद्धनय है। ऐसे शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य-सामान्य त्रिकालीद्रव्य का अनुभव करने को ही यहाँ जैनदर्शन कहा है।

गाथा १५ की टीका पर प्रवचन

यह अबद्धस्पृष्टादि पाँच भावरूप आत्मा की अनुभूति है, वही वास्तव में समस्त जिनशासन की अनुभूति है। अर्थात् जो पाँचभावरूप आत्मा को शुद्धोपयोग द्वारा देखते हैं, वे वास्तव में समस्त जिनशासन का अनुभव करते हैं। यही जैनमार्ग है, मोक्षमार्ग है। व्यवहार या राग जैन-शासन नहीं है। जबतक पूर्ण वीतरागता न हो तबतक साधक को राग आता अवश्य है, परन्तु वह जैनधर्म नहीं है। जैनशासन तो शुद्धोपयोगमय वीतराग-परिणति है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय-परिणति शुद्धोपयोगमय वीतराग-परिणति है, यह जैनधर्म है जैनशासन है। श्री जयसेनाचार्य की टीका में आया है कि आत्मपदार्थ का वेदन, अनुभव, परिणति जैनशासन – जैनमत है।

अब कहते हैं कि यह जैनशासन अर्थात् अनुभूति क्या है ? श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धोपयोग से जो आत्मा का अनुभव हुआ वह आत्मा ही है, क्योंकि रागादि आत्मा नहीं, अनात्मा हैं। धर्मी को को भी अनुभूति के पश्चात् जो राग आता है, वह अनात्मा है। द्रव्यश्रुत में यही कहा है और यही अनुभव में आया। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है, क्योंकि भावश्रुत में जो त्रिकाली वस्तु ज्ञात हुई वह वीतरागस्वरूप है; और इसकी अनुभूति प्रगट हुई यह भी वीतराग-परिणति है। भगवान आत्मा त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है, इसका पर्याय में अनुभव हुआ, यह भावश्रुतज्ञान है, शुद्धोपयोग है, आत्मा की ही जाति होने से आत्मा ही है। अनुभूति में पूरा आत्मा का नमूना आया, इसलिए

f
प
न
अ
लं
जै
वि
से

स्म
पूव
प्रत
जैन
भाव
में ए
शास
अनु
द्रव्य
अबद्ध

स्पर्ष्ट
होती

कहा है
करने
जानने
पढ़ने व
नहीं है

भगवान

प्रति हुए राग का वेदन – अनुभव करता है। पैसा या इज्जत में पैसा या इज्जत का अनुभव नहीं आता। चरपरी मिर्च मुँह में डालने पर चरपराहट का स्वाद नहीं आता है, परन्तु चरपराहट के जानने पर – यह ठीक है – ऐसी मान्यतापूर्वक जो राग उत्पन्न होता है, उस राग का अज्ञानी स्वाद लेता है। इसीप्रकार शरीर में बुखार आता है, इस बुखार का अनुभव आत्मा को नहीं होता; मात्र 'यह ठीक नहीं है' – ऐसी अरुचि होने पर दुःख का अनुभव होता है। वस्तु के प्रति राग में आसक्त अज्ञानी जीव को राग का स्वाद आता है, और वह आकुलतामय है, अधर्म है।

आत्मा का स्वाद तो अनाकुल आनन्दमय है। बनारसीदासजी ने लिखा है :–

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम ।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ ताकौ नाम ।।

जो ज्ञायकस्वरूप वस्तु को ज्ञान में लेकर अन्तर में ध्यान करता है, उसके मन के विकल्प – राग विश्राम को प्राप्त हो जाते हैं, हट जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, मन शान्त हो जाता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद आता है। परिणाम अन्तर्निमग्न होने पर अनाकुल सुख का स्वाद आता है, उसे अनुभव अर्थात् जैनशासन कहते हैं।

जो ज्ञेयों में आसक्त हैं, वे इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हैं। जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होते हैं, वे इन्द्रियों के विषय हैं। देव, गुरु, शास्त्र, साक्षात् भगवान और भगवान की वाणी भी इन्द्रियों के विषय हैं।

समयसार गाथा ३१ में आया है :—

'जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं'।

पाँच द्रव्येन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ – इन तीनों को इन्द्रियाँ कहा जाता है। इन तीनों को जीतकर अर्थात् इनकी ओर के झुकाव – रुचि को छोड़कर इनसे अधिक अर्थात् भिन्न अपने ज्ञान-स्वभाव को – अतीन्द्रिय भगवान को अनुभवना, यही जैनशासन है। अपने स्वज्ञेय में लीनतारूप यह अनुभूति – शुद्धोपयोगरूप परिणति ही जैनशासन है। इससे विरुद्ध अज्ञानी को परिपूर्ण स्वज्ञेय की अरुचि है तथा इन्द्रियादि के खंड-खंड ज्ञेयाकारज्ञान की रुचि व प्रीति है। वे अज्ञानी परज्ञेयों में आसक्त हैं – इससे उन्हें ज्ञान का स्वाद नहीं आने से राग का – आकुलता का स्वाद आता है। राग का स्वाद, राग का वेदन अनुभव में आना – यह

वह आत्मा ही है। इससे द्रव्य की अनुभूति कहो, या ज्ञान की अनुभूति कहो – एक ही चीज है। 'ही' शब्द लिया है। यह सम्यक्-एकान्त है।

अहा हा..........! भगवान की वाणी ! 'चैतन्य-चमत्कार जागृत हो' ऐसी चमत्कारिक है। सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेषज्ञान के तिरोभाव से जब ज्ञानमात्र का अनुभव हो तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है। देखो ! राग-मिश्रित ज्ञेयाकारज्ञान जो पूर्व में था, उसकी रुचि छोड़कर और ज्ञायक की रुचि का परिणमन करके सामान्यज्ञान का पर्याय में अनुभव करने को सामान्यज्ञान का आविर्भाव व विशेषज्ञान का तिरोभाव कहते हैं। यह पर्याय की बात है। ज्ञान की पर्याय में अकेला ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान का वेदन होने और शुभाशुभ ज्ञेयाकार ज्ञान के ढक जाने को सामान्य-ज्ञान का आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकारज्ञान का तिरोभाव कहते हैं। और इसतरह ज्ञानमात्र का अनुभव करते हुये ज्ञान आनन्दसहित पर्याय में अनुभव में आता है। यहाँ 'सामान्यज्ञान का आविर्भाव' अर्थात् त्रिकाली-भाव का आविर्भाव – यह बात नहीं है। सामान्यज्ञान अर्थात् शुभाशुभ ज्ञेयाकाररहित अकेला ज्ञान का पर्याय में प्रगटपना। अकेला ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का अनुभव – यह सामान्यज्ञान का आविर्भाव है। ज्ञेयाकाररहित अकेला प्रगटज्ञान सामान्यज्ञान है। इसका विषय त्रिकाली है।

भाई ! यह तो अध्यात्म-कथनी है। एक-एक शब्द में गंभीरता भरी है। एक तो यह समयसार ग्रंथ और उसमें भी १५वीं गाथा। कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी समझने के लिए भी खूब पात्रता चाहिए।

जो अज्ञानी हैं – ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें यह आत्मा स्वाद में नहीं आता। चैतन्यस्वरूप निजपरमात्मा की जिन्हें रुचि नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीवों को या जो परज्ञेयों में आसक्त हैं, व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि व्यवहाररत्नत्रय के परिणामों में आसक्त हैं, शुभाशुभ विकल्पों के जानने में रुक गये हैं; ऐसे ज्ञेयलुब्ध जीवों को आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का स्वाद नहीं आता।

आत्मा का स्वाद कैसा होगा ? दाल, भात, लड्डू, मौसंबी वगैरह का स्वाद तो होता है, ये तो सब जड़ वस्तुयें हैं। जड़ का स्वाद तो अज्ञानी को भी नहीं आता, क्योंकि अपने द्रव्य, गुण, पर्याय की सत्ता को छोड़कर पदार्थ क्या दूसरे की सत्ता में मिल सकते हैं ? जड़ तो भिन्न वस्तु है। परवस्तु के प्रति जो राग है, अज्ञानी को उसका स्वाद आता है, वस्तु का नहीं। स्त्री-सेवन में वह स्त्री के शरीर को नहीं भोगता, किन्तु उसके

प्रति हुए राग का वेदन – अनुभव करता है। पैसा या इज्जत में पैसा या इज्जत का अनुभव नहीं आता। चरपरी मिर्च मुँह में डालने पर चरपराहट का स्वाद नहीं आता है, परन्तु चरपराहट के जानने पर – यह ठीक है – ऐसी मान्यतापूर्वक जो राग उत्पन्न होता है, उस राग का अज्ञानी स्वाद लेता है। इसीप्रकार शरीर में बुखार आता है, इस बुखार का अनुभव आत्मा को नहीं होता; मात्र 'यह ठीक नहीं है' – ऐसी अरुचि होने पर दुःख का अनुभव होता है। वस्तु के प्रति राग में आसक्त अज्ञानी जीव को राग का स्वाद आता है, और वह आकुलतामय है, अधर्म है।

आत्मा का स्वाद तो अनाकुल आनन्दमय है। बनारसीदासजी ने लिखा है: –

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ ताकौ नाम॥

जो ज्ञायकस्वरूप वस्तु को ज्ञान में लेकर अन्तर में ध्यान करता है, उसके मन के विकल्प – राग विश्राम को प्राप्त हो जाते हैं, हट जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, मन शान्त हो जाता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद आता है। परिणाम अन्तर्निमग्न होने पर अनाकुल सुख का स्वाद आता है, उसे अनुभव अर्थात् जैनशासन कहते हैं।

जो ज्ञेयों में आसक्त हैं, वे इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हैं। जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होते हैं, वे इन्द्रियों के विषय हैं। देव, गुरु, शास्त्र, साक्षात् भगवान और भगवान की वाणी भी इन्द्रियों के विषय हैं।

समयसार गाथा ३१ में आया है :—

'जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं'।

पाँच द्रव्येन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ – इन तीनों को इन्द्रियाँ कहा जाता है। इन तीनों को जीतकर अर्थात् इनकी ओर के झुकाव – रुचि को छोड़कर इनसे अधिक अर्थात् भिन्न अपने ज्ञान-स्वभाव को – अतीन्द्रिय भगवान को अनुभवना, यही जैनशासन है। अपने स्वज्ञेय में लीनतारूप यह अनुभूति – शुद्धोपयोगरूप परिणति ही जैनशासन है। इससे विरुद्ध अज्ञानी को परिपूर्ण स्वज्ञेय की अरुचि है तथा इन्द्रियादि के खंड-खंड ज्ञेयाकारज्ञान की रुचि व प्रीति है। वे अज्ञानी परज्ञेयों में आसक्त हैं – इससे उन्हें ज्ञान का स्वाद नहीं आने से राग का – आकुलता का स्वाद आता है। राग का स्वाद, राग का वेदन अनुभव में आना – यह

जैनशासन से विरुद्ध है, इससे अधर्म है। शुभक्रिया करना और यह करते-करते धर्म हो जायेगा – ऐसी मान्यता मिथ्याभाव है। तथा शुभाशुभ-राग से भिन्न आनन्द के कन्द भगवान आत्मा को ज्ञेय बनाकर ज्ञायक के ज्ञान का वेदन करना – यह जिनशासन है धर्म है।

यह बात दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे – अनेक तरह के शाक आदि भोजनों के संबन्ध से उत्पन्न सामान्यनमक के तिरोभाव और विशेषनमक के आविर्भाव का स्वाद अज्ञानी शाक के लोभी मनुष्यों को आता है, किन्तु अन्य के संबंध रहितपने से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आता हुआ एकाकार अभेदरूप नमक का स्वाद अज्ञानी को नहीं आता। लौकी, तोरई, करेला आदि शाक में तथा खिचड़ी, रोटी आदि पदार्थों में नमक डाला जाता है तो उन पदार्थों के संबंध से नमक का स्वाद लेने पर सामान्यनमक का स्वाद ढक जाता है; और शाक खारा है, ऐसी अनुभूति होती है। वास्तव में तो खारा नमक है, शाक नहीं है। तथा शाक आदि द्वारा भेदरूप नमक का स्वाद आना (जैसे कि शाक खारा है) यह विशेष का आविर्भाव है। शाक के लोलुपी मनुष्यों को नमक द्वारा नमक का स्वाद – एकाकार अभेदरूप नमक का स्वाद (नमक खारा है – ऐसा) नहीं आता।

परमार्थ से देखा जाय तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता हुआ नमक ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता हुआ नमक है। परमार्थ से देखें तो शाक के लोलुपी जीवों को विशेष का आविर्भाव अर्थात् शाक द्वारा जो नमक का स्वाद आता है वह वस्तुतः तो सामान्य-नमक का ही विशेष है, इसी का ही भाव है, शाक का खारापना (विशेष) नहीं है, और यह विशेषपना शाक द्वारा आया है – ऐसा भी नहीं है, सामान्यनमक का ही स्वाद है। अज्ञानी को शाक के संयोग से नमक का ख्याल आता है – यह विपरीत है; क्योंकि उसे नमक के स्वभाव का ख्याल नहीं है। यह तो दृष्टान्त हुआ।

अब सिद्धान्त कहते हैं। इसी प्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता हुआ जो (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान है, वह अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध जीवों को स्वाद आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकार के संयोगरहितपने से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आता हुआ एकाकार

अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता। स्त्री, लड़का, लड़की, भगवान, भगवान की वाणी, पुण्य-पाप, राग इत्यादि अनेक प्रकार के ज्ञेय हैं। इन ज्ञेयों के आकार के साथ मिश्ररूपपने से उत्पन्न सामान्य का तिरोभाव अर्थात् अकेले ज्ञान का अनुभव ढक जाना तथा विशेष का आविर्भाव अर्थात् ज्ञेयता के सम्बन्ध से ज्ञान का प्रकट होना—इससे रागादि द्वारा जो ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव होता है वह अज्ञान है; उसमें आत्मा का स्वाद नहीं आता। राग द्वारा ज्ञान का ज्ञेयाकार विशेष वास्तव में तो सामान्य ज्ञान की अवस्था है, परन्तु भ्रम से ऐसा मानता है कि राग की अवस्था के कारण ज्ञान हुआ। यह मान्यता मिथ्यात्व है और दुःख का वेदन है। पुण्य और पाप के विकल्प जो ज्ञेय हैं, उन पर जिसकी दृष्टि है, उनमें जिनको आसक्ति है, यह जो ज्ञेयों द्वारा ज्ञान का स्वाद आता है, वह दुःख का स्वाद है, आकुलता का स्वाद है। जैसे अज्ञानी शाक के लोलुपी को शाक द्वारा नमक का स्वाद आता है, वह मिथ्या है; उसीप्रकार इन ज्ञेयलुब्ध जीवों को दया, दान आदि पुन्य तथा क्रोध, मान आदि पाप के विकल्प जो कि 'पर ज्ञेय' हैं, आत्मा से भिन्न हैं, इनके द्वारा राग की पर्याय और ज्ञान की पर्याय का मिश्रित अनुभव होनेपर जो स्वाद आता है, वह दुःख का स्वाद है, विपरीत है, जहर का स्वाद है, क्योंकि इनमें आत्मा के सामान्यज्ञान का अनुभव ढक गया है।

राग द्वारा ज्ञान का वेदन धर्म नहीं है। ज्ञान द्वारा ज्ञान का अकेला वेदन धर्म है। यह धर्म और अधर्म की व्याख्या है। ज्ञेयाकार ज्ञान का अनुभव करे तो मिथ्यात्वसहित दुःख का वेदन है। शास्त्र-स्वाध्याय यह भी विकल्प है। इस विकल्प द्वारा ज्ञान का अनुभव होना भी अधर्म है। अहा हा....! आत्मा तो वीतरागस्वभाव का पिटारा है, वीतरागस्वरूप ही है। इस ओर के झुकाव से अकेले ज्ञान का जो अनुभव आता है, वह आत्मा का—अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का स्वाद है, वह धर्म है।

तथा परमार्थ से विचार करें तो विशेष के आविर्भाव से जो ज्ञान अनुभव में आता है, वही ज्ञानसामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। ज्ञायक पर जिसकी दृष्टि है, वह तो जानता है कि यह ज्ञान का विशेष-ज्ञान सामान्य में से आता है। ज्ञायक पर दृष्टि पड़ते ही ज्ञान की पर्याय का वेदन आता है (राग का नहीं, राग से नहीं)। राग द्वारा ज्ञान का अनुभव वास्तव में तो सामान्य का विशेष है; तथापि अज्ञानी मानता है कि यह राग का विशेष है—यह दृष्टि का फेर है। समयसार गाथा १७, १८ में आता है कि आबालगोपाल सब को राग, शरीर, वाणी जिसकाल

दीखती है उससमय वास्तव में तो ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है; किन्तु ऐसा न मानकर मुझे यह जानने में आया, राग जानने में आया, यह मान्यता विपरीत है। इसप्रकार ज्ञानपर्याय है तो सामान्य का विशेष, किन्तु ज्ञेय द्वारा ज्ञान होनेपर (ज्ञेयाकार ज्ञान होनेपर) अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि यह ज्ञेय का विशेष है, ज्ञेय का ज्ञान है। वास्तव में जो ज्ञानपर्याय है, वह सामान्यज्ञान का ही ज्ञान-विशेष है, परज्ञेय का ज्ञान नहीं है, परज्ञेय से भी नहीं है।

अलुब्धज्ञानियों को तो जैसे नमक से अन्य शाकादि द्रव्यके संयोग का व्यवच्छेद करके केवल नमक का ही अनुभव करने पर सर्व ओर से एक क्षाररस को लेकर क्षाररसपने से नमक ही स्वाद में आता है; उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव करने में आता हुआ सर्व ओर से एक विज्ञानघनपने से मात्र ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। तथा जैसे नमक की डली में अन्य-द्रव्य के संयोग का निषेध करके केवल नमक की डली का अनुभव करने में आवे तो सर्वत्र क्षारपने से ही स्वाद आता है। नमक की डली सीधी नमक के द्वारा स्वाद में आती है, यह यथार्थ है। उसीप्रकार अलुब्धज्ञानियों को अर्थात् जिनको इन्द्रियों के समस्त विषयों की, परज्ञेयों की आसक्ति-रुचि छूट गई है, उन ज्ञानियों को अपने सिवाय अन्य समस्त परद्रव्य व परभावों का लक्ष्य छोड़कर एक ज्ञायकमात्र चिद्‌घनस्वरूप का अनुभव करने पर सब ओर से एक विज्ञानघनपने को लेकर मात्र ज्ञान ही स्वाद में आता है। अकेला ज्ञान सीधा ज्ञानके स्वाद में आता है। यह आनन्द का वेदन है. यह जैन शासन है। इसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान की अनुभूति है।

एक ओर स्वद्रव्य है और दूसरी ओर समस्त परद्रव्य हैं। 'एक ओर राम और दूसरी ओर ग्राम'। ग्राम अर्थात् (परद्रव्यों का) समूह। अपने सिवाय जितने परद्रव्य हैं, वे ग्राम में शामिल होते हैं। परज्ञेय – पञ्चेन्द्रियों के विषय अर्थात् साक्षात भगवान व भगवान की वाणी, देव, गुरु, शास्त्र और शुभाशुभ राग – ये सब ग्राम में अर्थात् परद्रव्य के समूह में आ जाते हैं। इनकी ओर लक्ष्य जाने पर राग ही उत्पन्न होता है। समवशरण में साक्षात् अरिहंत विराजमान हों, उनका लक्ष्य करने पर भी राग ही उत्पन्न होता है। यह अधर्म है। यह कोई चैतन्य की गति नहीं है, यह तो विपरीत गति है। मोक्षपाहुड़ में कहा है कि 'परद्रव्वाओ दुग्गई'। अतः परद्रव्य से उदासीन होकर एक त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो सर्वतः ज्ञानघन है, उस एक का ही अनुभव करने पर अकेले (निर्मल) ज्ञान का स्वाद

आता है। यह जैनदर्शन है। इन्द्रियों के विषयों में राग द्वारा जो ज्ञान का अनुभव (ज्ञेयाकार ज्ञान), वह आत्मा का स्वाद – अनुभव नहीं है; यह जैनशासन नहीं है। आत्मा में भेद के लक्ष्य से जो राग उत्पन्न हो, वह राग का ज्ञान है – ऐसा मानना अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। एक ज्ञान द्वारा ज्ञान का वेदन ही सम्यक् है, यथार्थ है। अहो! समयसार विश्व का एक अजोड़ चक्षु है। यह वाणी तो देखो! सीधी आत्मा की ओर ले जाती है।

समयसार शास्त्र – वाणी ये वाचक है और अपने में रागादि रहित जो समयसार है, वह वाच्य है। आजकल तो लोग बाहर में पड़े हैं, क्रिया-काण्ड में उलझे हैं। कोई कहता है – मैं पुस्तक बनाता हूँ। परन्तु पुस्तक बनाने का विकल्प राग है, और मैं पुस्तक बना सकता हूँ – ऐसा भाव मिथ्यात्वभाव है। जड़पदार्थ को कौन बना सकता है? 'क' यह एक अक्षर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है। आत्मा इसे तीनकाल में भी बना या लिख नहीं सकता। अनंतद्रव्य अनंतपने रहकर–एक–एक परमाणु और अन्यद्रव्य अपनी अवस्था स्वकाल में पृथक्पने करते हैं।

'णमो अरिहंताणं' यह तो शब्द हैं। अन्दर नमन करने का जो विकल्प उत्पन्न होता है वह राग है। उस राग द्वारा ज्ञान का अनुभव यह आत्मा का स्वाद नहीं है।

परमात्मप्रकाश में आया है कि यह जीव अनंतबार महाविदेहक्षेत्र में जन्मा है। वहाँ तीर्थंकरदेव नित्य विराजते हैं, तीर्थंकर का विरह नहीं है। तो वहाँ समवशरण में भी अनंतबार गया है। सम्यक्ज्ञानदीपिका में लिखा है कि जीव ने पूर्व में अनंतबार प्रत्यक्ष समवशरण में केवली भगवान की हीरों के थाल, मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के पुष्पादि से पूजा की है तथा दिव्यध्वनि सुनी है। परमात्मप्रकाश में भी 'भवे-भवे पूजियो' ऐसा पाठ है। किन्तु यह तो सब शुभराग है। इसमें धर्म मानकर अनंत-काल से संसार में रुला है। जगत को यह बात बैठना (जंचना) कठिन है। परन्तु भाई! आत्मा के भान बिना हजारों स्त्रियों और राजद्वार छोड़कर नग्न दिगम्बर साधु हुआ हो तो भी दुःखी है। पंच महाव्रत के परिणाम भी सुख नहीं हैं, दुःख ही हैं। समयसार नाटक मोक्षाधिकार के ४०वें छन्द में तो यहाँ तक कहा है कि, भावलिंगी मुनिराज के छट्ठे गुण-स्थान में जो पंचमहाव्रतादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह 'जगपंथ' है। मिथ्यादृष्टि की तो बात ही क्या करें? वहाँ तो यहाँ तक लिया है कि सच्चे मुनिराज को भी जो वारम्वार विकल्प उत्पन्न होते हैं, यह अन्तर

अनुभव में शिथिलता है, ढीलापना है। यहाँ कहते हैं कि राग से भिन्न भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मा में झुकाव होने पर जो सीधा ज्ञान, ज्ञान द्वारा अनुभव में आता है, वह आत्मा का स्वाद है, वह जिनशासन है, आत्मानुभूति है।

गाथा १५ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है। अज्ञानी जीव स्वज्ञेय को छोड़कर अनंत परज्ञेयों में ही लुब्ध हो रहे हैं। अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान को छोड़कर इन्द्रियज्ञान में ही लुब्ध हो रहे हैं। जिन्हें निज चैतन्यघन आत्मा का अनुभव नहीं है, ऐसे अज्ञानी परवस्तु में – परज्ञेयों में लुब्ध हैं, उनको दृष्टि और रुचि रागादि पर है। वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से और रागादि से अनेकाकार हुए ज्ञान का ही स्वपने आस्वाद लेते हैं। यह मिथ्यात्व है। देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य हैं, उनकी श्रद्धा का राग विकल्प है। यह राग मिथ्यात्व नहीं है, परन्तु इसे धर्म मानना मिथ्यात्व है। अज्ञानी दया, दान, व्रत, भक्ति, आदि राग के ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र से आस्वादते हैं। जिन्हें ज्ञेयाकार ज्ञान की रुचि है, उनको ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का स्वाद नहीं आता। उन्हें अन्तर्मुख दृष्टि के अभाव में राग का – आकुलता का ही स्वाद आता है।

तथा जो ज्ञानी हैं, जिन्हें महाव्रतादि के राग के परिणाम में लीनता और रुचि नहीं है, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही स्वाद (आनंद) लेते हैं। वह निराकुल अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद है। ज्ञानी ज्ञेयों में आसक्त नहीं है, राग या निमित्त किसी में एकाकार नहीं है। साक्षात् भगवान विराजमान हों तो उनमें भी धर्मी को आसक्ति या एकताबुद्धि नहीं है। धर्मी को व्यवहाररत्नत्रय का राग, महाव्रतादि पालन करने का राग होता है, परन्तु वह इनसे भिन्न निज चैतन्यस्वरूप आत्मा को ज्ञेय बनाकर ज्ञानमात्र एकाकार ज्ञान का आस्वादन करता है। यह अनाकुल आनन्द का स्वाद है, यही धर्म है। जैसे – शाकों से जुदी नमक की डली का मात्र खारा स्वाद आता है; उसीप्रकार ज्ञानी को परज्ञेयों और शुभाशुभ भावों से भिन्न एक निज ज्ञायकमात्र ज्ञान का स्वाद आता है। इसे निश्चयसम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिए ज्ञानका स्वाद है वह आत्मा का ही स्वाद है।

'ज्ञान आत्मा है; और आत्मा ज्ञान है' – इसप्रकार ज्ञान गुण और आत्मा गुणी – दो की अभेददृष्टि होनेपर सर्व परद्रव्यों से रहित

अबद्धस्पृष्ट, अपनी पर्याय में एकरूप, निश्चल अर्थात् हानिवृद्धि से रहित, अपने गुणों में एकरूप, अभेद तथा परनिमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुए पुण्य-पाप, सुख-दुःख की कल्पना से रहित निजस्वरूप का अनुभव ही ज्ञान का अनुभव है, और यही सम्यग्ज्ञान है, जैनधर्म है। जैनशास्त्र पढ़ना, सुनना और उनको याद रखना सम्यग्ज्ञान नहीं है। जिनवाणी तो एकतरफ रही, जिनवाणी सुनने पर जो ज्ञान (विकल्प) अन्दर में होता है, वह भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। द्रव्यश्रुत का ज्ञान तो विकल्प है। परन्तु अन्दर भगवान चिदानन्द रसकंद है, उसे दृष्टि में लेकर एकमात्र उस ज्ञान का अनुभव करना भावश्रुतज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, जैनशासन है। निजस्वरूप का अनुभव आत्मज्ञान है। शुद्धज्ञानरूप स्वसंवेदन ज्ञान का (त्रिकाली का) स्वसंवेदन – अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभव है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।

यहाँ तीन बातें आयीं। एक तो परद्रव्य और पर्याय से भी भिन्न अखंड, एक, शुद्ध, त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का अनुभवनरूप भावश्रुतज्ञान ही शुद्धनय है। दूसरे शुद्धनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य का अनुभव ही शुद्धनय है, और यही जैनशासन है। तीसरे त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकमात्र का वर्तमान में भावश्रुतज्ञानरूप अनुभव जैनशासन है; क्योंकि भावश्रुतज्ञान वीतरागी ज्ञान है, वीतरागी पर्याय है।

आत्मा के अनुभव बिना जीव अनंतकाल से जन्म-मरण करके नरक-निगोद के अनंतानंत दुःखों को प्राप्त हुआ है। देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा या नवतत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा सम्यक्त्व नहीं है। कलशटीका के छठवें कलश में आया है कि, संसारदशा में जीवद्रव्य नवतत्त्वरूप से परिणमा है, वह तो विभावपरिणति है, इसलिए नवतत्त्वरूपवस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है। इन भेदों में से एकरूप ज्ञायकभाव को – अबद्धस्पृष्ट आत्मा को ग्रहण करके अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। नवतत्त्वों में से अकेला सामान्य ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान ऐसे आत्मा को पृथक् करके उस एक का ही अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। यही मूलवस्तु है। जैसे – आँवले के वृक्ष के ऊपर-ऊपर से पत्ते तोड़ लें और मूल साबुत रखें तो वह झाड़ थोड़े ही दिनों में फिर पनप जाता है; उसीतरह ऊपर-ऊपर से राग मंद करे, किन्तु मूल मिथ्यात्व – पर्यायबुद्धि साबुत रहे तो फिर से राग बढ़ेगा ही। इसीलिये तो प्रवचनसार गाथा ६३ में कहा है कि जिसे पर से भिन्न एकरूप ज्ञायकभाव की दृष्टि नहीं है और एकसमय की पर्याय में राग को ही 'स्व' मानकर रुक गया है, वह पर्यायमूढ़ है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंवते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ।।१४।।

श्लोकार्थ :—आचार्य कहते हैं कि [**परमम् महः नः अस्तु**] हमें वह उत्कृष्ट तेजप्रकाश प्राप्त हो [**यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलन-निर्भरं**] कि जो तेज सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है [**उल्लसत्-लवण-खिल्य-लीलायितम्**] जैसे नमक की डली एक क्षाररस की लीला का आलम्बन करती है; उसीप्रकार जो तेज [**एक-रसम् आलंबते**] एक ज्ञान-रसस्वरूप का आलम्बन करता है, [**अखण्डितम्**] जो तेज अखण्डित है – जो ज्ञेयों के आकाररूप खण्डित नहीं होता, [**अनाकुलं**] जो अनाकुल है – जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, [**अनन्तम् अन्तः बहिः ज्वलत्**] जो अविनाशीरूप से अन्तरङ्ग में और बाहर में प्रगट दैदीप्यमान है – जानने में आता है, [**सहजम्**] जो स्वभाव से हुआ है – जिसे किसी ने नहीं रचा और [**सदा उद्विलासं**] सदा जिसका विलास उदयरूप है – जो एकरूप प्रतिभासमान है ।

भावार्थ:—आचार्यदेव ने प्रार्थना की है कि वह ज्ञानानन्दमय एकाकारस्वरूप ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो ।

कलश १४ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि ज्ञानप्रकाश का पुँज उत्कृष्ट तेजप्रकाश हमें प्राप्त हो, दूसरी कोई वस्तु हमें नहीं चाहिए । व्यवहाररत्नत्रय का राग भी हमें नहीं चाहिए । यह राग तो अंधकारमय है । हमें तो इस अंधकार से भिन्न चैतन्यप्रकाश प्राप्त हो, जो तेज सदाकाल चैतन्य के परिणमन से भरा है । जैसे – सूर्य जड़प्रकाश का पुंज है, वैसे ही आत्मा चैतन्य-प्रकाश का पुंज है, चैतन्यप्रकाशमय तेज से भरा हुआ है । वाहर के आचार्यपद की या दूसरे किसी 'पर' की माँग नहीं की, किन्तु अन्दर में जो चैतन्यसूर्य प्रकाशपुंज है वह पर्याय में प्राप्त हो – ऐसी ही एक भावना प्रकट की है ।

चक्रवर्ती छहखण्ड जीतने जाता है, वहाँ वीच में वैताढ्य नाम का पर्वत पड़ता है, उसमें गुफा है, उसमें खूब अंधेरा होता है । तथा वहाँ मंगला व

अमंगला नामक दो नदियाँ हैं। अमंगला का प्रवाह ऐसा है कि कोई भी वस्तु पड़ जावे तो नीचे ले जाती है और मंगला का प्रवाह ऐसा है कि कोई वस्तु गिर पड़े तो बाहर किनारे पर फेंक दे। गुफा में बहुत ही अंधेरा होता है, चक्रवर्ती के पास एक मणिरत्न होता है, जिसके साथ प्रवेश करने से सूर्य जैसा प्रकाश हो जाता है। इस प्रकाश में सारी सेना वहाँ से निकल जाती है। ऐसे ही यहाँ कहते हैं कि हमारा जो चैतन्य-चिन्तामणि मणि-रत्न है, उसमें एकाग्रतारूप प्रवेश करने से पर्याय-पर्याय में ज्ञानप्रकाश प्रगट हो जाता है। इस प्रकाश में हमको मोक्षमार्ग में चले जाना है। आचार्यदेव निज चैतन्य-चिन्तामणिरत्न में एकाग्रता से प्राप्त ज्ञानप्रकाश की ही भावना करते हैं, दूसरा कुछ नहीं चाहते। अब कहते हैं कि जिस-प्रकार नमक की डली एक क्षाररस की लीला का आलंबन करती है, अर्थात् अकेले खारे रस के स्वभाव से भरी है; उसीप्रकार हमारा यह आत्मा अकेले ज्ञानरस से पूर्ण भरा हुआ है। तथा वह तेज अखण्डित है अर्थात् रागादि ज्ञेयों के आकारों से खण्डित नहीं होता। तथा अनाकुल है — इसमें कर्मों के निमित्त से उत्पन्न हुई रागादिजनित आकुलता नहीं है। यह त्रिकाल अखण्ड ज्ञानरूप और अनाकुल आनन्दरूप है। तथा वह अन्तरंग में तथा बहिरंग में प्रगट दैदीप्यमान है। अन्तरंग शक्ति में ज्ञान का तेज परिपूर्ण भरा हुआ है। उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में भी ज्ञान-तेज प्रगट होता है। आत्मा के ज्ञानस्वभाव को कोई उत्पन्न नहीं करता, रचता या बनाता नहीं है, सहज ही है। और इसका विलास सदा उदयरूप है, ज्ञानप्रकाश सदा उदयरूप ही रहता है। वस्तु सदा ही उदयरूप है तथा जो ज्ञानप्रकाश का पर्याय में उदय होता है, वह भी सदा ही रहता है। त्रिकाली वस्तु एकरूप प्रतिभासमान है, उसके आश्रय से पर्याय में अनेकता का नाश होकर एकरूप का अनुभव होता है।

कलश १४ के भावार्थ पर प्रवचन

आचार्य भगवान ने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार-स्वरूप ज्योति हमें सदा प्राप्त रहे। भगवान आत्मा स्वरूप से ही ज्ञानानन्दमय है, अभेद एकाकारस्वरूप है। अखण्ड अनाकुलस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से जो अनुभव की दशा प्रगट होती है, वह अविनाशी वस्तु की तरह ही अविनाशी है। इसका भी (एक अपेक्षा से) नाश नहीं होता। अष्टपाहुड़ के चारित्रपाहुड़ की चौथी गाथा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम को भी 'अक्षय-अमेय' कहा है। वस्तु जितनी अक्षय-अमेय है, यह पर्याय भी वैसी ही अक्षय-अमेय है।

भाई ! अध्यात्म सूक्ष्म है। इसका एक-एक शब्द मंत्र है। जैसे किसी को सर्प का जहर चढ़ा हो तो लकड़ी को मंत्र से पढ़कर डालने से सर्प अपने बिल में से निकल आता है और जहर चूस लेता है, उसीप्रकार भगवान ज्ञानस्वरूप परमात्मा में एकाकार होकर अनुभव करने पर अन्दर में ज्ञानपर्याय प्रगट होती है। यह मंत्र है, यह मंत्र मोह-राग-द्वेषरूपी जहर का नाश कर अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द वाहर निकालता है।

अब, आगे की गाथा का सूचनारूप श्लोक कहते हैं :—

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

श्लोकार्थ :– [एषः ज्ञानघनः आत्मा] यह (पूर्वकथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा, **[सिद्धिम् अभीप्सुभिः]** स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को **[साध्यसाधकभावेन]** साध्यसाधकभाव के भेद से **[द्विधा]** दो प्रकार से, **[एकः]** एक ही **[नित्यम् समुपास्यताम्]** नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो।

भावार्थ :– आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है, परन्तु उसका पूर्णरूप साध्यभाव है और अपूर्णरूप साधकभाव है; ऐसे भावभेद से दो प्रकार से एक का ही सेवन करना चाहिए।

कलश १५ पर प्रवचन

यह कलश १६वीं गाथा का उपोद्घात है। इसमें कहा गया है कि यह पूर्वकथित आत्मा ज्ञानघनस्वरूप है। जैसे शीतकाल में जमे हुए असली शुद्ध घी में अंगुली का प्रवेश नहीं होता, उसीप्रकार भगवान आत्मा अन्दर में ज्ञानघन है। उसमें शरीर, वाणी या कर्म तो प्रवेश पा ही नहीं सकते, दया, दान आदि के विकल्पमय वर्त्तमान पर्याय भी प्रवेश नहीं पाती है। ऐसे ज्ञानघनस्वरूप आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्य-साधकभाव के भेद से दो प्रकार से एक यह आत्मा ही नित्य सेवन करने योग्य है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की सिद्धपर्याय पूर्ण होने से साध्य है और वर्त्तमान में स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और रमणतारूप अपूर्णशुद्ध पर्याय साधन है। ज्ञायकभाव के भेदज्ञान की पूर्णता का भाव यह साध्य और अपूर्ण सम्यग्ज्ञानरूप परणति यह साधक है। वीच में दया, दान आदि विकल्प होते हैं, वे साधक नहीं हैं, तथा इनसे मुक्ति भी प्राप्त

नहीं होती। इसप्रकार साध्य-साधकभावों के भेद से दो प्रकार से एक आत्मा ही नित्य सेवन करने योग्य है। प्रकाश का पुंज ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं ही साधकभावरूप होकर स्वयं ही साध्य हो जाता है। बीच में कोई रागादि व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम की मदद की इसको आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान की बात सुनकर कितने ही अज्ञानी लोग भी अब ऐसा कहने लगे हैं कि हमको भी आत्मा के लक्ष्य से उपवासादि होते हैं; परन्तु जो कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को मानते हैं, जहाँ सम्यग्दर्शन का भी ठिकाना नहीं है; वहाँ आत्मा का लक्ष्य कहाँ से होगा ? जिसे ज्ञान और दर्शन पूर्ण हो गये हैं, ऐसे अरहंत सर्वज्ञपरमात्मा देव हैं, वे सर्वदोषों से रहित वीतराग हैं। उनके शरीर की स्थिति भी ऐसी हो गयी है कि उन्हें भूख, प्यास, रोगादि दोष नहीं होते। तथा सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु उन्हें कहते हैं कि जो महाव्रतादि के विकल्प से भिन्न रहकर तीन कषाय के अभावपूर्वक सम्यग्दर्शन, ज्ञान सहित चारित्र की रमणता में झूलते हैं। इनको यथार्थ जाने बिना 'भगवान को रोगादि होते हैं' – ऐसा श्वेताम्बर मानते हैं। जिनको सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की भी खबर नहीं है, उनको आत्मा के लक्ष्य से कोई साधना नहीं हो सकती। सूक्ष्म बात है भाई ! यह तो जन्म-मरण के अन्त करने की बात है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा चैतन्य-घनपिण्ड है। इसकी निर्विकल्प श्रद्धा, स्वसंवेदनज्ञान और इसमें स्थिरतारूप वीतरागी चारित्र – इस साधकभाव से आत्मा स्वयं परिणमित होता है। और इन तीनों की पूर्णतारूप जो साध्यभाव है – उसरूप भी स्वयं ही परिणमता है। इसतरह दो प्रकार से एक ही आत्मा सदा सेवन करने योग्य है, दूसरा कुछ नहीं है। साधकभाव और साध्यभाव – इन दोनों में अकेला आत्मा ही ज्ञानरूप से परिणमता है। बीच में जो व्यवहाररत्नत्रय आता है इसका सेवन करना, यह सहायक होगा, ऐसा नहीं है।

कलश १५ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है, परन्तु इसका पूर्णरूप वह साध्यभाव है और अपूर्णरूप वह साधकभाव है। शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा साधकभाव में और साध्यभाव में स्वयं ही परिणमता है। साध्य-साधकभाव के भावभेद से दो प्रकार से एक का ही सेवन करना।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६।।

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानं चैव निश्चयतः ।।१६।।

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात् । यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्व-

---

अब, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव है, यह इस गाथा में कहते हैं :—

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेवीये ।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टि में ।।१६।।

गाथार्थ :– [**साधुना**] साधु पुरुष को [**दर्शनज्ञानचारित्राणि**] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [**नित्यम्**] सदा [**सेवितव्यानि**] सेवन करने योग्य हैं; [**पुनः**] और [**तानि त्रीणि अपि**] उन तीनों को [**निश्चयतः**] निश्चयनय से [**आत्मानं च एव**] एक आत्मा ही [**जानीहि**] जानो ।

टीका :– यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है, इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं कि 'साधु पुरुष को दर्शन, ज्ञान, चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं ।' किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं, क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं, किन्तु आत्मा की ही पर्याय हैं । जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से (वे) देवदत्त ही हैं,– अन्य वस्तु नहीं; इसीप्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही हैं – अन्य वस्तु नहीं । इसलिए यह स्वयमेव सिद्ध होता है किए कि आत्मा ही सेवन करने योग्य है ।

भावार्थ :– दर्शन, ज्ञान, चारित्र – तीनों आत्मा की ही पर्याय हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं; इसलिए साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन

भावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरम् । तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरम् । तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते । स किल—

करना यह निश्चय है और व्यवहार से दूसरों को भी यही उपदेश करना चाहिये ।

गाथा १६ पर प्रवचन

१४वीं गाथा में सम्यग्दर्शन का अधिकार और १५वीं गाथा में सम्यग्ज्ञान का अधिकार कहा । अब यहाँ १६वीं गाथा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव की बात करते हैं । साधु पुरुषों द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं । जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करें, वे साधु हैं । यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निश्चयचारित्र की बात है । अखण्ड अभेद एकरूप त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, इसी का स्व-संवेदनज्ञान सम्यग्ज्ञान और इसी में रमणता – लीनता या आचरणरूप अनुष्ठान सम्यक्चारित्र है । जो इस निश्चयरत्नत्रय का सेवन करें वे साधु हैं । पाँच महाव्रत या व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प निश्चयचारित्र नहीं हैं, निश्चय धर्म नहीं; यह तो राग है, विकार है, इसकारण यह सेवन करने योग्य नहीं है । अन्त:तत्त्वस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान व शान्तिरूप निर्विकल्प वीतरागीपर्याय सेवन करने योग्य है – यह कथन भी व्यवहार है । भगवान ज्ञायकभाव अकेला है, इस ज्ञायकस्वभाव का सेवन करना निश्चय है, परमार्थ है, वास्तविक है । तथा उपदेश में भेद करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य है – ऐसा कहना व्यवहार है । एकरूप आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र – ऐसे तीन प्रकार कहना व्यवहार है ।

अब कहते हैं – उन तीनों को भी निश्चय से एक आत्मा ही जानो । अखण्ड, अभेद, ज्ञायकभावरूप एक आत्मा के सेवन करने से, उसमें ये तीनों पर्यायें आजाती हैं, किन्तु पर्यायों का लक्ष्य करना व्यवहार है । दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो निश्चय है (निश्चयरत्नत्रय है), किन्तु अखण्ड, एक निश्चयस्वभाव की अपेक्षा से ये तीनों ही पर्याय हैं; इससे व्यवहार हैं, मलिन हैं । बात सूक्ष्म है, पर अलौकिक बात है, भाई ! इन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो । अन्तर में ज्ञायकभाव की एकाग्रता होने से ये तीनों पर्यायें निर्मल हो जाती हैं, परन्तु इन पर्यायों का लक्ष्य या आश्रय करने योग्य नहीं है । अहा हा……! यह निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय आश्रय

करने लायक नहीं है। ये तीन हैं – इसलिए व्यवहार है। गज़ब बात है भाई! यहाँ तो भगवान कुन्दकुन्दचार्यदेव कहते हैं – इन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो।

गाथा १६ की टीका पर प्रवचन

"यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन है, उसी भाव से नित्य सेवन करने योग्य है।" – यहाँ यह कहते हैं कि यह आत्मा जिस भाव से साध्य अर्थात् मोक्ष तथा साधन अर्थात् मोक्षमार्ग की पर्यायरूप है, उस भाव से सेवन करने योग्य है। निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय साधन है, किन्तु व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प साधन नहीं है। यहाँ अस्ति से कथन किया, इसमें नास्ति भी आ गई। इस आत्मा को जिस भाव से (अपना आश्रय करने से) पूर्ण साध्य (मोक्ष) प्रगट होता है, तथा जिस भाव से (अपना आश्रय करने से) वर्त्तमान साधकभाव (मोक्षमार्ग) उत्पन्न होता है, उस भाव से एक आत्मा ही नित्य सेवन करने योग्य है – ऐसा स्वयं इरादा रख कर दूसरे को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं कि – "साधु पुरुषों को दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।" सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र – ये तीनों पर्याय हैं, इससे व्यवहार है। पूर्णानन्दस्वरूप एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा की सेवा करना निश्चय है, परमार्थ है। पहले भी ऐसा कहा था कि – 'आत्मा का सेवन करना; परन्तु ऐसे अभेद कथन से व्यवहारीजन समझ नहीं सकते, इससे उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद करके व्यवहार से समझाया है कि साधु पुरुष दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करें। भगवान आत्मा निश्चय है, तो उसकी अपेक्षा दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इसप्रकार तीन का सेवन कहना व्यवहार है, मेचकपना है, मलिनपना है, अनेकपना है। दर्शनस्वभाव, ज्ञानस्वभाव, चारित्रस्वभाव – इत्यादि अनेकस्वभाव हो जाते हैं, इसकारण यह व्यवहार है। व्यवहार से उपदेश में इसप्रकार कथन आता है, किन्तु अभिप्राय तो एक शुद्ध निश्चय-आत्मा के सेवन करने का है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवंत साधुओं के पाँच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूलगुण आदि का व्यवहार यथार्थपने होता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस १६वीं गाथा में सोलह आना – सौटंच की बात बताई है।

पाँच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण का परिणाम चारित्र नहीं है, परन्तु आस्रव और बंध का ही कारण है। निश्चय-आत्मा के अनुभवरूप चारित्र हो तो इसे व्यवहारचारित्र उपचार से कहा जाता है। फिर भी यह बंध का ही कारण है। यहाँ तो यह कहते हैं कि आत्मा जो

परिपूर्ण शुद्धवस्तु है, वही साधकपने परिणमन करती है। उस साधकभाव का परिपूर्णतारूप परिणमन होना – वह साध्य है। आत्मा स्वयं ही अपरिपूर्ण साधकभाव से और परिपूर्ण साध्यभाव से परिणमन करता है। बीच में वाह्य व्यवहारक्रिया आती है, किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है।

साधु पुरुषों द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य है – ऐसा भेद करके कथन किया जाता है। आठवीं गाथा में कहा है कि "दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा" – ऐसा भेद किया, किन्तु परमार्थ से देखा जावे तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं, क्योंकि तीनों पर्यायें आत्मा से भिन्न नहीं हैं। इस एक आत्मा का सेवन करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, किन्तु तीनों के सेवन करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। सूक्ष्म वात है, भाई ! अन्दर सभी आत्मायें भगवानस्वरूप ही हैं। एकरूप, सच्चिदानंदप्रभु, ज्ञायकस्वभावी द्रव्य का सेवन करना परमार्थ है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप – तीनप्रकार सेवन करना व्यवहार कथन है। कलश टीकाकार ने – चेतनद्रव्य जो तीनप्रकार का होता है – उसे मेचक कहकर मलिन कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायें एक के तीन भेद हैं, अतः मलिन हैं, व्यवहार हैं। पर्याय है न ? पर्याय पर लक्ष्य जाने से राग ही होता है, और राग मलिन है।

नियमसार की पाँचवीं गाथा में कहा है कि – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय वहिःतत्त्व है। यहाँ राग की वात तो है ही नहीं, निर्मल पर्याय को वहिःतत्त्व कहा है। तथा अन्तःतत्त्व शुद्ध परमात्मा है। पूर्ण अन्तःतत्त्वरूप ज्ञायक परमात्मा और बहिःतत्त्वरूप निर्मल पर्याय – इन दोनों तत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, वंध और मोक्ष – इन सात तत्त्वों की श्रद्धा भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है। व्यवहार सम्यक्त्व श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है। यह तो राग है, विकार है। यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय वहिःतत्त्व है। इस वहिःतत्त्व पर लक्ष्य जाना व्यवहार है, मलिनता है, अनेकाकार है, अनेक स्वभाव है। देखो, जिनवाणी में कैसी-कैसी अपेक्षा से कथन आता है। समयसार के १६वें कलश की टीका में आता है कि सामान्यपने अर्थग्राहकशक्ति का नाम दर्शन है, विशेषपने अर्थग्रहणशक्ति का नाम ज्ञान है, और शुद्धत्वशक्ति का नाम चारित्र है। ऐसे शक्तिभेद करने पर एक जीव तीनप्रकार का होता है, इससे मलिन कहने का व्यवहार है। एक आत्मा को तीनरूप कहना व्यवहार है और व्यवहार असत्यार्थ है। १७वें कलश के भावार्थ

कहा कि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है, किन्तु पर्यायार्थिकनय से एक का तीनरूप परिणमन होता है, ऐसा कहना व्यवहार है, असत्यार्थ है। यहाँ त्रिकाली, भूतार्थद्रव्य को मुख्य करके, निश्चय कहकर सत्यार्थ कहा है और पर्यायमात्र को गौण करके, व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है। भाई, केवलीभगवान ने जो देखा और कहा – यह तो वे बातें हैं।

यहाँ कहते हैं कि एक आत्मा को तीनरूप परिणमित हुआ कहना यह व्यवहार हुआ, अतः असत्यार्थ भी हुआ; इससे इसे मेचक, मलिन कहा है। अहा हा........! पण्डित जयचंदजी ने क्या गजब का अर्थ किया है! पहले के ज्ञानी पंडित तो वस्तु की जैसी स्थिति है वैसा ही अर्थ करते थे। पर आज तो बहुत गड़बड़ हो गई है।

व्यवहारमोक्षमार्ग का सेवन करना, राग का सेवन करना – यह बात है ही नहीं। राग का क्या सेवन करना? इसका तो अभाव करना है। परन्तु भगवान ज्ञायकस्वभावी एक चैतन्यघनस्वरूप जो आत्मा, उसकी दृष्टि, ज्ञान और चारित्र – ये निश्चय से परमार्थ हैं। पर्यायरूप परमार्थ को यहाँ व्यवहार कहकर मलिन कहा है, तथापि पहले इसका विकल्प में यथार्थ ज्ञान तो होता ही है। जहाँ व्यवहार में विकल्पवाला ज्ञान भी यथार्थ नहीं है, वहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

साधु पुरुषों को तीन (दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का सेवन करना – यह व्यवहार से कहा गया है, परन्तु परमार्थ से देखा जावे तो ये तीनों ही एक आत्मा ही हैं, क्योंकि वे अन्य वस्तुयें नहीं हैं, बल्कि आत्मा की ही पर्यायें हैं। मोक्षमार्ग की पर्याय (निश्चयरत्नत्रय की पर्याय) आत्मा की पर्याय है, परन्तु व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आत्मा की पर्याय नहीं है, असद्भूत है। यह निश्चयरत्नत्रय सद्भूतव्यवहार है। पंडित बनारसीदासजी विरचित 'परमार्थवचनिका' में कहा है कि – "द्रव्य निष्क्रिय है; सम्यग्ज्ञान (स्व-संवेदन) और स्वरूपाचरण की कणिका जागृत हो, तब मोक्षमार्ग सच्चा है। मोक्षमार्ग साधना यह व्यवहार और शुद्धद्रव्य अक्रियारूप निश्चय है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्ग साधना – यह व्यवहार है, क्योंकि पर्याय है? इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानते हैं, परन्तु मूढ़ जीव जानते भी नहीं और मानते भी नहीं।"

अब दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे किसी देवदत्त नाम के पुरुष का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण देवदत्त के स्वभाव को उल्लंघन नहीं करने से यह दढ़ निश्चय रहता है कि ये सब देवदत्त ही हैं, देवदत्त से भिन्न अन्य

वस्तु नहीं हैं, उसीप्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण – आत्मा के स्वभाव को उल्लंघन नहीं करते हैं, अतः ये तीनों आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं। इसलिए ऐसा स्वयमेव सिद्ध होता है कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। मूल पाठ में (गाथा में) दर्शन, ज्ञान, चारित्र लिया है। यहाँ टीका में ज्ञान, श्रद्धान और आचरण लिया है, क्योंकि जानने में आने पर ही प्रतीति होती है। गाथा १७-१८ में आता है कि वस्तु (आत्मा) ज्ञानपर्याय में पूर्ण, अखंड जानने में आवे तब उसे जानकर उसकी यथार्थ प्रतीति करे। वस्तु ख्याल में आये बिना किसकी प्रतीति करे ? वाह ! दिगम्बर संतों की कथनी भी कैसी रहस्यमय है ! यहाँ कहते हैं कि आत्मा का ही सेवन करने से तीनों पर्यायरूपभाव प्रगट हो जाते हैं। इससे एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। पहले तीनों को व्यवहार से सेवन करने योग्य कहा था – वह समझने के लिए कहा था। अब कहते हैं कि निश्चय से एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है, तीन नहीं।

छटवीं गाथा में भी आता है कि पर की ओर का लक्ष्य छोड़कर एक निज त्रिकाली ज्ञायकभाव की सेवा – उपासना करना। देखिये टीका के पहले पैराग्राफ की अन्तिम दो पंक्तियाँ – "इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है, और अप्रमत्त भी नहीं है, वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।" यहाँ अन्य द्रव्य के भाव अर्थात् द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म के उदयादि का लक्ष्य छोड़कर वर्त्तमान पर्याय एक त्रिकाली ज्ञायकभाव का लक्ष्य करके उसमें झुकती है, वह उपासना है। उस पर्याय में शुद्ध का अनुभव होता है कि वस्तु त्रिकाल शुद्ध है। ऐसी की ऐसी शुद्ध है – ऐसी बात यहाँ नहीं है। 'अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न' यह पाठ है न ? अर्थात् जब अन्य द्रव्यों के भावों से लक्ष्य छूट जाता है, तब अपनें में जो विकारीभाव थे, उनसे भी लक्ष्य छूट जाता है। अहा हा……! क्या टीका है ! समयसार तो राजा है राजा !! सब आगम का सार है।

भगवान आत्मा ज्ञायकरूप चैतन्यभाव है और शुभाशुभ भाव अचेतन हैं। दया, दान, महाव्रतादि भाव अचेतन हैं, इनमें चैतन्य के तेज का अंश नहीं है। जो ज्ञायकभाव है वह शुभाशुभ भावों के स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायक से जड़भावरूप नहीं होता), ज्ञायक ज्ञायक-रूप से ही हमेशा रहता है। जब ज्ञायकभाव शुभाशुभभावरूप से कभी नहीं होता तो फिर वह प्रमत्त या अप्रमत्त कैसे हो सकता है ? यही यहाँ कहा है कि त्रिकाली एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। यह सम्यक्-

एकान्त है। एक आत्मा सेवन करने योग्य है, दूसरा कुछ भी (पर्याय) सेवन करने योग्य नहीं है। इसप्रकार अनेकान्त है।

ज्ञायकभाव एकरूप है, उस एक का सेवन करने से पर्याय तीन हो जाती हैं, अनेकस्वभावस्वरूप हो जाती हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों का भिन्न-भिन्न स्वभाव है। दर्शन का प्रतीतिस्वभाव, ज्ञान का जाननेरूप स्वभाव और चारित्र का शान्ति व वीतरागतारूप स्वभाव है। अहा हा....! भगवान एकरूप ज्ञायकस्वभावी आत्मा की सेवा करने से अनेकरूप स्वभाव-पर्याय उत्पन्न होती है। इस अनेकरूप स्वभावपर्याय की सेवा करना, यह तो व्यवहार से उपदेश दिया है; इससे दृष्टि में सेवन करने योग्य तो एक आत्मा ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

चौदहवीं गाथा में सम्यग्दर्शन की प्रधानता से कथन है। पन्द्रहवीं गाथा में ज्ञान की प्रधानता से कहा है कि ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। यहाँ १६वीं गाथा में कहते हैं कि सम्यग्दर्शन वह आत्मा, ज्ञान की अनुभूति वह आत्मा, तथा इसमें स्थिरता करना वह चारित्र भी आत्मा। तथापि ये तीनों पर्यायें हुयीं, भेद हुआ, तीनप्रकार का स्वभाव हुआ, जबकि भगवान आत्मा तो एकरूप ज्ञायकस्वभावी है।

प्रश्न :– तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा आता है, कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है।

उत्तर :– यह निश्चय है, परन्तु यह पर्याय का निश्चय है। यह पर्याय से कथन है, इसकारण व्यवहारनय का कथन है। सम्यग्दर्शन है तो निश्चय, परन्तु भेद करके कथन करना व्यवहार है। प्रवचनसार गाथा २४२ में आता है कि – भेद से कथन करना व्यवहार है और अभेद से कथन करना निश्चय। एकत्व को प्राप्त वह निश्चय है। तीनरूप पर्याय को प्राप्त वह व्यवहार है। दोनों को एकसाथ जानना वह प्रमाण है।

अहो ! कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्रों में तो बहुत गूढ़ और गंभीर सत्य का प्रतिपादन है। श्रीमद् रायचन्द कहते हैं कि श्वेताम्बरों के ढीलेपन से रस ढीला पड़ जाता है, पर दिगम्बरों के तीव्र वचनों से रहस्य समझ में आ जाता है। श्रीमद् ने तो मिठास से बात की है। पंडित श्री टोडरमलजी ने तो मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अधिकार में साफ-साफ लिखा है कि 'श्वेताम्बर और स्थानकवासी अजैन हैं, जैन नहीं हैं।' यह जैनधर्म तो वीतराग का मार्ग है। सर्वज्ञ-वीतरागदेव ने गणधर और इन्द्रों के मध्य समवशरण में जो दिव्यध्वनि की थी, वही यह है।

[illegible] कहते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र — ये तीनों आत्मा की ही पर्यायें हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं है। इसकारण साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना, यह निश्चय है। और व्यवहार से दूसरों को भी यही उपदेश देना। उपदेश व्यवहार विकल्परूप है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ :— [प्रमाणतः] प्रमाणदृष्टि से देखा जाये तो [आत्मा] यह आत्मा [समम् मेचकः अमेचकः च अपि] एक ही साथ अनेक अवस्थारूप (मेचक) भी है और एक अवस्थारूप (अमेचक) भी है, [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रित्वात्] क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तो त्रित्व (तीनपना) है और [स्वयम् एकत्वतः] अपने से अपने को एकत्व है।

भावार्थ :— प्रमाणदृष्टि में तीनकालस्वरूप वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप देखी जाती है, इसलिये आत्मा को भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिए।

कलश १६ व उसके भावार्थ पर प्रवचन

अखण्डज्ञान का पुंज, सर्वज्ञस्वभावी, आत्मवस्तु की दृष्टि करना और उसी में एकाग्रता करना ही निश्चय से आत्मा का सेवन है तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो — ऐसा व्यवहार का कथन है। अभेदग्राही निश्चय निर्मल है, भेद का कथन करनेवाला व्यवहार मलिन है एवं भेद-अभेद दोनों को एक साथ देखनेवाला प्रमाण है।

प्रमाणदृष्टि से त्रैकालिकवस्तु द्रव्य-पर्यायरूप देखी जाती है। अतः आत्मा ही एकरूप और अनेकरूप देखा जाता है। त्रिकालीवस्तु द्रव्यरूप से एक और पर्यायरूप से अनेक कही जाती है। आत्मा द्रव्यरूप से एक है और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्यायों की अपेक्षा अनेकरूप है, भेदरूप व्यवहार मलिन है, मात्र जानने के लिए है। दृष्टि में रखने लायक तो एक अभेद वस्तु ही है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए — यह व्यवहार का कथन है, भेद कथन है। एक आत्मा का ही सेवन करो — यह निश्चय है। एकस्वभावी आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही आ गये। अतः एकरूप

देखना निश्चय, तीनरूप देखना व्यवहार, और दोनों को एक साथ देखना प्रमाण है।

यहाँ पर शरीर-मन-वाणी और विकल्प की तो बात ही नहीं है। यहाँ तो उस शुद्धता की बात है, जिसे छटवीं गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त से रहित एक ज्ञायकभावरूप कहा है, उस शुद्ध चैतन्यघन आत्मा को देखना निश्चय, उसे ही तीनरूप परिणमित होते हुये जानना व्यवहार, और दोनों को एकसाथ जानना प्रमाण है।

इन सबमें आदरणीय तो एकमात्र निश्चय है, अर्थात् निश्चय का विषयभूत त्रिकाली द्रव्य है।

अब, नयविवक्षा कहते हैं :—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

श्लोकार्थ :– **[एकः अपि]** आत्मा एक है, तथापि **[व्यवहारेण]** व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो **[त्रिस्वभावत्वात्]** तीनस्वभावरूपता के कारण **[मेचकः]** अनेकाकाररूप (मेचक) है, **[दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः]** क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीन भावों में परिणमन करता है।

भावार्थ :– शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है; जब इस नय को प्रधान करके कहा जाता है तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है, इसलिए एक को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ। इसप्रकार व्यवहारनय से आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामों के कारण 'मेचक' कहा है।

कलश १७ पर प्रवचन

भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव एकरूप ही है, किन्तु उसे तीन-प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणमनरूप व्यवहारदृष्टि से देखें तो अनेकाकार है, मेचक है। चिदानंदस्वभाव जो दृष्टि का-सम्यग्दर्शन का विषय है, वह तो एकरूप ही है। उसमें तीन भेद करना व्यवहार है। शुभभावरूप व्यवहार की बात यहाँ नहीं है। वह तो संसार के खाते में है।

अहा हा·······! कहते हैं कि आत्मा को द्रव्यदृष्टि से देखो तो आत्मा एक है। वस्तुरूप से – निश्चय से ज्ञायकस्वभाव चिद्घन एकस्वरूप ही है, तथापि व्यवहार से देखने पर सम्यग्दर्शन – प्रतीति, सम्यग्ज्ञान – अवबोध

(जानना) और सम्यक्चारित्र – स्थिरता, विश्राम – ऐसे जो तीनप्रकार हैं, ये मेचक हैं। तीनप्रकार देखना मिलावट है। कड़क बात है भाई! आजकल तो लोग बाह्यक्रिया आदि प्रवृत्तियाँ ही करते हैं, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तथा वस्तुस्थिति की तो बात ही नहीं जानते। अन्दर वस्तु जो ज्ञायकतत्त्व है, वह आत्मा है; और बाहर में यह शरीर, वाणी इत्यादि हैं, वे तो जड़ मिट्टी धूल हैं। ये आत्मा में नहीं हैं, और आत्मा के नहीं हैं; तथा पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वगैरह के भाव तथा काम-क्रोधादि भाव भी आत्मा में नहीं हैं और आत्मा के नहीं हैं।

आत्मा में रहने वाले अनंतगुण, उन अनंतगुणस्वरूप भगवान आत्मा एकरूप है, और उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन परिणाम से देखना तो व्यवहार है। त्रिकाली एकरूप देखें तो निश्चय व तीनरूप देखें तो व्यवहार है। अभेद से देखें तो अमेचक – निर्मल है और भेद से देखें तो मेचक – मलिन है। एकरूप देखें तो एकाकार है और तीनरूप पर्याय से देखें तो अनेकाकार है। आत्मा को गुण-गुणी के भेद से देखें तो अनेकाकार है, व्यवहार है, मलिन है, आश्रय करने लायक नहीं है। तीन प्रकार के दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम भी आश्रय करने लायक नहीं हैं।

अहो……! आत्मा एकस्वरूपी, ज्ञायक, चिद्घन, चैतन्यस्वभाव का भंडार, एकरूप, निश्चयनय का विषय है। वह एकरूप अभेद निर्मल है, तथापि इसकी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति देखें तो व्यवहार से द्वन्द्व है, तीन स्वभावरूप है। एकरूप स्वभाव तीन स्वभावरूप हुआ – यह व्यवहार है। यहाँ शुभराग व्यवहार है – यह बात नहीं है।

पुण्य-पाप अधिकार गाथा १४५ में कहा है :–

है कर्म अशुभ कुशील अरु, जाने सुशील शुभकर्म को।
किस रीति होय सुशील, जो संसार में दाखिल करे।।

शुभ को – पुण्य को भला कैसे कहें कि जो संसार के बंधन में डालता है? यह भला नहीं है, अच्छा नहीं है (आदरणीय नहीं है), क्योंकि शुभाशुभ स्वयं संसार है, मलिन है। निश्चय से तो पुण्य के भाव को भी पाप कहा है। योगीन्दुदेव ने योगसार गाथा ७१ में कहा है :–

पापरूप को पाप तो, जाने जग सब कोई।
पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी कोई।।

अनुभवी सम्यग्दृष्टि तो पुण्य को भी पाप कहते हैं। यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि निश्चय की अपेक्षा से व्यवहाररत्नत्रय (पुण्यभ

भी पाप है, राग है, मलिन है, बंध है, संसार है। अहा हा........! बात कड़क है, परन्तु वीतराग का मार्ग वीतरागभाव से उत्पन्न होता है, राग से उत्पन्न नहीं होता।

जयसेनाचार्य ने समयसार के पुण्य-पाप अधिकार को दो भागों में विभाजित किया है। गाथा १५३ से १६२ तक पुण्य-अधिकार और गाथा १६३ से १७१ तक पाप-अधिकार है। वहाँ पाप-अधिकार के अन्त में उपसंहार के रूप में शिष्य प्रश्न करता है :-

"इस अधिकार (पाप-अधिकार) में तो आचार्य ने 'जीवादी सद्दहणं' इत्यादिरूप से व्यवहाररत्नत्रय का कथन किया है, फिर यह पाप-अधिकार कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि उपादेयभूत निश्चयरत्नत्रय का कारण होने से व्यवहार-मोक्षमार्ग उपादेय है एवं वही परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र भी है; तथापि वह बाह्यद्रव्यों के अवलंबन सहित होता है, अतः पराधीन होने से वह नाश को प्राप्त होता है। इसप्रकार व्यवहार-मोक्षमार्ग के पापरूप होने में एक कारण तो यह है।

व्यवहाररत्नत्रय के पापरूप होने में दूसरा कारण यह है कि निर्विकल्प समाधि में लीन होनेवाले योगियों का अपने शुद्धात्मस्वरूप से पतन व्यवहार विकल्पों के अवलंबन से ही होता है। इसप्रकार सिद्ध है कि व्यवहार-मोक्षमार्ग पापरूप है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो तीनस्वभावपने को लेकर अनेकाकाररूप है, मेचक है। ऐसा वीतराग मार्ग जगत् को सुनने को भी नहीं मिलता। अरे रे! अनादि से जीव सम्यक्-प्रतीति बिना - अनुभव बिना चार गति में रखड़ता रहता है।

कलश १७ के भावार्थ पर प्रवचन

पण्डित जयचंदजी ने भी भावार्थ कैसा सरस लिखा है। देखो! शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है। शुद्धद्रव्य जिसका प्रयोजन है वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय है। 'शुद्ध' अर्थात् त्रिकाल पवित्र, द्रव्य अर्थात् त्रिकाली अखण्ड वस्तु तथा 'आर्थिक' अर्थात् जिसका प्रयोजन है - वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय है; उस शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है; जो सम्यग्दर्शन का विषय है, उसे शुद्धद्रव्यार्थिकनय बताता है।

जब इस नय को प्रधान करके आत्मा को अभेद, एकरूप कहा जाता है तब पर्यायार्थिकनय गौरा हो जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागीपरिणति पर्याय होने से गौरा हुई। व्यवहाररत्नत्रय की तो यहाँ बात ही नहीं है, वह तो बंध का कारण है। यहाँ तो आत्मा की दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्याय, जो कि सच्चा मोक्षमार्ग है, वह भी पर्यायार्थिकनय का विषय होने से गौरा हो जाती है, गौरा का अर्थ अभाव नहीं लेना। अहा हा........! शरीर, मन, वाणी तो एक तरफ रहे, क्योंकि ये तो जड़ धूल हैं, पुण्य-पाप के भाव भी एक बाजू रहे, क्योंकि ये मलिन हैं, संसार हैं; पर यहाँ तो आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और आचरणरूप सच्चे शुद्धरत्नत्रय को भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत एकरूप त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा पर्याय होने से व पर्यायार्थिकनय का – व्यवहारनय का विषय होने से मेचक – मलिन कहा है।

प्रवचनसार में ४६वें अशुद्धनय में ऐसा कहा है कि जो वस्तु को पर्याय से जानता है, वह अशुद्धनय है। जैसे – मिट्टी को बर्तन की पर्याय से देखना अशुद्धनय है और मिट्टी को मिट्टीरूप देखना शुद्धनय है; उसीप्रकार भगवान आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मलपर्याय से देखना अशुद्धनय है। इनको यहाँ मलिन, व्यवहार और अनेकाकार कहा है, क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र – तीनों का स्वभाव पृथक्-पृथक् है, और भगवान आत्मा का स्वभाव एकरूप है। अहा हा ....! यह तो वीतरागमार्ग है, बापू! जिस वाणी को इन्द्र और गणधर सुनते हैं, जो वाणी अन्तरङ्ग आत्मा को बताती है, वह वाणी कैसी होगी? (अद्भुत असाधारण ही होगी)। भाई! यहाँ भगवान की उस वाणी की ही बात है कि वस्तु एक ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायकमात्र एकस्वभावी है, निर्मल है, अभेद है। यही वस्तु का वास्तविक स्वरूप है; अतः निश्चय है। और उसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति से देखो तो अनेकाकार है, मलिन है, भेद है; अतः व्यवहार है।

इसकारण एक को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ; क्योंकि ११वीं गाथा में त्रिकाली ज्ञायक को सत्यार्थ कहा है। यह ११वीं गाथा तो जैनदर्शन का प्राण है।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि अभूतार्थ को असत्यार्थ मत कहो। परन्तु भाई! जयसेनाचार्य ने भी अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ ही किया है। अरे! मनुष्य अपनी दृष्टि को पुष्ट करने के लिए सभी शास्त्रों के अर्थ बदल डालते हैं, परन्तु वस्तु तो जैसी है वैसी ही रहेगी। आचार्य भगवान

कहते हैं कि त्रिकाली एकरूप वस्तु सत्यार्थ है, निश्चय है; उसे तीनरूप परिणमन करता हुआ कहना – व्यवहार है। ये तीनरूप परिणमन त्रिकाल टिकती चीज नहीं है, इसलिए गौण करके असत्यार्थ कहा गया है।

समयसारकलश-टीकाकार पण्डित राजमलजी पाण्डे ने १६वें कलश में लिया है कि 'आत्मा मेचक:' चैतन्यद्रव्य मलिन है। किस अपेक्षा से मलिन है? 'दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वात्' सामान्यपने अर्थग्रहण शक्ति का नाम दर्शन है, विशेषपने अर्थग्रहणशक्ति का नाम ज्ञान है, और शुद्धत्व शक्ति का नाम चारित्र है – ऐसे शक्तिभेद करने से एक जीव तीनप्रकार का हो जाता है – इसकारण मलिन कहने का व्यवहार है।

पण्डित बनारसीदासजी ने पण्डित राजमलजी पाण्डे की कलश टीका के आधार से समयसार नाटक ग्रन्थ बनाया है, उसमें १६वें कलश के आधार पर २०वाँ छन्द बनाया है। उसमें कहा है :–

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर ।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और ।।

एक वस्तु त्रिकाल पूर्णानंद भगवान आत्मा का अवलोकन करना, उस एक को ही जानना, और उसी एक में रमणता करना; तथा निश्चय से अभेद व व्यवहार से भेद – ऐसे विकल्प नहीं करना – यह मुक्ति के उपाय की रीति है, दूसरी कोई रीति नहीं है।

जबतक विकल्पात्मक सही ज्ञान का ही ठिकाना न हो तबतक श्रद्धा व चारित्र सम्यक् कहाँ से हो ?

अब, परमार्थनय से कहते हैं :–

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ।।१८।।

श्लोकार्थ :– [परमार्थेन तु] शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो **[व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषा]** प्रगट ज्ञायकत्वज्योतिमात्र से **[एककः]** आत्मा एकस्वरूप है, **[सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वात्]** क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सर्व अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होने वाले विभावों को दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिये वह 'अमेचक' है – शुद्ध एकाकार है।

भावार्थ :– भेददृष्टि को गौण करके अभेददृष्टि से देखा जाय तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचक है।

कलश १८ पर प्रवचन

अहा हा....! क्या कलश है ? अमृत से भरा हुआ है। अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले हुए और उनके हजार वर्ष पहले यानी आज से दो हजार वर्ष पहले श्री कुन्दकुन्दाचार्य हुये। मद्रास से ८० मील दूर दस हजार की बस्तीवाला वन्देवास ग्राम है। उससे पाँच मील दूर पोन्नूरहिल नाम की पहाड़ी है। वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य रहते थे, वे आत्मानुभवी भावलिंगी मुनि थे। वहाँ से वे पूर्व विदेह में सीमंधर भगवान के पास गये थे, और वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया है। अतः यह साक्षात् भगवान की वाणी है। भाई! यह वाणी अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इसकी टीका करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र हजार वर्ष पीछे हुए, वे भी भावलिंगी दिगम्बर मुनि थे, मानो चलते-फिरते सिद्ध थे, जिनके अन्तर में अतीन्द्रिय आनंद का झरना बहता था। उन्होंने यह टीका बनाई है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्ध एक अभेद आत्मा जिसका विषय है—ऐसे शुद्धनिश्चय से देखें तो प्रगट ज्ञायक ज्योतिमात्र से आत्मा एकस्वरूप है। ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान यह ज्ञानसूर्य चैतन्य की जगमग ज्योति है। अहा हा....! भाषा तो देखो! आत्मा प्रगट ज्ञायकता-ज्योतिमात्र है। 'व्यक्त' शब्द से यहाँ भगवान आत्मा को प्रगट कहा है, जबकि ४९वीं गाथा में भगवान आत्मा को 'अव्यक्त' कहा है, परन्तु वहाँ तो पर्याय को व्यक्त कहने की अपेक्षा त्रिकाली को अव्यक्त कहा है और यहाँ त्रिकाली वस्तु व्यक्त—प्रगट ही है—ऐसा कहते हैं। एकरूप त्रिकालीवस्तु—यह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है, तथा यही सम्यग्दर्शन का भी विषय है। विषय करनेवाली तो पर्याय है, किन्तु उसका विषय एकरूप चैतन्यद्रव्य है।

आगे कहते हैं कि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से अन्य द्रव्य के स्वभावों तथा अन्य के निमित्त से हुये विभावों को दूर करनेरूप इसका स्वभाव है। शुद्धद्रव्यार्थिकनय से, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि व ज्ञान करने से अन्य द्रव्य के स्वभाव—शरीर, मन, वाणी तथा अन्य के निमित्त से हुये विभाव—पुण्य-पाप के भाव दूर हो जाते है, नष्ट हो जाते हैं। त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व का ऐसा ही स्वभाव है, किन्तु यह कथन व्यवहार का है। निश्चय से तो शुद्ध चैतन्यघनस्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और एकाग्रता होने पर विभाव उत्पन्न ही नहीं होता। अतः विभाव का नाश किया, ऐसा तो मात्र कहा जाता है। त्रिकाली ज्ञायक एकरूपभाव में अन्य द्रव्य का अभाव है, तथा विभाव के अभाव करने की ताकत है। 'भावान्तर' अर्थात्

ज्ञायकस्वभाव से भिन्न भाव या विभाव का ध्वंस करने का इसका स्वभाव है।

ज्ञायकस्वभाव का विभाव को उत्पन्न करने का स्वभाव ही नहीं है, क्योंकि उसमें ऐसा कोई गुण नहीं है, जो विकार उत्पन्न करे। यदि विकार उत्पन्न करने की कोई शक्ति हो तो विकार का नाश होकर कभी भी सिद्धपना नहीं हो सकता। ३४वीं गाथा में आता है कि आत्मा 'राग का नाश करने वाला है' – यह भी यथार्थ नहीं है; कथन मात्र है। परमार्थ से राग का त्यागपना व कर्त्तापना आत्मा में नहीं है। ३२०वीं गाथा में भी आता है कि ज्ञायकस्वभाव कर्मोदय, निर्जरा, बंध व मोक्ष को जानता है, पर करता नहीं है, क्योंकि वह अमेचक है, शुद्ध एकाकार है। त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की प्रकृति राग को उत्पन्न करने या राग की रक्षा करने की नहीं है, अतः अमेचक है। भेददृष्टि को गौण करके अभेददृष्टि से देखो तो आत्मा एकाकार – एकरूप ही है। यही अमेचक, यही निर्मल है और यही पवित्र भगवान आत्मा एकरूप है। इसकी दृष्टि करें तो सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा को प्रमाण-नय से मेचक और अमेचक कहा है, उस चिन्ता को मिटाकर जैसे साध्य की सिद्धि हो वैसा करना चाहिए, यह आगे के श्लोक में कहते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ।।१९।।

श्लोकार्थ :– [**आत्मनः**] यह आत्मा [**मेचक–अमेचकत्वयोः**] मेचक है – भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है – अभेदरूप एकाकार है; [**चिन्तया एव अलं**] ऐसी चिन्ता से बस हो। [**साध्यसिद्धिः**] साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीन भावों से ही होती है, [**न च अन्यथा**] अन्य प्रकार से नहीं (यह नियम है)।

भावार्थ :– आत्मा के शुद्धस्वभाव की साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष साध्य है। आत्मा मेचक है या अमेचक – ऐसे विचार ही मात्र करते रहने से साध्य सिद्ध नहीं होता; परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्धस्वभाव का अवलोकन, ज्ञान अर्थात् शुद्धस्वभाव का प्रत्यक्ष जानना, और चारित्र अर्थात् शुद्धस्वभाव में स्थिरता से साध्य की सिद्धि होती है; यही मोक्षमार्ग है, अन्य नहीं।

व्यवहारीजन पर्याय में – भेद में समझते हैं; इसलिये यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद से समझाया है।

कलश १६ पर प्रवचन

यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है; तथा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है। अखण्ड ज्ञायकभाव एकरूप आत्मवस्तु तो निश्चय दृष्टि से है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पर्याय में निर्विकारी परिणमन व्यवहारनय का विषय है। व्यवहाररत्नत्रय (महाव्रतादि शुभराग) की बात यहाँ नहीं है।

यहाँ पहले तो ऐसा कहा है कि एक ज्ञायकभावस्वरूपवस्तु की सेवा करना अर्थात् एक आत्मा का सेवन करना निश्चय और शुद्धरत्नत्रयपर्याय का सेवन करना व्यवहार है। आत्मा मेचक है – यह विकल्प की बात है। कर्त्ताकर्म अधिकार में गाथा १४२ के पश्चात् कलश नं० ७० से ८६ तक के कलशों में कहा है कि – आत्मा निश्चय से (त्रिकाली शक्तिरूप से) अबद्ध है, शुद्ध है, एक है, पवित्र है, अभेद है। वस्तु तो ऐसी ही है, परन्तु अबद्ध, शुद्ध इत्यादि विकल्प करने की बात यहाँ नहीं ली है, बल्कि इन विकल्पों को छोड़ने की बात यहाँ कही गई है। विकल्प छूटने पर अभेदरूप शुद्धपरिणमन हो – ऐसे निर्विकल्प परिणमन को यहाँ व्यवहार कहा है।

आत्मा को जो अमेचक कहा है, वह निर्मलपना, अभेदपना, एकपना, शुद्धपना आदि की अपेक्षा कहा है। यहाँ विकल्परहित निर्मलता की बात की है। और पर्याय में जो निश्चयमोक्षमार्ग का तीनपने परिणमन – उनमें एक प्रतीतिरूप भाव, एक जाननेरूप भाव तथा एक स्थिरतारूप भाव – ऐसे तीन स्वभाव भिन्न कहे हैं। तीन हैं, अनेकाकार हैं, इसकारण अशुद्ध कहे गये हैं। तीनपने का लक्ष्य करना अशुद्धता है, और त्रिकाली एकाकार का लक्ष्य करना शुद्धता है।

आजकल तो अधिकांश लोग शुभरागरूप दया, दान, भक्ति, व्रतादि के व्यवहार में अटके हैं। लोग कहते हैं कि – इन्हें साधन कहो, अन्यथा एकान्त हो जायगा। परन्तु भाई ! इन्हें आगम में जो साधन कहा है, वह तो असद्भूत व्यवहारनय से कहा है। 'निश्चय साध्य और व्यवहार साधन' ऐसा भी पंचास्तिकाय गाथा १७२ में कहा है। वहाँ तो प्रज्ञाछैनी से राग व आत्मा को भिन्न किया और प्रज्ञाछैनी द्वारा जिसने भगवान आत्मा को साधकपने परिणमाया उसको उस काल में राग की मंदता कैसी होती है – यह बताने के लिए इस पर व्यवहारसाधन का आरोप दिया है।

का कथन दो प्रकार से है, साधन दो प्रकार का नहीं है। मोक्षमार्ग का निरूपण (कथन) दो प्रकार है, किन्तु निश्चय व व्यवहार—ऐसे दो मोक्षमार्ग नहीं हैं।

यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सम्यक् परिणमन को व्यवहार कहा जा रहा है। एकस्वभावी आत्मा को एक प्रतीतिरूप से, दूसरे जाननेरूप से, तीसरे स्थिरतारूप से—इसप्रकार तीन स्वभावरूप से कहना मेचक है और एकस्वभाव वस्तु अमेचक है। यद्यपि यहाँ आत्मा को मेचक-अमेचक कहा अवश्य है तथा अमेचक को शुद्ध, आदरणीय भी कहा है; तथापि अब कहते हैं कि यह अमेचक शुद्ध है और यह मेचक अशुद्ध है—ऐसा विकल्प भी छोड़ दो।

पं० श्री राजमलजी ने कलशटीका में ऐसा लिया है कि—"श्रुतज्ञान से आत्मस्वरूप का विचार करनेपर बहुत विकल्प उत्पन्न होते हैं। एक पक्ष से विचार करनेपर आत्मा अनेकरूप है, दूसरे पक्ष से विचार करनेपर आत्मा अभेदरूप है—ऐसा विचार करते हुए तो स्वरूप अनुभव नहीं है।" इसलिए यहाँ कहते हैं कि आत्मा मेचक-अमेचक है—ऐसी चिन्ता छोड़ो। पं० बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में (१९वें कलश के हिन्दी पद्यानुवाद में) कहा है कि :—

एक देखिये जानिये, रमि रहिए इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और।।

इस छन्द में उक्त बात आ गई है। यह द्रव्यस्वभाव और यह पर्यायस्वभाव, यह अमेचक और यह मेचक, यह शुद्ध और यह अशुद्ध, यह भेद व यह अभेद;—ऐसे विकल्प करना छोड़ दो। इन विकल्पों में अटके रहने से आत्मज्ञान नहीं होता, अनुभव नहीं होता। अनुभव में इन विकल्पों को अवकाश नहीं है; अतः इन विकल्पों की चिन्ता छोड़ो।

अब कहते हैं कि—साध्य यानी मोक्षपर्याय की प्राप्ति तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है। तीन भेद करके तो समझाया गया है; आश्रय तो एक आत्मा का ही करना है। पाठ में (१६वीं गाथा में) तो ऐसा है कि 'दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं' अर्थात् पर्याय की सेवा करना। यह तो व्यवहारी लोगों को पर्याय के भेद से समझाया है, क्योंकि जगतजन भेद के बिना नहीं समझ सकते। सेवा तीन की नहीं, बल्कि सेवा तो अखण्ड एकरूप ज्ञायक की हो है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही सिद्धि है—ऐसा कहकर अन्य द्रव्य का निषेध किया है। स्वद्रव्य का

ही सहारा है, अन्य द्रव्य का सहारा नहीं है। परद्रव्यरूप 'देव-शास्त्र-गुरु' या उनकी भक्ति के विकल्प का भी मोक्षमार्ग में सहारा नहीं है – यह बात भी आगई। बहुत कठिन पड़ता है, पर क्या करें? वस्तुस्वरूप जैसा है; उसका सेवन करने से उक्त तीनों पर्यायें उत्पन्न होती हैं। इस बात को भेद से समझाया है कि इन तीन की सेवा करने से सिद्धि होती है। दूसरी कोई रीति नहीं है।

कलश १९ के भावार्थ पर प्रवचन

'आत्मा के शुद्धस्वभाव की साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष साध्य है।' साध्य है, ध्येय नहीं। ध्येय तो त्रिकाली एकरूप ज्ञायकस्वभाव है। यहाँ प्रगट करने की अपेक्षा से केवलज्ञान की मोक्षपर्याय को साध्य कहा। साक्षात् प्राप्ति अर्थात् आत्मा की उपलब्धि। जैसा आत्मा का स्वभाव है, वैसे परिपूर्णस्वभाव की पर्याय में प्राप्ति होना आत्मोपलब्धि है, यही मोक्ष है, साध्य है।

यहाँ कहते हैं कि – आत्मा मेचक है या अमेचक है अर्थात् तीन-पर्यायरूप परिणमनवाला है या एकरूप है – ऐसा विचार करते रहने से साध्यसिद्धि नहीं होती। आत्मा पर्याय में तीनप्रकार से परिणमन करनेवाला है – ऐसा भेदरूप विचार अनेकाकारपना है, अशुद्धपना है। तथा त्रिकाली वस्तु अभेद है, एकस्वभावी है, अमेचक है, निर्मल है, शुद्ध है, – ऐसा विचार भी भेद – विकल्प है। इसकारण विचारमात्र करते रहने से साध्यसिद्धि नहीं होती है। केवलज्ञान की प्राप्ति अर्थात् जैसा आत्मा है – वैसी पर्याय में उपलब्धि – प्राप्ति ऐसे विचारों से नहीं होती। परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्धस्वभाव का अवलोकन व प्रतीति (दोनों भाव), ज्ञान अर्थात् शुद्धस्वभाव का प्रत्यक्ष जानपना, और चारित्र अर्थात् शुद्धस्वभाव में स्थिरता से ही साध्य की सिद्धि होती है।

दर्शन अर्थात् त्रिकाली शुद्धस्वभाव का अवलोकन, इसमें श्रद्धा व अवलोकन दोनों भाव आगये। ज्ञान अर्थात् शुद्धस्वभाव का प्रत्यक्ष जान-पना, इसमें स्व-संवेदन ज्ञान की बात है। स्व-संवेदन अर्थात् स्वयं से स्वयं का प्रत्यक्ष वेदन करना। इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। शास्त्रज्ञान या दूसरे (बाह्य) ज्ञानों की बात यहाँ नहीं है। व्यवहारज्ञान, शास्त्र के विकल्पवाला बाहर का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। मात्र भगवान आत्मा शुद्ध एकस्वभावी है, उसका पर्याय में स्व-संवेदन ही सम्यग्ज्ञान है। और चारित्र? कहा है कि :–

'एक देखिए जानिये रमि रहिए इक ठौर'

ठौर अर्थात् स्थान। जो वस्तु अखंड अभेद है – उसे देखना, जानना और उसी में विश्राम लेना। अहा हा……! शुद्धस्वभाव में – ध्रुवधाम में स्थिरता – विश्राम-विश्राम-विश्राम ही चारित्र है। इससे ही साध्य की सिद्धि होती है। देखो! 'ही' शब्द लिया है। इससे हो और व्यवहार से भी हो – ऐसा यहाँ नहीं लिया। सम्यक्-एकान्तरूप से कहा है कि – इससे ही साध्य की सिद्धि होती है, अन्य से नहीं।

अब कहते हैं कि – यही मोक्षमार्ग है। त्रिकाली भगवान एकरूप स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और इसमें रमणता – यह एक ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग दो नहीं हैं। पण्डित श्री टोडरमलजी ने कहा है कि – मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है, मोक्षमार्ग दो प्रकार नहीं। जो स्व के आश्रय से हो वह एक ही मोक्षमार्ग है। आजकल कुछ पण्डितजन कहते हैं कि जो दो मोक्षमार्ग नहीं मानते, वे भ्रम में हैं; जबकि पहले के पण्डित श्री टोडरमलजी कहते हैं कि जो दो मोक्षमार्ग मानते हैं, वे भ्रम में हैं।

यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली एकरूप आत्मा की सेवा करने पर पर्याय में जो तीन भेद हो जाते हैं, उसे व्यवहार कहते हैं। प्रवचनसार ज्ञेय-तत्त्वप्रज्ञापन अधिकार गाथा ९४ की टीका में कहा है कि त्रिकाली भगवान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी पर्याय आत्मव्यवहार और रागादि का व्यवहार मनुष्यव्यवहार है। दया, दान, व्रत व भक्ति के विकल्प मनुष्यव्यवहार हैं, इनसे संसार होगा।

ज्ञायकस्वभावी एकरूप वस्तु आत्मा की सेवा करने से जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, उसे भूतार्थ मोक्षमार्ग कहा है, तथा रागादि (क्रियाकाण्ड) को बंधअधिकार में अभूतार्थ मोक्षमार्ग कहा है। तथा ११वीं गाथा में जो भूतार्थ कहा वह द्रव्यवस्तु को भूतार्थ कहा। वहाँ पुण्य-पापरहित, परद्रव्यरहित और एकसमय की व्यक्तपर्याय से भी रहित, जो त्रिकाली ध्रुववस्तु आत्मा है, उसे मुख्य करके, निश्चय कहकर भूतार्थ – सत्यार्थ कहा है व पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

जो भूतार्थ वस्तु है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो पर्याय परिणमती है, उसे भूतार्थ मोक्षमार्ग कहते हैं। यह सत्यार्थ मोक्षमार्ग है। यह सत्यार्थ मोक्षमार्ग भी पर्याय है, अतः व्यवहार है।

समयसार गाथा १७-१८

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

अब, इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :–

ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे ।
फिर यत्न से धन-अर्थ वो, अनुचरण राजा का करे ॥१७॥

जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से ।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष-अर्थी यत्न से ॥१८॥

गाथार्थ :– [**यथा नाम**] जैसे [**कः अपि**] कोई [**अर्थार्थिकः पुरुषः**] धन का अर्थी पुरुष [**राजानं**] राजा को [**ज्ञात्वा**] जानकर [**श्रद्दधाति**] श्रद्धा करता है, [**ततः पुनः**] और फिर [**तं प्रयत्नेन अनुचरति**] उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीति से सेवा करता है; [**एवं हि**] इसीप्रकार [**मोक्षकामेन**] मोक्ष के इच्छुक को [**जीवराजः**] जीवरूपी राजा को [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए, [**पुनः च**] और फिर [**तथा एव**] इसीप्रकार [**श्रद्धातव्यः**] उसका श्रद्धान करना चाहिए [**तु च**] और तत्पश्चात् [**स एव अनुचरितव्यः**] उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिये ।

टीका :– निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने कि यह राजा है, फिर उसी का श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी' और फिर उसी का अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे;

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवानुचरति । तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः ततः स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम् । तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं

इसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिये कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा' और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए – अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए; क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप उसकी सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् इसीप्रकार से साध्य की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से नहीं)।

इसी बात को विशेष समझाते हैं :– जब आत्मा को, अनुभव में आनेपर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होनेपर भी सर्वप्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से 'जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ' ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ, इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है – इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है – ऐसा श्रद्धान उदित होता है तब समस्त अन्यभावों का भेद होने से निःशंक स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इसप्रकार उपपत्ति है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबालगोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्ध के वश पर (– द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ – अज्ञानीजनको 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान समान है इसलिए, श्रद्धान भी उदित नहीं होता तब समस्त अन्यभावों के भेद से आत्मा में निःशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को नहीं साध सकता। इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।

भावार्थ :– साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जानने

शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः। यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरश्रृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः।

वाला अनुभव में आता है सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है, क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावों से भेद करके अपने में स्थिर हो – इसप्रकार सिद्धि होती है। किन्तु यदि जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता; और ऐसी स्थिति में स्थिरता कहाँ करेगा? इसलिये यह निश्चय है कि अन्यप्रकार से सिद्धि नहीं होती।

गाथा १७ – १८ की टीका पर प्रवचन

जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष पहले तो बहुत प्रयत्न से राजा को जानता है। उसके धन, वैभव, शरीर, कपड़ों से एवं चेहरे से पहचान करता है कि – यही राजा है, लक्ष्मीवंत है। पश्चात् उसकी श्रद्धा करता है कि यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य ही रुपया (धन) मिलेगा। तत्पश्चात् उसका आचरण करता है अर्थात् उसकी आज्ञानुसार आचरण करता है, उसकी सेवा करता है और उसे प्रसन्न करता है। देखो, यह तो दृष्टान्त है।

उसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष सर्वप्रथम आत्मा को जाने कि भगवान आत्मा क्या है, कैसा है, कहाँ है, किस प्रकार से है? – सीधी सी बात है कि प्रथम अन्तर स्व-संवेदन ज्ञान से आत्मा को जानो। अहा हा......! मोक्षार्थी पुरुष को सर्वप्रथम यही करने योग्य है।

दृष्टान्त में पहले धनार्थी है तो यहाँ मोक्षार्थी है। इसे पूर्णानन्द की प्राप्ति के सिवाय कोई प्रयोजन नहीं है; पुण्य की इच्छा नहीं है, स्वर्गादि की या किसी बड़े पद की चाह नहीं है; एक मोक्ष की ही चाह है। पर्याय में अनंत आनंद की प्राप्ति ही मोक्ष है। नियमसार में आता है कि 'आत्मा को महा-आनन्द का लाभ होना ही मोक्ष है'। बस! यह मोक्ष जिसका प्रयोजन है, वह मोक्षार्थी है। श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा है :–

लाखों बातों की एक सार बात यह है कि निज आत्मा का ध्यान करो अर्थात् पर्याय में इस आत्मा को जानो। ऐसा कहकर यह सिद्ध किया है कि 'राग की मंदता से आत्मा का ज्ञान होता है' – ऐसा कोई कहे तो यह बात ठीक नहीं है। आजकल यह बात बहुत चलती है कि पहले व्यवहाररूप दया-दान इत्यादि राग की मंदता करो, पहले थोड़ा-बहुत चारित्र हो तब पीछे समकित होता है। अरे भगवान! समकित बिना चारित्र कभी होता ही नहीं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि सातवाँ गुणस्थान आये बिना निश्चयसमकित नहीं होता, किन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ तो स्व-संवेदनज्ञान से पहले आत्मा को जानना, पीछे उसी का श्रद्धान करना – ऐसा कहा है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ऐसा आता है कि पहले सम्यग्दर्शन करो, इसके बाद ज्ञान की आराधना करना और रागद्वेष टालने लिए चारित्र ग्रहण करना; परन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान भी साथ में ही हो जाता है – ऐसा कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' तथा छहढाला की चौथी ढाल में 'सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई' – इसप्रकार लिया है। सम्यग्दर्शन की पूर्णता पहले होती है, इसलिए वहाँ पहले सम्यग्दर्शन को लिया है। यहाँ ज्ञान से बात प्रारम्भ की है, क्योंकि जाने बिना प्रतीति किसकी? जो वस्तु ज्ञान में ज्ञात ही नहीं हुई, उसकी प्रतीति कैसी?

यह अतीन्द्रिय आनंद का कंद सच्चिदानंद परमस्वभावरूप जो आत्मा है, वही मैं हूँ – ऐसी श्रद्धा करना। इस श्रद्धा में ऐसा आया कि अन्तर में जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ, वही आत्मा है। तथा उसका आचरण करने से अर्थात् उसमें एकाग्र होने से अवश्य ही कर्मों से छूट सकेंगे। देखो! उसका आचरण करने से अर्थात् जो ज्ञायकभाव ज्ञान की पर्याय में प्रत्यक्ष हुआ और जिसकी श्रद्धा हुई कि यही आत्मा है, उसी में आचरण करेंगे तो कर्मों से छूटेंगे, दूसरी कोई क्रिया नहीं है। व्यवहार में क्रिया-कांड, व्रत, तप करेंगे तो कर्मों से छूट सकेंगे – ऐसा इसकी श्रद्धा में नहीं आता।

इससे दो बातें स्पष्ट हो गईं। एक तो यह कि आत्मा को जानने के लिए किसी क्रिया-काण्ड की आवश्यकता नहीं है; दूसरे आत्मा में ठहरने से कर्म का नाश होगा, उपवासदि क्रियाकाण्ड से नहीं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में तो स्पष्ट लिखा है 'तपसा निर्जरा च'। उत्तर इस प्रकार है कि वह तो निमित्त का कथन है।

मोक्ष कहो निज शुद्धता, जे पाये ते पंथ ।
समझायो संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ ।।

उन्होंने ही आत्मसिद्धिशास्त्र के पहले ही छन्द में ऐसा कहा है :-

जे स्वरूप समझे बिना, पायो दुःख अनंत ।
समझाया ते पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवंत ।।

जो आत्मपद मुझे समझाया है, मैं उस पद को (उस आत्मा के स्वरूप को) नमस्कार करता हूँ। तथा १६ वर्ष की उम्र में उन्होंने लिखा : -

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?
संबंध दुःखमय कौन है ? स्वीकृत करूँ, परिहार क्या ?
इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिये ।
तो सर्व आत्मिकज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये ।।

यहाँ अमृतचन्द्राचार्य दृष्टान्त देकर कहते हैं कि - प्रथम तो आत्मा को जानना । 'जानना' अर्थात् स्व-संवेदनज्ञान से आत्मा को जानना । शास्त्र से, धारणाज्ञान से या गुरुगम से जानने की बात यहाँ नहीं है; किन्तु शुद्ध ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा को पर्याय में ज्ञेय बनाने से जो ज्ञान होता है, उस स्व-संवेदनज्ञान से आत्मा को जाने तब आत्मा को जाना कहा जाता है ।

ज्ञाताद्रव्य आत्मा अखण्ड, अभेद वस्तु है, और जानना पर्याय है । अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में 'सबसे पहले आत्मा को जानो' ऐसा लिया है; नवतत्त्वों को जानो या राग को जानो - ऐसा नहीं लिया । जो एक को जानता है, वह सब को जानता है । ज्ञान की पर्याय में यही आत्मा ज्ञेयपने जानना, क्योंकि सर्वप्रथम यही करने योग्य है ।

छठवीं गाथा में कहा है कि जो ज्ञायकस्वभाव है, वह शुभाशुभभाव के स्वभावरूप नहीं होता, क्योंकि शुभाशुभभाव अचेतन हैं । यह चैतन्यरस अचेतनरूप कैसे हो ? ज्ञायकभाव एकरूप चैतन्यवस्तु है । ऐसे ज्ञायकभाव आत्मा को प्रथम जानो - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं ।

भाई ! आचार्यों ने थोड़ा लिखा, उसे ही बहुत जानना ।

छहढाला में आता है :-

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ ।
तोरि सकल जग दंद-फंद, निज आतम ध्याओ ।।

लाखों बातों की एक सार बात यह है कि निज आत्मा का ध्यान करो अर्थात् पर्याय में इस आत्मा को जानो। ऐसा कहकर यह सिद्ध किया है कि 'राग की मंदता से आत्मा का ज्ञान होता है' – ऐसा कोई कहे तो यह बात ठीक नहीं है। आजकल यह बात बहुत चलती है कि पहले व्यवहाररूप दया-दान इत्यादि राग की मंदता करो, पहले थोड़ा-बहुत चारित्र हो तब पीछे समकित होता है। अरे भगवान! समकित बिना चारित्र कभी होता ही नहीं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि सातवाँ गुणस्थान आये बिना निश्चयसमकित नहीं होता, किन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ तो स्व-संवेदनज्ञान से पहले आत्मा को जानना, पीछे उसी का श्रद्धान करना – ऐसा कहा है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ऐसा आता है कि पहले सम्यग्दर्शन करो, इसके बाद ज्ञान की आराधना करना और रागद्वेष टालने लिए चारित्र ग्रहण करना; परन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान भी साथ में ही हो जाता है – ऐसा कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' तथा छहढाला की चौथी ढाल में 'सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई' – इसप्रकार लिया है। सम्यग्दर्शन की पूर्णता पहले होती है, इसलिए वहाँ पहले सम्यग्दर्शन को लिया है। यहाँ ज्ञान से बात प्रारम्भ की है, क्योंकि जाने बिना प्रतीति किसकी? जो वस्तु ज्ञान में ज्ञात ही नहीं हुई, उसकी प्रतीति कैसी?

यह अतीन्द्रिय आनंद का कंद सच्चिदानंद परमस्वभावरूप जो आत्मा है, वही मैं हूँ – ऐसी श्रद्धा करना। इस श्रद्धा में ऐसा आया कि अन्तर में जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ, वही आत्मा है। तथा उसका आचरण करने से अर्थात् उसमें एकाग्र होने से अवश्य ही कर्मों से छूट सकेंगे। देखो! उसका आचरण करने से अर्थात् जो ज्ञायकभाव ज्ञान की पर्याय में प्रत्यक्ष हुआ और जिसकी श्रद्धा हुई कि यही आत्मा है, उसी में आचरण करेंगे तो कर्मों से छूटेंगे, दूसरी कोई क्रिया नहीं है। व्यवहार में क्रिया-कांड, व्रत, तप करेंगे तो कर्मों से छूट सकेंगे – ऐसा इसकी श्रद्धा में नहीं आता।

इससे दो बातें स्पष्ट हो गईं। एक तो यह कि आत्मा को जानने के लिए किसी क्रिया-काण्ड की आवश्यकता नहीं है; दूसरे आत्मा में ठहरने से कर्म का नाश होगा, उपवासदि क्रियाकाण्ड से नहीं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में तो स्पष्ट लिखा है 'तपसा निर्जरा च'। उत्तर इस प्रकार है कि वह तो निमित्त का कथन है।

अरेरे..........! चौरासी के अवतार में यह जीव दुःखी है। इसे अपने दुःख का पता नहीं है, परन्तु यह आकुलता के ही वेदन में है, अपने वेदन में नहीं है। छहढाला में आया है कि यह आकुलता के वेदन में साधु होकर नववें ग्रैवेयक तक गया।

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।

भले ही मन्द आकुलता हो, पर है तो आकुलता ही; इसीकारण तो कहा है कि 'सुख लेश न पायो। बापू ! यह तो वीतरागस्वरूप आत्मा का मार्ग है। 'यह आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य ही कर्मों से छूटेगा' – ऐसी श्रद्धा में यह आ गया कि निज ज्ञायकभाव में जितनी रमणता करेगा उतना चारित्र होगा और उतने ही कर्मों से छूटेगा। पहले श्रद्धा में यही जाना जाता है। यह लोगों को कड़क तो लगता है, पर क्या करें ? बात तो ऐसी ही है।

यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा अकेला ज्ञेय बनकर अन्दर ज्ञान में जाना गया तब उसको 'यह आत्मा है' – ऐसी श्रद्धा हुई; तथा तभी इस श्रद्धा में ऐसा आ गया कि इस ज्ञायकभाव भगवान आत्मा के अनुचरण करने से – इसमें ठहरने से कर्मबंधन अवश्य छूटेंगे, किन्तु पंच महाव्रत के विकल्प आत्मा का अनुचरण नहीं हैं, अतः उनसे कर्मबंधन नहीं कटेंगे। अन्दर एक ज्ञायकभाव में एकाकार होना, इसी में रमना, आचरण करना, जम जाना, आनंद का वेदन करना – इससे कर्म छूटेंगे, मलिन परिणाम छूटेंगे – यह बात है। जो आत्मा में रमे उसे राम कहते हैं, जो आत्मा के सिवाय अन्यत्र रमे वह हराम (दुश्चरित्र) है। आत्मा के आनन्द में रमना, निजानन्द में रमना ही चारित्र है। लोग किसी न किसी बाह्य क्रिया और पंच महाव्रतादि को मोक्ष का मार्ग – साधन मानते हैं। किन्तु भाई ! ये कोई साधन नहीं हैं, परन्तु निमित्त से कथन करके कहा है। तीनलोक के नाथ सिद्धस्वरूपी परमात्मा का ज्ञान-श्रद्धान हो, तब उसमें स्थिरता हो इस ज्ञायकस्वरूप आनंदघन भगवान आत्मा में लीन होना, रमना, आचरण करना, स्थिर होना, यही अनुभव है, यही चारित्र है। अहा हा..........! बनारसीदासजी ने कहा है कि :-

अनुभव चिन्तामणिरतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप।।

कितने ही लोग कहते हैं कि कानजी स्वामी का यह सब एकान्त है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ तो सम्यक्-एकान्त सिद्ध करते हैं कि

आत्मा में ही आचरण करना, राग का आचरण नहीं करना। पहले अपनी श्रद्धा में तो नक्की करे कि आनन्द का नाथ प्रभु भगवान जो अन्तर में जाना गया और श्रद्धा में आया है, उसमें ही ठहरना चारित्र है; व्रत, तप, उपवास आदि चारित्र नहीं हैं। उपवास अर्थात् आत्मा के समीप बसना। उप यानी समीप और वास यानी आत्मा के समीप बसना। आत्मा में अनुभव द्वारा लीन होना ही चारित्र है। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ भगवान आत्मा ज्ञान में ज्ञात हुआ; ऐसी ही श्रद्धा हुई कि यह अन्दर अनुभव करने पर जो दीखा वही आत्मा है; और इसी में ठहरना, इसी का अनुभव करना चारित्र है। इस अनुभव की मुहर (छाप) के विषय में पाँचवीं गाथा में आता है कि 'निरन्तर झरते हुए आनन्द के स्वाद की छापवाला जो प्रचुर स्वसंवेदन – उससे जिसका जन्म हुआ है।' – ऐसे आनन्द का अनुभव, वह आत्मा का साक्षात्कार है। 'अनुभव, अनुभव' – ऐसा तो दूसरे सभी अन्यमत वाले भी कहते हैं, किन्तु वह अनुभव नहीं है।

इसप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले आत्मा को जानना, पश्चात् उसका ही श्रद्धान करना कि यही आत्मा है और इसी का आचरण करने से मैं अवश्य ही कर्मों से छूट जाऊँगा, इसके बाद उसी का अनुचरण करना – अनुभव द्वारा उसी में लीन होना, क्योंकि निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप साध्य की सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है; अन्यथा अनुपपत्ति है। जो मोक्षार्थी हुये उन्हें मोक्ष-अवस्था साध्य है। यह रागरहित, कर्मरहित निर्मल अवस्था है। इस निर्मल अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप की इसीप्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है अर्थात् इसकी प्राप्ति का यही उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है –यह अनेकान्त है। 'इससे भी प्राप्ति होती है और व्यवहार से भी प्राप्ति होती है' – ऐसा अनेकान्त नहीं है।' 'इससे ही होगा और दूसरे प्रकार से नहीं होगा' – यह अनेकान्त है।

छहढाला में आता है कि 'आतम हित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान'। कितने ही कहते हैं कि पाँच महाव्रत पालना, त्याग करना, परीषह सहन करना, इत्यादि रूप कष्ट सहन करो तो धर्म हो और केवलज्ञान की प्राप्ति हो। यहाँ तो यह कहते हैं कि 'कष्ट' धर्म नहीं है, किन्तु भगवान आत्मा में एकाग्र होने पर इसमें जो आनन्द आता है वह धर्म है। आनंद की लहर का अनुभव करते-करते केवलज्ञान पाते हैं, कष्ट सहन करते-करते केवलज्ञान नहीं पाते। भाई! वस्तु तो सहज आनन्दस्वरूप है। स्वाभाविक आनन्द के आधीन होने पर अतीन्द्रिय आनंद का वेदन करते

हुए केवलज्ञान हो जाता है। इस चैतन्यवस्तु का स्वरूप ही ऐसा है अर्थात् साध्य की सिद्धि इसीप्रकार होती है, दूसरे प्रकार से नहीं होती।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि निश्चय से तो आत्मा की सिद्धि होती ही है, किन्तु व्यवहार से भी होती है; निश्चय भी मोक्षमार्ग है और व्यवहार भी मोक्षमार्ग है; जैसा निश्चय आदरणीय है, वैसा ही व्यवहार भी आदरणीय है; किन्तु ऐसा नहीं है। अहा हा.......! अकेला भगवान आत्मा जानना, उसी का श्रद्धान करना, और उसी में स्थित होना ही एकमात्र मोक्षमार्ग है। व्यवहार को तो उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; मोक्षमार्ग एक ही है। इसका क्या तात्पर्य ? सिद्धदशारूप जो कार्य है; इसका कारण एक निश्चय ही है। दूसरा कारण हो भले, किन्तु वह केवल जानने के लिए है; वस्तुतः वह कारण नहीं है। स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है, किन्तु पक्ष-व्यामोह के कारण समझ में नहीं आती।

अब इसी बात को विशेषरूप से समझाते हैं। इस आत्मा को अनुभव में आते हुए अनेक पर्यायरूप पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, तप आदि के भेदभाव आत्मा के साथ मिश्रितरूप से रहते हुए भी – सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता होने से 'यह अनुभूति-मात्र मैं हूँ' अर्थात् ज्ञान-मात्र मैं हूँ, तथा ज्ञान में ज्ञात होते हुये दया, दान, रागादिरूप व्यवहार मैं नहीं हूँ – ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। यहाँ कहा है कि रागादि ज्ञान में ज्ञात होते हैं, किन्तु यह मोक्षमार्ग नहीं है। बारहवीं गाथा में भी कहा है कि 'व्यवहारनय उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है।' उस समय जितनी मात्रा में रागरूप अशुद्धता और वीतरागतारूप शुद्धता के अंश हैं, उन्हें जानना भेदरूप व्यवहारज्ञान है। यह जाना हुआ प्रयोजनवान है अर्थात् ज्ञात होता है, मात्र इतना प्रयोजन है; आदरणीय नहीं है। इतनी स्पष्ट बात होते हुए भी अनंतकाल से सत्यस्वरूप जाना-माना नहीं, इसलिए कठिन पड़ता है। परन्तु भाई ! इसी खोटी मान्यता में जीवन चला जायगा; अतः शीघ्र सत्य समझ लेना चाहिए।

भेदज्ञान की प्रवीणता से, राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव से, अखण्ड एक ज्ञायकरूप आत्मा को जैसा जाना, वैसी ही प्रतीति की। सम्यग्दर्शन का लक्षण प्रतीति है। पंचाध्यायी में चार बोल आये हैं – श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, व ज्ञान की पर्याय। वहाँ जो ज्ञान की पर्याय को लिया, वह तो व्यवहार की अपेक्षा कथन है। यहाँ तो यह निश्चय की बात है कि जो आत्मा ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसकी श्रद्धा का नाम प्रतीति है। और वही प्रतीति सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

आत्मा सम्पूर्ण वस्तु है। उस सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान ही आत्मज्ञान है। आत्मा के गुणों या पर्यायों का ज्ञान आत्मज्ञान नहीं है। सम्पूर्ण आत्मा अर्थात् जो त्रिकाली ध्रुव अखण्ड एक प्रतिभासमय पूर्णस्वरूप पर्याय में ज्ञात हुआ, उसका जो ज्ञान हुआ – वह आत्मज्ञान है। भाषा सीधी है, परन्तु लोग एकान्त-एकान्त कहते हैं। परन्तु भाई ! यह सम्यक्-एकान्त है, क्योंकि 'ही' शब्द पड़ा है। श्रीमद् राजचंद्र ने भी कहा है कि 'अनेकान्त का ज्ञान भी – सम्यक्-एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के सिवाय अन्य किसी हेतु से हितकारी नहीं है।' सम्यक्-एकान्त ऐसे आत्मा के हित के सिवाय दूसरा कोई अनेकान्त नहीं हो सकता।

अहाहा....! इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है – जब इसप्रकार की प्रतीति लक्षणवाला श्रद्धान उदित होता है, तब समस्त अन्य भावों का भेद होने से अर्थात दया, दान, भक्ति आदि के शुभभावरूप जो अन्यभाव हैं, उनकी पृथक्ता होने से निःशंक स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। साध्य आत्मा की सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है।

अब आगे कहते है कि जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में – जानने में सदा स्वयं आनेपर भी, अनादि-बंध के वश से स्वयं ही परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ – अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता तो उसके अभाव में, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान के समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता।

अहा हा.......! इसप्रकार यद्यपि सबको सदाकाल स्वयं आत्मा ही जानने में आता है; तथापि अज्ञानीजन कहते हैं कि आत्मा कहाँ जाना जाता है और ज्ञानी कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा को स्वयं का आत्मा ही ज्ञात होता है, किन्तु अज्ञानी इसको स्वीकार नहीं करते। पुण्य-पाप आदि जो विकल्प हैं, वे अचेतन – पर हैं। इससे ज्ञान की पर्याय में वे ऊर्ध्वपने ज्ञात नहीं होते, परन्तु जाननेवाला ही ज्ञात होता है।

इसप्रकार सबको स्वयं ही अनुभव में आता हुआ भी अनादिबंध के वश से अर्थात् अनादि कर्मबंध के कारण से नहीं, बल्कि अनादिबंध के स्वयं ही वश होने से, 'ज्ञाता-ज्ञाता-ज्ञाता मैं ही हूँ' – यह नहीं मानकर 'राग मैं हूँ' – ऐसा मानता है। यह तो सिद्धान्त है कि कर्म के कारण विकार नहीं होता, आत्मा स्वयं से ही अपनी तत्समय की योग्यता से ही अनादि से

बंधमय है, इसलिए विकार होता है। अर्थात् सबको जानन-जानन-जानन भाव ही जानने में आता है, शरीर व राग को जानता हुआ भी जानने वाला ही ज्ञात होता है; परन्तु मैं तो अनुभूतिस्वरूप आत्मा हूँ, यह जानने वाला 'मैं हूँ'– ऐसा भान अज्ञानी को नहीं है – अतः बंधन के वश पड़ा है। आत्मा के वश होना चाहिए, उसके बदले कर्म के वश पड़ा है।

पूजा में आता है कि :–

कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई॥

अब आत्मा और राग के बीच साँध है – यह बताते हैं। 'जाननेवाला ही जाना जाता है' ऐसा न जानने के कारण जाननेवाली वर्त्तमान पर्याय स्वयं स्वतन्त्रपने कर्मबंध के वश हुई है। अज्ञानी पर के साथ व पुण्य के विकल्पों के साथ एकपने का अध्यास करता है – एकत्व स्थापित करता है। 'मैं राग ही हूँ' – ऐसा मानता है, तथापि वह एकरूप हो नहीं जाता। राग और आत्मा के बीच साँध है। पत्थर के खंड करना हो तो साँध में छैनी डालकर चोट करते हैं तो पत्थर के दो फाड़ हो जाते हैं; उसीप्रकार ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा और राग के बीच साँध है। अहा हा.......! एकमेक होकर भी एक नहीं हुए, परन्तु दोनों में एकपने के भ्रम से अज्ञानी को जो राग के विकल्प उठते हैं, उनके वश होकर 'राग-विकल्प मैं ही हूँ,' ऐसा मान लेता है। परन्तु राग से भिन्न अनुभवस्वरूप निजवस्तु जुदी है, इसका भान नहीं होने से यह जानने वाला ही जाना जाता है, 'वही मैं हूँ'– ऐसा नहीं मानता।

प्रवचनसार गाथा २०० में आता है कि ज्ञायकभाव सदा ज्ञायकपने ही रहा है। ऐसा होते हुये भी अज्ञानी 'मैं राग हूँ, पुण्य हूँ' – ऐसा अन्यथा अध्यवसाय करता है। भाई! सूक्ष्म बात है। जिनेन्द्र का मार्ग जुदा है। लोग अकेले बाह्य क्रिया-काण्ड में अटक गये हैं। टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि हे प्रभु! तू तो सदा ज्ञातास्वरूप ही रहा है। जाननेवाला जाना जाता है। अहा हा..........! जाननेवाला ज्ञायक है, वही ज्ञात होता है – ऐसा न मानकर बंध के वश होकर जो ज्ञान में पर रागादि जाने जाते हैं, उनमें एकत्वपना करते हुए मूढ़ अज्ञानी को 'यह अनुभूति ही मैं हूँ' – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। सूक्ष्म बात है, यह टीका साधारण नहीं है, बहुत मर्म भरा हुआ है।

भगवान आत्मा ज्ञायकज्योति ध्रुववस्तु है। यह तो ज्ञायकस्वभाव से, परमपारिणामिकभाव से, स्वभावभावरूप से ही त्रिकाल है। राग के

साथ द्रव्य एकरूप नहीं हुआ है; किन्तु ज्ञायक जिसमें ज्ञात होता है, वह ज्ञानपर्याय भी लम्बी होकर अन्दर नहीं जाती। ज्ञायक सदा ही स्वयं ज्ञात हो रहा है, ऐसी ज्ञान की पर्याय होने पर भी यह अन्दर जो ज्ञात होता है 'वह मैं हूँ' अर्थात् इस ज्ञान की पर्याय में जो जाना जाता है 'वह मैं हूँ' – इसप्रकार अन्दर में नहीं जाकर कर्म व राग के वश हुआ बाहर में जो राग ज्ञात होता है 'वह मैं हूँ' ऐसा मानता है। अहा! आचार्यों ने सादी भाषा में मूलबात लिख दी है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर और गणधरों की गंभीरता की क्या बात? पंचम काल के सन्तों ने भी तो संक्षेप में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की कला बता दी है।

अरे भाई! तू स्वयं ही अनादि से राग व बंध के वश होने के कारण दुःखी है। तू तो निराकुल आनंद का नाथ भगवान है। परन्तु ऐसा न जानते हुये ज्ञान की पर्याय में पर के वश हुआ, 'राग मैं हूँ' – ऐसी अज्ञानता (मूढ़ता) उत्पन्न करता है। थोड़े से शब्दों में मिथ्यात्व क्या है और सम्यक्त्व कैसे होता है? यह बात की है।

बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि यह कर्म के कारण होता है, किन्तु भाई! कर्म तो जड़ हैं, वे आड़े नहीं आते। (तू स्वयं) जानने वाले को जानता नहीं और राग के वश पड़कर ऐसा मानता है कि 'मैं यह रागादि हूँ' – इसप्रकार 'अपने आपको भूल कर हैरान हो गया'। मूल सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान की बात एक तरफ पड़ी रही और मूल के बिना – सम्यग्दर्शन के बिना, त्याग – क्रियाकाण्ड में धर्म मानकर व्रत-तप आदि का पालन खूब किया। जैसे – इमली के वृक्ष में लाखों पत्ते होते हैं, उन्हें तो तोड़े और मूल (जड़) साबुत रखे, तो वह वृक्ष पन्द्रह दिन में पुनः फल-फूल जाता है – नये पत्ते आ जाते हैं; उसीप्रकार राग की मंदता की क्रियायें अनंतबार कीं, किन्तु रागरहित आत्मा का स्वरूप जाने बिना अज्ञान से मिथ्यात्व का मूल साबुत रखा; इसे उखाड़कर सम्यग्दर्शनरूपी धर्मवृक्ष की जड़ को नहीं पकड़ा।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक – यह जो जाननक्रिया द्वारा जाना जाता है 'वह मैं हूँ' – ऐसे अन्तर में नहीं जाकर जानने में आते हुए राग के वश होकर 'वह राग ही मैं हूँ' – ऐसा अज्ञानी ने माना; इसकारण आत्मज्ञान उदित नहीं होता। दर्शनमोह के उदय के कारण आत्मज्ञान उदित नहीं होता, ऐसा नहीं कहा। कोई माने कि कर्म से होता है – यह बात झूठी है। तीनकाल में भी कर्म से आत्मा का कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं होता। कर्म तो परद्रव्य है। परद्रव्य से स्वद्रव्य में कुछ होता

है – यह बात सर्वथा मिथ्या है। स्वयं स्वयं को भूलकर राग को अपना मानना मूढ़भाव है – मिथ्यात्व है; तो फिर यह स्त्री, बच्चे, कुटुम्ब, मकान, पैसा, प्रतिष्ठा वगैरह तो कहाँ रहे ? इन्हें अपना माने तो यह तो महा-मूढ़ता है ही।

राग और आत्मा के बीच साँध है, यह बात प्रवचन में पहले आ चुकी है। तीनलोक के नाथ सच्चिदानन्द प्रभु और राग के बीच साँध है – दरार है, भेद है; एकता नहीं है। लोग बाहर माथा-फोड़ी करते हैं, और जिन्दगी गुजारते हैं, पर इससे क्या हो ? जो विकार होता है, वह तेरे से ही होता है, पर के कारण – कर्म के कारण या निमित्त के कारण नहीं होता। जब तू स्वयं विकार करता है, तब कर्म आदि को निमित्त कहा जाता है – यह अनेकान्त है। यह लोगों को एकान्त लगता है, किन्तु एकान्त क्या है ? इसकी लोगों को खबर नहीं है।

'मैं ज्ञायक हूँ' – जो जाननेवाला है वही जाना जाता है, जो जाना जाता है वह ज्ञायकवस्तु है – ऐसा ज्ञान न होने पर जाननेवाली पर्याय में जो अचेतन राग ज्ञात होता है 'वह मैं हूँ' – ऐसा मानता है। दया, दान, भक्ति के विकल्प जड़ हैं – इनके ज्ञान में भासित होने पर 'यही मैं हूँ' ऐसा मानने से, इनसे रहित मैं ज्ञायक हूँ – ऐसा ज्ञान प्रगट नहीं होता। और इस आत्मज्ञान के अभाव में बिना जाना हुआ श्रद्धान गधे के सींग के समान है। इसप्रकार भगवान आत्मा जो जाननेरूप पर्याय में ज्ञात हो, 'वह मैं हूँ' – ऐसा नहीं मानता हुआ 'राग मैं हूँ' – ऐसा मानता है, उसे आत्मा का ज्ञान नहीं है। और आत्मा का ज्ञान नहीं होने से उसकी श्रद्धा भी गधे के सींग जैसी है। भगवान का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई ! बाहर से ऐसे मानें कि दया पालो, व्रत करो, यह करो, वह करो; किन्तु भाई ! राग का कर्त्ता कौन होवे ? कर्त्तापने की बुद्धि तो मिथ्यात्व है, ज्ञानस्वभावी चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा, अचेतन राग को कैसे करे ?

छठवीं गाथा में कहा है कि ज्ञायकभाव शुभाशुभपने नहीं हुआ है। यदि यह आत्मा शुभाशुभभावरूप हो जाये तो जड़ होने का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि शुभाशुभभाव में चेतन का अंश नहीं है, वह स्वयं को व पर को जानता नहीं है। इसकारण जो ज्ञायकस्वरूप चैतन्यसूर्य अचेतन शुभाशुभभावरूप हो तो चेतन अचेतन हो जायगा, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जाननेवाली पर्याय में जो जाननेवाला जाना जाता है, 'वह मैं हूँ' – ऐसा अन्तर में जानने के बदले बाहर में जो परज्ञेयरूप

राग ज्ञात होता है, 'वह मैं हूँ' – ऐसी मान्यतावाले उस अज्ञानी मूढ़जीव को आत्मज्ञान नहीं होता। इस कारण आत्मा को जाने विना श्रद्धान कैसे हो? जो वस्तु ही ख्याल में नहीं आयी तो 'यह आत्मा ऐसा है' – यह बात किसप्रकार समझ में आ सकती है। भाई! यह तो संसार का छेद करने वाली वात है। अहो! यह समयसार अद्वितीय चक्षु है। जगत के जीवों का अहोभाग्य है, जो यह समयसार सुरक्षित बच गया।

यह जाननेवाला (ज्ञायक) जाना जाता है, ऐसे आत्मज्ञान के अभाव के कारण 'यह ज्ञाता ही मैं हूँ' – ऐसा श्रद्धान उदित नहीं होता, समकित नहीं होता। राग में एकत्वबुद्धि के कारण ज्ञायकस्वरूप आत्मा का सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। समस्त अन्यभावों के भेद से भिन्न आत्मा में निःशंक-भाव से ठहरने में इसे असमर्थता है। राग से भिन्न आत्मा का ज्ञान और श्रद्धान नहीं हुआ, इससे जिसमें ठहरना है उसे जाना नहीं, इसकारण राग से भिन्न रहकर आत्मा में ठहरने में असमर्थ होने से राग में ठहरेगा। मिथ्यादृष्टि जीव जैसे रुचे वैसे शुभाशुभ क्रियाकाण्ड करता है, मुनिपना धारण करता है, व्रत-नियम पालता है, तो भी वह राग में ही रुका है। आत्मज्ञान-श्रद्धान विना ये सव राग के ही खेल हैं, इन्हीं में रमता है।

देखो, तीनों में (ज्ञान, श्रद्धान व आचरण में) उदय, उदय, उदय – ऐसा कहा है। आत्मज्ञान उदित नहीं होता। इसकारण उसको श्रद्धान भी उदित नहीं होता। इसीकारण आचरण उदित नहीं होने से आत्मा को साधता नहीं है।

आत्मसिद्धि में श्रीमद् ने कहा है :–

वर्धमान सम्यत्क्व हो, त्यागत मिथ्याभास।
उदय होय चारित्र का, वीतराग-पदवास॥

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि व्रत करो, संयम पालो, चारित्र धारण करो, तो तुमको निश्चय समकित होगा। किन्तु अरे भाई! राग की एकता में पड़ा हो, संसार-परिभ्रमण के भावों का सेवन करे और ऐसा करते-करते अपरिभ्रमणरूप समकित दशा प्रगट हो – ऐसा कैसे वने? यह तो मूल में ही वाधा है। इसका कोई समाधान (इलाज) नहीं हो सकता। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि एकान्त मत करो; थोड़ी तुम हमारी मानो, थोड़ी हम तुम्हारी माने लेते हैं अर्थात् थोड़ा तुम निमित्त से कार्य होना मानलो, थोड़ा हम उपादान से माने लेते हैं – ऐसा समाधान करलो;

परन्तु भाई ! वीतराग के मार्ग में ऐसा नहीं चलता । सत्य में समझौता नहीं चलता ।

'एक होय तीनकाल में, परमारथ का पंथ ।' भाई ! संत क्या कहते हैं, इसकी तुझे खबर नहीं है । दया-दान आदि राग का एक अंश भी आत्मा को लाभ नहीं करता । निमित्त, उपादान के कार्यकाल में उपस्थित होता है; परन्तु वह उपादान का कार्य नहीं करता । दो कारण हैं, दो कारणों में निमित्त कारण को तो औपचारिक या आरोपित कारण कहा है और यथार्थ कारण तो एक उपादान ही है ।

अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा का जिसे ज्ञान नहीं हुआ, उसे श्रद्धा भी नहीं है, और श्रद्धा बिना निःशंकपने स्वरूपस्थिरतारूप आत्मा का आचरण नहीं हुआ है । अरे रे ! ऐसा मनुष्यपना मिला, इसमें सत्य को सुना नहीं. सत्य की पहिचान की नहीं, तो फिर सत्य-स्वरूप में कैसे ठहरेगा ? यह तो राग में ही रहेगा । इसप्रकार आत्मा का आचरण उदय को प्राप्त नहीं होने से वह आत्मा को नहीं, साधता है । राग का आचरण करे अर्थात् शुक्ललेश्या के परिणाम द्वारा नवमें ग्रैवेयक जाय, किन्तु आत्मा नहीं साधता । इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथानुपपत्ति है । सिद्धपदरूप या मोक्षदशारूप साध्य की सिद्धि – उपपत्ति – प्राप्ति आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान व आचरण के सिवाय अन्य प्रकार से नहीं होती । यहाँ मोक्षपर्याय को साध्य कहा, यह तो भविष्य में प्रगट करने की अपेक्षा से है, वर्त्तमान साधनरूप पर्याय का आश्रयरूप ध्येय तो त्रिकाली शुद्धज्ञायक-भाव ही है । अन्यद्रव्य का करना या न करना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है ।

गाथा १७–१८ के भावार्थ पर प्रवचन

साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, दूसरे प्रकार से नहीं है । देखो, साध्यरूप मोक्षदशा की प्राप्ति निश्चयरत्नत्रय से है, व्यवहाररत्नत्रय से नहीं । व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो विकल्प है, राग है । शास्त्र का व्यवहारज्ञान और व्यवहारचारित्र विकल्प है, इनसे साध्यरूप आत्मा की सिद्धि नहीं है । कुछ लोग कहते हैं कि अनेकान्त करो अर्थात् ऐसा कहो कि मोक्ष की प्राप्ति निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भी होती है और व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भी होती है, परन्तु भाई ! यह अनेकान्त नहीं है, यह तो फूदड़ीवाद है । निश्चय से है, और व्यवहार से नहीं है – यह अनेकान्त है ।

इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि है, दूसरे प्रकार से नहीं है; क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह ज्ञाता अनुभव में आनेवाला ही मैं हूँ। यह ज्ञाता जो ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होता है – वह मैं हूँ। इसप्रकार बराबर जाने, पश्चात् उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान हो, बिना जाने श्रद्धान किसका ? पश्चात् समस्त अन्य भावों से – विकल्पमात्र से भेद करके स्वयं में स्थिर हो, इसप्रकार साध्य की सिद्धि होती है। परन्तु जो जाने ही नहीं अर्थात् आत्मा का ज्ञान करे ही नहीं तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता; जब श्रद्धान नहीं हो तो स्थिरता कहाँ से करे ? इसकारण दूसरे प्रकार से सिद्धि नहीं है – ऐसा निश्चय है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धि: ।। २० ।।

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव, कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेत्, तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते, स्वयंबुद्धबोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः। तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वात् ? एवमेतत्।

श्लोकार्थ :– आचार्य कहते हैं कि – [**अनन्तचैतन्यचिह्नं**] अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी [**इदम् आत्मज्योतिः**] इस आत्मज्योति का [**सततम् अनुभवामः**] हम निरन्तर अनुभव करते हैं, [**यस्मात्**] क्योंकि [**अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु**] उसके अनुभव के बिना अन्यप्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। वह आत्मज्योति ऐसी है कि [**कथम् अपि समुपात्तत्रित्वम् अपि एकतायाः अपतितम्**] जिसने किसी प्रकार से त्रित्व अङ्गीकार किया है तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई और [**अच्छम् उद्गच्छत्**] जो निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है।

भावार्थ :– आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी प्रकार पर्यायदृष्टि से त्रित्व प्राप्त है तथापि शुद्धद्रव्यदृष्टि से जो एकत्व से रहित नहीं हुई तथा जो अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त हो रही है, ऐसी आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं। यह कहने का आशय यह भी

जानना चाहिए कि जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं, वे जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा अनुभव करें।

टीका :— अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्य-स्वरूप है, अलग नहीं है, इसलिये वह ज्ञान का नित्य सेवन करता है; तब फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है? उसका समाधान :— ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप से है, तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना) अथवा बोधितबुद्धत्व (दूसरे के बताने से जानना) — इन कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। (या तो काललब्धि आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देनेवाला मिले तब जाने। जैसे सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे।) यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जानने के कारण से पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है, क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है? उसका उत्तर :— ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है।

कलश २० पर प्रवचन

जैसे मन्दिर बनाकर उसपर कलश चढ़ाते हैं; उसीप्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने टीका करके पीछे कलश चढ़ाया है। आचार्य कहते हैं कि — अनंतचैतन्य जिसका चिह्न है — अर्थात् जानना, जानना, जानना जिसका लक्षण है, पहचान है, ऐसी इस आत्मज्योति को हम निरंतर अनुभव करते हैं। अहा हा……! समय का अन्तर पड़े बिना निरंतर हम आनंद के नाथ भगवान ज्ञायक आत्मा का अनुभव करते हैं। अन्दर जो चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाववाला शक्तिरूप से पड़ा है, उस अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का हम सतत अनुभव करते हैं। उसके अनुभव बिना साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है। भगवान आत्मा का ज्ञान, इसी की सम्यक् श्रद्धा, और इसी में स्थिरतारूप चारित्र के बिना व्यवहार या निमित्त से आत्मा की सिद्धि अर्थात् मुक्ति नहीं होती।

कैसी है आत्मज्योति? जिसने किसी प्रकार तीनपना अंगीकार किया है तो भी जो एकपने से च्युत नहीं हुई। परिणमन की अपेक्षा से पर्याय में तीनपना है, तथापि यह चैतन्यज्योति सदा एक ज्ञायकपने ही रही है तथा यह चैतन्यज्योति निर्मलपने उदय को प्राप्त हो रही है। चैतन्य के प्रकाश से ही पर्याय में निर्मलपने प्रकाश फैल रहा है।

कलश २० के भावार्थ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि जिसे पर्यायदृष्टि से त्रित्व प्राप्त है, तथापि शुद्धदृष्टि से जो एकत्वरहित नहीं हुई – ऐसी आत्मज्योति का हम निरंतर अनुभव करते हैं। आत्मा शुद्धचैतन्यघन, त्रिकाल, ध्रुव, एकरूप है – यह तो स्वभाव की बात है; परन्तु इसको यह शुद्ध एकरूप चैतन्य आनन्दस्वरूप की प्रतीति-श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो परिणति होती है, वह पर्याय अपेक्षा से तीनपनेरूप परिणमन है। यहाँ पर्याय का जो तीनपने परिणमन लिया है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप लिया है; बीच में जो महाव्रतादि का राग आता है, वह नहीं लिया; क्योंकि दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, तप वगैरह का भाव राग है, धर्म नहीं है, धर्म का कारण भी नहीं है।

प्रश्न :– इसे व्यवहार से तो धर्म कहा है न ?

उत्तर :– कहा तो है, पर किसको ? अरे भाई ! सम्यग्दृष्टि मुनि के महाव्रतादि को व्यवहार से धर्म कहा है। जिनकी दृष्टि में राग का अभाव है, जिन्हें शुद्धचैतन्य के आनन्दामृत का स्वाद आया है तथा अन्तर में शान्ति की वृद्धि हुई है – ऐसे सम्यग्दृष्टियों (ज्ञानियों) को जो व्रतादि के विकल्प होते हैं, उन्हें व्यवहारधर्म, पुण्यधर्म कहा है। भाई ! यह तो जन्म-मरण से रहित होने की बात है। जिन्हें अभी स्वर्ग, सेठाई, राजा वगैरह के भव धारण करने की होंस हो, उनके लिए यह बात नहीं है।

भाई ! सुख कहाँ है – इसकी तुझे खबर नहीं है। क्या सुख पैसे में है, स्त्री के शरीर में है, आबरू में है, पुण्य-पाप के भावों में है ? – इनमें तो धूल भी कहीं सुख नहीं है। अहा हा.......! सुख तो अनाकुल आनंद रस से भरे हुए भगवान आत्मा में है। ऐसी निजसत्ता की जिन्हें स्वीकृति ही नहीं है, वे कितना भी पुण्य करें, पुण्य के फल में स्वर्गादि मिलें, किन्तु वे सब दुःखी ही हैं, चार गति में रखड़नेवाले हैं। यहाँ कहते हैं कि ऐसे अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि, ज्ञान और रमणता करने पर अतीन्द्रिय निराकुलसुख का स्वाद आता है। उस स्वाद में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग का जो तीनपने परिणमन है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है।

भक्तिवाले कहते हैं कि भगवान की भक्ति करने से धर्म होता है; दया पालनेवाले कहते हैं कि पर की रक्षा करने से – दया पालने से धर्म होता है; पैसेवाले कहते हैं कि पाँच-पचास लाख रुपया दान में खर्च क

से धर्म होता है। ये सभी झूठे हैं। धर्म तो वस्तु का स्वभाव है 'वत्थु-सहावो धम्मो'। भगवान आत्मवस्तु जो त्रिकाल आनंदस्वभावी है, उसकी दृष्टि करके, उसका ज्ञान करके, उसी में स्थिरता करना – यह वस्तु का स्वभावरूप धर्म है।

जिसे ऐसे धर्म की दृष्टि हुई है, उसकी परिणति में वर्त्तमान पर्याय-दृष्टि से देखें तो तीनपना प्राप्त है; तथापि शुद्धद्रव्यदृष्टि से वह एकपने से रहित नहीं हुई। अहा हा……! शुद्धद्रव्यदृष्टि से यह त्रिकाली आनंद-कन्द प्रभु आत्मा के एकपना है, यह बात अज्ञानी को कैसे बैठे? जहाँ थोड़ी सी भी अनुकूलता हो, बाहर में पाँच-पचास लाख का संयोग हो, वहाँ खुश हो जाता है। ऐसे रंकों को 'आत्मा आनन्दकन्द हैं' – यह बात कैसे बैठे? परन्तु भाई! -यह तो त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने ऐसा कहा है कि तू अन्दर में त्रिकाली एकरूप आनन्दस्वरूप ज्ञायकपरमात्मतत्त्व है। शुद्धद्रव्यदृष्टि से देखने पर एकपना – ज्ञायकपना कभी भी छूटा नहीं है। पर इसको यह मार्ग कठिन पड़ता है, क्योंकि पूरा दिन धंधा में – पाप में जाता है, सात-आठ घंटे नींद में चले जाते हैं, दो-तीन घंटे खाने में जाते हैं; यदि समय मिला तो किसी दिन एकाध घंटा सुनने के लिए जाता है; तो वहाँ सुनने को यह मिलता है कि व्रत करो, तप करो, उपवासादि करो, इससे तुम्हें धर्म होगा। अरे रे……! बेचारों की जिन्दगी लुट रही है – बर्बाद हो रही है। यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि व्रत, तप, दया, दान, भक्ति आदि के भाव राग के और कषाय की मन्दता के भाव हैं। ये भाव सब दुःखरूप हैं।

जैसे शकरकन्द में जो ऊपर लाल छाल है, इसे निकाल दें तो शेष सम्पूर्ण शकरकन्द मिठास का पिण्ड है; इसीतरह भगवान आत्मा में पुण्य-पाप की वृत्तियाँ, दया, दान, व्रत आदि विकल्प छाल के समान हैं; इनको दृष्टि से ओझल करके देखें तो चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा सम्पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद का कंद है। शरीर व पुण्य-पाप के विकल्पों का लक्ष्य छोड़कर अन्दर देखें तो तीन लोक का नाथ भगवान विराजमान है, किन्तु जो उसका लक्ष्य नहीं करते, उनको यह बात कैसे बैठे?

'एक दो बीड़ी पीवे तो चैन पड़े और दस्त उतरे' – जिनको ऐसा रंग बना है, उन्हें यह बात कैसे बैठे? जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी है, जिसकी उसको खबर नहीं है तथा उसे ऐसा लगता है कि यह गंध कहीं बाहर से आ रही है, इसलिए बाहर में – वन में भटकता है। उसीप्रकार

यह परमात्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनंद का कंद पड़ा है, इसकी इस जीव को खबर नहीं है, इसलिए बेचारा बाहर में आनंद के लिए निष्फल प्रयत्न करता है।

अहा हा.......! जिसको अतीन्द्रिय आनंद के एक क्षण की तुलना में या सम्यग्दर्शनादि की अनुभूति के एक क्षण के स्वाद की तुलना में इन्द्र का इन्द्रासन व इन्द्राणी के भोग सड़े-कुत्ते जैसे लगते हैं, उसे धर्मी कहते हैं। सारे दिन राग – विकल्प किया करें और इनमें मजा मानें, वे तो मूढ़ हैं। उन्हें धर्म कहाँ है? कभी पापपरिणाम छोड़कर थोड़ा-बहुत पुण्यभाव में आये – तो ऐसा समझने लगता है कि 'मैं भी कुछ हूँ'। लाख-दो लाख का दान करे और पत्थर की तख्ती पर नाम लिखवाये कि 'फलाँ की स्मृति में फलाँ व्यक्ति ने दान किया' इत्यादि। भाई! इसमें तो दया, दान के परिणाम का भी कोई ठिकाना नहीं है। कदाचित् राग की मंदता से दान करे तो भी पुण्यभाव है, धर्म नहीं। यह पुण्य का परिणाम भी दुःखमय है, दुःखरूप है। तथा पैसे को संचित करने और स्त्री-पुत्रादि के पालन-पोषणादि में तो अकेला पाप का ही परिणाम है, जो तीव्र दुःखरूप है। यह तो वीतराग का मार्ग है, भाई! आजकल तो अधिकांश लोग धर्म के नाम पर अधर्म का – पाखण्ड का पोषण करते हैं और ऐसा मानते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं; परन्तु जन्म-मरणरहित भगवान आत्मा के भान बिना यह सब संसार के या दुःख के ही कारण हैं। भाई! बड़ा राजा हो तो मर कर नरक में जाता है और बड़ा सेठ हो – करोड़पति-अरबपति सेठ हो तो मरकर तिर्यंचगति में जन्म लेता है, कुतिया की कूख में पिल्ला होता है या बकरी के पेट में जन्म लेता है। माया, कपट आदि क्रियाओं का फल ऐसा ही होता है, दूसरा कुछ नहीं होता।

अहा हा! वीतरागदेव परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि नाथ! द्रव्य-दृष्टि से या वस्तुस्वरूप की दृष्टि से देखें तो आत्मा का एकपना कभी छूटा नहीं है तथा उस एक ज्ञायकभगवान आत्मा का एकपने अनुभव करके दृष्टि, ज्ञान और रमणता करे, तो ऐसा पर्यायदृष्टि से तीनपना प्राप्त है – ऐसा जानने में आता है, बस इसकी इतनी मर्यादा है। दया, दान आदि परिणामों में तथा शरीर, मन, वाणी, या कुटुम्बादि पर में इसकी (त्रिकाली आत्मा की) सत्ता का अंश भी नहीं है।

द्रव्यदृष्टि से देखने पर जो कभी स्वरूप से रहित नहीं हुई तथा जो अनंत चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त हो रही है – ऐसी आत्म-

से धर्म होता है। ये सभी झूठे हैं। धर्म तो वस्तु का स्वभाव है 'वत्थु-सहावो धम्मो'। भगवान आत्मवस्तु जो त्रिकाल आनंदस्वभावी है, उसकी दृष्टि करके, उसका ज्ञान करके, उसी में स्थिरता करना – यह वस्तु का स्वभावरूप धर्म है।

जिसे ऐसे धर्म की दृष्टि हुई है, उसकी परिणति में वर्त्तमान पर्याय-दृष्टि से देखें तो तीनपना प्राप्त है; तथापि शुद्धद्रव्यदृष्टि से वह एकपने से रहित नहीं हुई। अहा हा........! शुद्धद्रव्यदृष्टि से यह त्रिकाली आनंद-कन्द प्रभु आत्मा के एकपना है, यह बात अज्ञानी को कैसे बैठे? जहाँ थोड़ी सी भी अनुकूलता हो, बाहर में पाँच-पचास लाख का संयोग हो, वहाँ खुश हो जाता है। ऐसे रंकों को 'आत्मा आनन्दकन्द हैं' – यह बात कैसे बैठे? परन्तु भाई! यह तो त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने ऐसा कहा है कि तू अन्दर में त्रिकाली एकरूप आनन्दस्वरूप ज्ञायकपरमात्मतत्त्व है। शुद्धद्रव्यदृष्टि से देखने पर एकपना – ज्ञायकपना कभी भी छूटा नहीं है। पर इसको यह मार्ग कठिन पड़ता है, क्योंकि पूरा दिन धंधा में – पाप में जाता है, सात-आठ घंटे नींद में चले जाते हैं, दो-तीन घंटे खाने में जाते हैं; यदि समय मिला तो किसी दिन एकाध घंटा सुनने के लिए जाता है; तो वहाँ सुनने को यह मिलता है कि व्रत करो, तप करो, उपवासादि करो, इससे तुम्हें धर्म होगा। अरे रे........! बेचारों की जिन्दगी लुट रही है – बर्बाद हो रही है। यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि व्रत, तप, दया, दान, भक्ति आदि के भाव राग के और कषाय की मन्दता के भाव हैं। ये भाव सब दुःखरूप हैं।

जैसे शकरकन्द में जो ऊपर लाल छाल है, इसे निकाल दें तो शेष सम्पूर्ण शकरकन्द मिठास का पिण्ड है; इसीतरह भगवान आत्मा में पुण्य-पाप की वृत्तियाँ, दया, दान, व्रत आदि विकल्प छाल के समान हैं; इनको दृष्टि से ओझल करके देखें तो चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा सम्पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद का कंद है। शरीर व पुण्य-पाप के विकल्पों का लक्ष्य छोड़कर अन्दर देखें तो तीन लोक का नाथ भगवान विराजमान है, किन्तु जो उसका लक्ष्य नहीं करते, उनको यह बात कैसे बैठे?

'एक दो बीड़ी पीवे तो चैन पड़े और दस्त उतरे' – जिनको ऐसा रंग बना है, उन्हें यह बात कैसे बैठे? जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी है, जिसकी उसको खबर नहीं है तथा उसे ऐसा लगता है कि यह गंध कहीं बाहर से आ रही है, इसलिए बाहर में – वन में भटकता है। उसीप्रकार

यह परमात्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनंद का कंद पड़ा है, इसकी इस जीव को खबर नहीं है, इसलिए बेचारा बाहर में आनंद के लिए निष्फल प्रयत्न करता है।

अहा हा.......! जिसको अतीन्द्रिय आनंद के एक क्षण की तुलना में या सम्यग्दर्शनादि की अनुभूति के एक क्षण के स्वाद की तुलना में इन्द्र का इन्द्रासन व इन्द्राणी के भोग सड़े-कुत्ते जैसे लगते हैं, उसे धर्मी कहते हैं। सारे दिन राग – विकल्प किया करें और इनमें मजा मानें, वे तो मूढ़ हैं। उन्हें धर्म कहाँ है ? कभी पापपरिणाम छोड़कर थोड़ा-बहुत पुण्यभाव में आये – तो ऐसा समझने लगता है कि 'मैं भी कुछ हूँ'। लाख-दो लाख का दान करे और पत्थर की तख्ती पर नाम लिखवाये कि 'फलाँ की स्मृति में फलाँ व्यक्ति ने दान किया' इत्यादि। भाई ! इसमें तो दया, दान के परिणाम का भी कोई ठिकाना नहीं है। कदाचित् राग की मंदता से दान करे तो भी पुण्यभाव है, धर्म नहीं। यह पुण्य का परिणाम भी दुःखमय है, दुःखरूप है। तथा पैसे को संचित करने और स्त्री-पुत्रादि के पालन-पोषणादि में तो अकेला पाप का ही परिणाम है, जो तीव्र दुःखरूप है। यह तो वीतराग का मार्ग है, भाई ! आजकल तो अधिकांश लोग धर्म के नाम पर अधर्म का – पाखण्ड का पोषण करते हैं और ऐसा मानते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं; परन्तु जन्म-मरणरहित भगवान आत्मा के भान बिना यह सब संसार के या दुःख के ही कारण हैं। भाई ! बड़ा राजा हो तो मर कर नरक में जाता है और बड़ा सेठ हो – करोड़पति-अरबपति सेठ हो तो मरकर तिर्यंचगति में जन्म लेता है, कुतिया की कूख में पिल्ला होता है या बकरी के पेट में जन्म लेता है। माया, कपट आदि क्रियाओं का फल ऐसा ही होता है, दूसरा कुछ नहीं होता।

अहा हा ! वीतरागदेव परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि नाथ ! द्रव्य-दृष्टि से या वस्तुस्वरूप की दृष्टि से देखें तो आत्मा का एकपना कभी छूटा नहीं है तथा उस एक ज्ञायकभगवान आत्मा का एकपने अनुभव करके दृष्टि, ज्ञान और रमणता करे, तो ऐसा पर्यायदृष्टि से तीनपना प्राप्त है – ऐसा जानने में आता है, बस इसकी इतनी मर्यादा है। दया, दान आदि परिणामों में तथा शरीर, मन, वाणी, या कुटुम्बादि पर में इसकी (त्रिकाली आत्मा की) सत्ता का अंश भी नहीं है।

द्रव्यदृष्टि से देखने पर जो कभी स्वरूप से रहित नहीं हुई तथा जो अनंत चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त हो रही है – ऐसी आत्म-

ज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं। अहा हा! अविनाशी ज्ञानस्वरूप आत्मज्योति पर्याय में प्रगट हो रही है। हम निरन्तर इसका अनुभव करते हैं अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्पों से हटकर निर्विकल्प आनंद की परिणति का हम सेवन करते हैं। यह निर्विकल्प आनंद की अनुभूति ही साक्षात् धर्म है। यद्यपि जिनवाणी में ऐसा कथन आता है कि दया, दान, पूजा आदि परम्पराधर्म हैं, परन्तु जिसकी श्रद्धा में, राग में धर्म की मान्यता छूट गई है और आत्मा के आनंद में ही धर्म की श्रद्धा हुई है, उसके शुभभाव को परम्परा से धर्म कहा है, क्योंकि उसने अशुभ को छोड़ा है और आत्मा की रुचि-श्रद्धा व प्रतीति से शुभ को भी छोड़ेगा, क्योंकि हेय मानता है। परन्तु जो शुभभाव में धर्म माने बैठे हैं, उनको यह अपेक्षा लागू नहीं पड़ती, क्योंकि वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। भाई! यह मार्ग ही जुदा है। बाहर में कितनी ही चतुराई करके मर जाय, परन्तु अरे रे! बिचारे को अंतर की चतुराई की खबर नहीं है। आचार्य कहते हैं कि हम निरंतर आत्मज्योति का अनुभव करते है, क्योंकि इस अनुभव के बिना साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है।

अब कहते हैं – ऐंसा कहने से यह आशय भी समझ लेना कि जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा ही जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं, वे भी अनुभव करें। सम्यग्दृष्टि को अतीन्द्रिय आनंद का कंद आत्मा अनुभव में आया है और प्रतीति हुई है। आचार्य कहते हैं कि साध्यरूप सिद्धदशा की सिद्धि करना हो तो अनुभूति से होगी। धवलशास्त्र में आता है कि 'निरपेक्षनयाः मिथ्या'– एक नय, दूसरे की अपेक्षा के बिना मिथ्या है। इसका अर्थ यह है कि रागादिभाव व्यवहारनय हैं, इस बात को सम्यग्दृष्टि जानते हैं। अतः इनकी उपेक्षा करके 'स्व' की अपेक्षा में आ जाते हैं। भाई! यह बात वाद-विवाद से पार पड़ने की नहीं है। पं० बनारसीदासजी तो कहते हैं कि :–

सद्गुरु कहें सहज का धंधा, वाद-विवाद करे सो अंधा।

भाई! यह तो सहज का धंधा है, वस्तु ही सहजानंद सहजस्वभाव है। आत्मा सहज प्रतीतिरूप स्वाभाविकवस्तु अंदर है। उसका दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहजपने होता है; इसमें हठ नहीं चलती। आत्मा के साध्य की सिद्धि अनुभव से होती है। समयसार नाटक में कहा है :–

अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप।।

गाथा १७-१८ की कलश २० के बाद की टीका पर प्रवचन

यहाँ कोई तर्क करता है कि आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्य-स्वरूप है, जुदा नहीं है। इससे वह ज्ञान का नित्य सेवन करता ही है, तो फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है ? यहाँ शिष्य यह कहता है कि आत्मा और ज्ञान दोनों तत्स्वरूप हैं, एकरूप हैं। जैसे शक्कर से मिठास तद्रूप है, जुदा नहीं है; जैसे अग्नि स्वभाववान और उष्णता उसका स्वभाव है – ये दोनों एकरूप हैं, जुदे नहीं हैं। उसीप्रकार आत्मा स्वभाववान और ज्ञान उसका स्वभाव है – ये दोनों एकरूप हैं, जुदे नहीं हैं, इसप्रकार ज्ञान और आत्मा दोनों अभेद हैं, एकरूप हैं। इसकारण आत्मा सदा ही ज्ञान का सेवन करता है तो फिर ज्ञान का सेवन करो, आत्मा का सेवन करो – ऐसा ज्ञान को सेवन करने का या आत्मा को सेवन करने का उपदेश क्यों दिया जाता है ?

इस शंका का समाधान इसप्रकार है कि ज्ञान और आत्मा अभेद हैं' – ऐसी अनुभवरूप पर्याय प्रगट करो, तब आत्मा की सेवा की – यह कहा जा सकता है। तीन बातें कहीं हैं (१) द्रव्य वह आत्मा (२) ज्ञान वह स्वभाव (३) जो स्वभाव की एकता करे वह एकतारूप पर्याय। कैसी गजब की बात की है कि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप से है, तथापि एकक्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता अर्थात् 'ज्ञान ही आत्मा है' – ऐसी पर्याय में एकता नहीं करता, इसकारण ज्ञान का सेवन नहीं करता। एकसमय मात्र भी 'ज्ञान ही आत्मा' – ऐसी अन्तर-अनुभवदशा इस जीव ने नहीं की अर्थात् यह ज्ञान का सेवन नहीं करता तथा पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि रूप राग का सेवन करता है।

लोग कहते हैं कि भगवान की सेवा छोड़कर अब यह सेवा करें। उनसे कहते हैं कि भाई ! भगवान की सेवा का भाव तो शुभ है, पुण्य है; निजपरमात्मा की सेवा – एकाग्रता शुद्धभाव है, धर्म है।

कर्त्ताकर्म अधिकार गाथा ६९–७० में आता है कि "जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्यसिद्ध संबंध है – ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) नहीं होने से उनके भेद को (पृथक्ता को) नहीं देखता हुआ, निःशंकतया ज्ञान में आत्मपने से प्रवर्तता है और वहाँ (ज्ञान में आत्मपने से) प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रिया के स्वभावभूत होने से, उसका निषेध नहीं किया गया है; इसलिए जानता है – जाननेरूप में परिणमित होता है।" देखो ! ज्ञान वही आत्मा है। ऐसे ज्ञान में स्वयं

रहे वह ज्ञान का – आत्मा का सेवन है । जो आत्मवस्तु है उसकी अस्ति – सत्ता ज्ञानस्वभाव के साथ तादात्म्यरूप से है, परन्तु तादात्म्यरूप है – ऐसी दृष्टि करके अपनी एकाग्रता धारण नहीं करता, इसलिए वह क्षण-मात्र भी आत्मा का सेवन नहीं करता – ऐसा कहा जाता है । अहा हा ! पर्याय को अन्तर्मुखी करके 'ज्ञान ही आत्मा' ऐसा उसके स्वरूप में एकाग्र होकर उसे जाने तो इसने ज्ञान की सेवा की – ऐसा माना जाता है । इसके सिवा सब राग की ही सेवा है; आत्मा की सेवा नहीं ।

इस ज्ञान की क्रिया बिना, आत्मा की सेवा नहीं होती । क्रिया तीनप्रकार की होती है :–

(१) जड़ की क्रिया – जड़ का परिणमना, बदलना ।

(२) विकार की क्रिया – दया, दान, व्रतादिक के शुभ परिणाम तथा हिंसा, झूठ, चोरी आदि एवं क्रोधादि के अशुभ परिणाम ।

(३) ज्ञान की क्रिया – यह जो आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप है – इसमें एकाग्र होना वह ज्ञान की क्रिया है, धार्मिकक्रिया है ।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा और ज्ञान एकरूप होते हुए भी वे एकरूप हैं – ऐसी इसने पर्याय में अनुभूति नहीं की । कैसी शैली है ? यह तो सर्वज्ञ वीतराग का पंथ है, यह कोई साधारण बात नहीं है ।

सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान के साथ है तो तद्रूपपना ही, तथापि इस (अज्ञानी जीव) ने पर्याय में आत्मा और ज्ञान के तद्रूपने की प्रतीति कहाँ की ? शिष्य प्रश्न में ऐसा तो कहता है कि आत्मा और ज्ञान तद्रूप ही हैं, शक्कर व उसकी मिठास तद्रूप हैं – इससे मिठास का सेवन करता है; फिर भी सेवन नहीं करता – ऐसा तुम कैसे कहते हो ? सुन ! भाई सुन !! शक्कर और उसका मिठास हैं तो तद्रूप ही, परन्तु जब पर्याय में इसका स्वाद आवे तभी इसकी सेवन हुआ कहलायेगा । इसीप्रकार गुण (ज्ञान) और गुणी (आत्मा) हैं तो एकरूप, पर पर्याय में जब इसका स्वाद आवे; तब इसकी सेवा की – यह कहा जावे । कुछ लोग कहते हैं कि ये बातें कहाँ से लाये, अपने जैनधर्म में तो कन्दमूल नहीं खाना, सामायिक करना, प्रतिक्रमण करना, उपवास करना आदि सब धर्म हैं – यह कहा जाता है । पर यहाँ तो कहते हैं कि ये जैनधर्म नहीं हैं, ये सब तो राग-विकार की क्रियाएँ हैं, धर्म की क्रिया तो आत्मा का अनुभव है ।

पर्याय को अन्तर्मुख करके, एकाग्रता किये बिना ज्ञान और आत्मा एकरूप हैं, इसकी ऐसी प्रतीति नहीं होती है; इसकारण इसने आत्मा की – ज्ञान की सेवा की ही नहीं है। दीन-दुखियों की, दरिद्रियों की सेवा करना या भगवान की सेवा करने की तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो कहा गया है कि भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ है, ऐसा जिसने अन्तर्मुख होकर पर्याय में जाना, उसने आत्मा की सेवा की। और यही जैनधर्म है।

छटवीं गाथा में उपासना या सेवा की बात आती है। परद्रव्य या परद्रव्य के भावों का लक्ष्य छोड़कर आत्मा के ज्ञायकभाव का सेवन करे, उपासना करे तो 'शुद्ध' कहलाता है। वहाँ विकार का लक्ष्य छोड़ने की बात मुख्यतः नहीं ली है, परन्तु जब द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य तथा द्रव्यकर्म के उदयरूप भाव – परद्रव्य के भाव; इनका लक्ष्य छोड़कर एक ज्ञायकभावरूपी आत्मा में एकाग्र हो, तब पर्याय में आत्मा की उपासना – सेवा होती है। परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर आत्मा में लीन हुआ अर्थात् विकार का लक्ष्य भी छूट गया, ऐसा वहाँ लिया है। ऐसी द्रव्य की उपासना – सेवा होती है, तब वस्तु त्रिकाली 'शुद्ध' है, यह ख्याल में आता है। त्रिकाली 'शुद्ध', 'शुद्ध' – ऐसा तो सब कोई कहते हैं, परन्तु पर्याय में अशुद्धता है – इसे कैसे टाला जाय; इसकी खबर नहीं है। इसका अर्थ यह है कि 'यह आत्मतत्त्व त्रिकाली शुद्ध है' – ऐसा जाना ही नहीं है। आत्मा ज्ञायकस्वभावी शुद्ध है – पर्याय में इस शुद्धतत्त्व का लक्ष्य करके अन्तर्मुख होकर जब शुद्धता का वेदन करे, तब वेदन में पूर्ण शुद्धद्रव्य ज्ञात होता है और तब शुद्ध माना – यह कहा जाता है। मार्ग तो यह है, परन्तु भाई ! सम्प्रदायवालों को ऐसा लगता है कि यह कैसा मार्ग है ? यह तो इन्होंने (कानजी स्वामी ने) नया मार्ग निकाला होगा ? अरे भाई ! तुझे खबर नहीं है; बापू ! आत्मा तो सर्वज्ञस्वभावी है ही, परन्तु किसको ? जिसने अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में एकाग्रता की – प्रतीति की, उसे आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। 'आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है', ऐसी सत्ता को स्वीकार किसने किया ? इस वर्तमान पर्याय ने जब सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की ओर ढ़लकर यह जाना कि आत्मा ऐसा है, तब वह शुद्ध-आत्मा श्रद्धा में आया और तब इसने आत्मा की – ज्ञान की सेवा की, ऐसा कहा जाता है।

यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तद्रूप है, तथापि वह एक क्षणमात्र ज्ञान का सेवन नहीं करता; क्योंकि पुण्य-पाप, दया, दान आदि के विकल्प ही आत्मा हैं; ऐसी इस अज्ञानी जीव की दृष्टि पर्याय में पड़ी है। ज्ञान की

पर्याय ने गुलांट खाकर यह 'ज्ञान ही आत्मा है', ऐसा कभी अनुभव किया ही नहीं है। दूसरे लोग ऐसी बातें सुनकर हल्ला मचाते हैं कि एकान्त है, एकान्त है – ऐसा शोर करते हैं; परन्तु भाई! यह सम्यक्-एकान्त है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव यह है – ऐसा पर्याय ने जाना तब सम्यक्-एकान्त हुआ। भाई! निजघर में – शुद्ध चैतन्यघन में देखे नहीं और बाहर से होहल्ला करे, परन्तु ऐसा कैसे चले ?

स्वयं वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा है। यह वीतराग की आज्ञा है। कलशटीका में आता कि 'जिनवचसि रमन्ते' अर्थात् जिनवचन कहने का भाव वीतरागता है। जिनवचन का तात्पर्य वीतरागता है। पंचास्तिकाय गाथा १७२ में सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य – ऐसी दो बातें ली हैं। सूत्रतात्पर्य सूत्रप्रमाण है और शास्त्रतात्पर्य वीतरागता है – ऐसा लिया है। चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता बताया है। वीतरागता 'स्व' का आश्रय लेने से तथा 'पर' का आश्रय छोड़ने से प्रगट होती है। जिनवचनों में शुद्धद्रव्यार्थिकनय से एक शुद्धात्मा को उपादेय कहा है। इसका अर्थ यह है कि वीतराग भाव कैसे प्रगट हो, इसका उपदेश दिया है। पर की अपेक्षा छोड़कर एक शुद्ध जीववस्तुरूप 'स्व' में जाय तब वीतरागता हो।

यह जीव आत्मा का सेवन क्यों नहीं करता ? इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि – स्वयंबुद्धत्व या बोधितबुद्धत्व – इन कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। स्वयंबुद्धत्व अर्थात् 'मैं शुद्धज्ञानघन चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ' – ऐसा स्वयं अपने आप स्व-तरफ झुकाव होकर आत्मा को जानना। तथा बोधितबुद्धत्व अर्थात् दूसरे किसी धर्मात्मा ज्ञानी द्वारा बताने पर जानना। सम्यक्त्व दो प्रकार से होता है। शास्त्र में आता है कि:– 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा'। धर्मात्मा ज्ञानी कहते हैं। कि भाई! तेरी पूँजी बड़ी है। शुद्धआत्मतत्त्व यह तेरी पूँजी है – निधान है। यहाँ देख! जहाँ तू नहीं है, वहाँ क्या देखता है ? जहाँ तू सम्पूर्ण है, उसे देख! – ऐसे उपदेश को सुनने के बाद स्वयं को जानना वह बोधितबुद्धत्व है। इसप्रकार स्वयंबुद्धत्व और बोधितबुद्धत्व – इन कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। या तो काललब्धि आवे, तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देने वाला मिले, तब जाने। जैसे सोता हुआ पुरुष या तो स्वयं जागे या कोई जगावे, तब जागे।

पर्याय में अपने आप ही 'ज्ञान ही आत्मा' – ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति हो, वह स्वयंबुद्धत्व है; अथवा काललब्धि आवे तब हो – यह दोनों एक ही बात है। काललब्धि अर्थात् क्या ? जिस पर्याय में – काल में निर्मलदशा हो

वह काललब्धि, परन्तु इसका ज्ञान सच्चा किसको हो ? जो ज्ञायकस्वभाव प्रतीति और अनुभव करे, उसे पर्याय में यह काल पका – ऐसा सच्चा ज्ञान होता है ।

सम्प्रदायवाले (स्थानकवासी) ऐसा कहते थे कि 'जब केवलज्ञानी को दीखा होगा, तब समकित आदि होगा; अपने को क्या पुरुषार्थ करना ? परन्तु एकसमय में तीनकाल तीनलोक को जाने – ऐसे केवलज्ञान का अस्तित्व जगत में है, इसका स्वीकार किये बिना केवलज्ञानी ने केवलज्ञान में देखा-जाना, ऐसा नक्की कैसे होगा ? केवलज्ञान की सत्ता जगत में अस्तिरूप से है – इसका निर्णय हुए बिना 'जो केवली को दीखा वही होगा' यह बात कहाँ से आयी ? यह सर्वज्ञ भगवान का स्वरूप जिसे श्रद्धान में बैठे, उसे ही 'केवली ने जैसा देखा है वैसा ही होगा' यह निर्णय होता है (केवली का निर्णय अर्थात् केवलज्ञान पर्याय का निर्णय पूर्ण केवलज्ञानस्वरूप आत्मा के सन्मुख हुए बिना नहीं हो सकता) । इसप्रकार जो स्वभाव-सन्मुख होकर केवलज्ञान का निर्णय करते हैं, उनका मोह अवश्य ही नाश हो जाता है और सम्यग्दर्शन हो जाता है ।

प्रवचनसार गाथा ८० में कहा है कि :–

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।

जिसने, अरहंत की एकसमय की पर्याय में केवलज्ञान है – ऐसा स्वभाव-सन्मुख होकर निर्णय किया, उसने केवलज्ञान को स्वीकार किया – ऐसा कहा जा सकता है । केवलज्ञान जो कि एकसमय की पर्याय है, उसे जो जाने, उसके भव-भ्रमण नहीं रह सकता है । सं० १९७२ में अन्दर से ऐसा भाव आया था । उससमय प्रवचनसार पढ़ा नहीं था ।

केवलज्ञान (जो कि ज्ञानगुण की पर्याय है), जिसकी स्थिति एक-समयमात्र की है, वह तीनकाल व तीनलोक को जानता है । स्वयंभूस्तोत्र में समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि – हे नाथ ! आप सर्वज्ञ हो, ऐसा हमने निर्णय किया है; क्योंकि भूत, भविष्य, वर्त्तमान सहित तीनकाल, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित इन तीनोंरूप अनंतद्रव्य आपने एकसमय में जाने । ये सर्वज्ञ सिवाय कोई नहीं जान सकता; एकसमय की केवलज्ञान पर्याय में ही यह ताकत है; 'इससे आप सर्वज्ञ हो', ऐसा हमने निश्चय किया है । इसप्रकार निश्चय होने पर केवलज्ञान स्वीकार किया कहलाता है ।

अब शिष्य पुनः पूछता है कि जब जीव को ज्ञान की उत्पत्ति स्वयं-बुद्धत्व से या बोधितबुद्धत्व से होती है, तो इसके पूर्व तो जीव अनादि से अज्ञानी – अप्रतिबुद्ध ही था ? यदि ऐसा ही है तो शिष्य का यहाँ प्रश्न यह है कि – आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी है – जाननहार स्वभाववाला, ज्ञानवाला है, तो इसे अज्ञानी क्यों कहा ?

उत्तर :– यह बात ऐसी ही है, वह अज्ञानी ही है, क्योंकि इसने आत्मा को कभी ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव ही नहीं किया है। वस्तु त्रिकाली ज्ञानस्वभावी होते हुए भी 'ज्ञान वह आत्मा' – ऐसा जबतक अनुभव नहीं किया तबतक तो अज्ञानी और मूढ़ ही है। चाहे वह दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि लाखोंबार, करोड़ोंबार, अनंतबार करे; तथापि अज्ञानी ही है, क्योंकि यह तो शुभराग है, धर्म नहीं है।

धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं। वस्तु जो आत्मा, उसमें अनंत गुण (धर्म) रहते हैं, बसते हैं – इसकारण उसे वस्तु कहते हैं। गोम्मटसार में आता है कि जिसमें अनंतगुण बसते हैं, रहते हैं, उसे वस्तु कहते हैं। अहा हा ! ज्ञान, आनंद, शांति, वीतरागता, स्वच्छता, ईश्वरता इत्यादि अनंतगुण वस्तु में बसते हैं, – ऐसी अन्तर्दृष्टिपूर्वक स्वीकार, श्रद्धा-प्रतीति करके, अनंतगुणसम्पन्न भगवान आत्मा की ओर झुकते हुए स्वभाव-सन्मुखता से जो एकता हुई, उसका नाम धर्म है। बाकी तो सब कोरी बातें हैं भाई !

जब यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं स्वतः ही एकाग्र हो; अथवा कोई समझाने वाला मिले तो उससे समझकर अन्दर में एकाग्र हो – तब यह जीव ज्ञानी होता है। शिष्य पूछता है कि यह ज्ञानी होने के पूर्व अज्ञानी था न ? तो कहते हैं कि हाँ, यह अज्ञानी ही था। भले ही वह हजारों रानियों को त्यागकर दिगम्बर साधु हुआ हो या बालब्रह्मचारी हो, तथापि जबतक जीव ने आत्मा के ज्ञानस्वभाव की एकतारूप धर्म नहीं किया, तबतक वह अज्ञानी ही है।

तर्हि कियंतं कालमयप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम् –

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।१६।।

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म ।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ।।१६।।

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु

अब यहाँ पुनः पूछते हैं कि यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है, वह कहो। उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं :–

नोकर्म कर्म जु 'मैं' अवरु, 'मैं' में कर्म नोकर्म हैं ।
यह बुद्धि जबतक जीव की, अज्ञानी तबतक वो रहे ।।१६।।

गाथार्थ :–[**यावत्**] जबतक इस आत्मा की [**कर्मणि**] ज्ञानावरणादि द्रव्यकम, भावकर्म [**च**] और [**नोकर्मणि**] शरीरादि नोकर्म में [**अहं**] 'यह मैं हूँ' [**च**] और [**अहकं कर्म नोकर्म इति**] मुझ में [आत्मा में] 'यह कर्म, नोकर्म हैं' – [**एषा खलु बुद्धिः**] ऐसी बुद्धि है, [**तावत्**] तबतक [**अप्रतिबुद्धिः**] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [**भवति**] है।

टीका – जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुये पुद्गल के स्कन्धों में 'यह घट है' इसप्रकार; और घड़े में 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदिरूप परिणत पुद्गल-स्कन्ध हैं' – इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है। इसीप्रकार कर्म – मोह आदि अन्तरङ्ग परिणाम तथा नोकर्म – शरीरादि बाह्य वस्तुयें – सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा के तिरस्कार करनेवाले हैं – उनमें 'यह मैं हूँ' इसप्रकार; और आत्मा में 'यह कर्म – मोह आदि अन्तरङ्ग तथा नोकर्म – शरीरादि बहिरङ्ग आत्म-तिरस्कारी (आत्मा के तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल-

पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोऽन्तरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतः परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति।

परिणाम हैं' इसप्रकार वस्तु के अभेद से जबतक अनुभूति है, तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है; और जब कभी, जैसे रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है; इसीप्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं; इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से जिसका मूल भेदविज्ञान है – ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी, तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।

भावार्थ :– जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभव में आते हैं, उसीप्रकार जबतक इस आत्मा को, कर्म-नोकर्म में आत्मा की और आत्मा में कर्म-नोकर्म की भ्रान्ति होती है अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं, तबतक तो वह अप्रतिबुद्ध है; और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गल के ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है वहाँ यह ज्ञात होता कि "ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पण में दिखाई दे रही है वह दर्पण की स्वच्छता ही है"; इसीप्रकार "कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में प्रविष्ट नहीं हैं। आत्माकी ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे। इसीप्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं" – ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव इस आत्मा को या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो, तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।

गाथा १९ की टीका पर प्रवचन

शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा कबतक अप्रतिबुद्ध रहता है? महाराज! आप इस आत्मा को अनादि से अप्रतिबुद्ध कहते हो, इसने अनंतबार दया, दान, व्रत, तप, ब्रह्मचर्यादि का पालन किया तथापि आत्मा का

सेवन नहीं किया – ऐसा कहते हो; अब और कब तक अप्रतिबुद्ध रहेगा; कृपा कर यह बतलाइये ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह गाथा कही गई है। यहाँ अमृतचन्द्राचार्य दृष्टान्त देते हैं कि जिसप्रकार स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुए पुद्गल-स्कन्धों में यह घट है – इसप्रकार; और घड़े में यह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदि रूप परिणत पुद्गल-स्कन्ध हैं – इस-प्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है। उसीप्रकार कर्म-मोह-शुभाशुभ रागादि अंतरंगपरिणाम तथा नोकर्म–शरीरादि बाह्यवस्तुएँ–ये सब पुद्गल-परिणाम हैं। जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण में घड़ा है और घड़े में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं; उसीतरह पुण्य-पाप के अंतरंगपरिणाम – भावकर्म, ज्ञानावरणादि जड़कर्म तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरंग पुद्गल-परिणाम हैं। अहा हा ! अन्दर में दया, दान, व्रत भक्ति, आदि रूप जो रागभाव होता है, वह बाह्य वस्तु है; क्योंकि जैसे आत्मा में ज्ञान और आनंदस्वभाव हैं, वैसे पुण्य-पाप के भाव उसका स्वभाव नहीं है।

अंतरंग में दिखाई देनेवाले पुण्य-पाप के भाव, ज्ञानावरणादि जड़कर्म तथा शरीरादि नोकर्म – ये तीनों ही पुद्गल-परिणाम आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं। देखो ! शुभ-अशुभभाव को पुद्गल-परिणाम कहा है, क्योंकि वे आत्मा का अनादर करनेवाले हैं। जो राग की रुचि-वाले भाव हैं, वे सब आत्मा का अनादर करते हैं। रागभाव स्वयं आत्मा का अनादर करनेवाला है। पुण्य-पापरूप भावकर्म, जड़द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म ये तीनों ही पुद्गल की जाति के हैं। भगवान आत्मा ज्ञान-जाति का है। पुण्य-पाप के भाव में ज्ञान के अंश का अभाव है। इन तीनों ही पुद्गल-परिणामों का चैतन्यभाव में अभाव है। ये तीनों भगवान आत्मा के परिणाम नहीं हैं, क्योंकि भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु होने से इसका परिणाम ज्ञानस्वरूप ही होता है; इसीलिए इन तीनों में चैतन्य के अंश का अभाव है। व्यवहाररत्नत्रय शुभराग है, यह पुद्गल का परिणाम है, क्योंकि यह (राग) चैतन्य से रहित (रिक्त) है।

भाई ! लोगों को ऐसा लगता है कि इन सोनगढ़ वालों ने यह बात नई निकाली है। व्रत और तप में दुःख होता है, कष्ट होता है; इसलिए सरल धर्म निकाला है। 'बस ! आत्मा जानो, आत्मा जानो' – यह इनका धर्म है।

अरे ! भगवान ! तू सुन तो सही । प्रभु ! तू चैतन्यचमत्कार वस्तु आत्मा है । इस चैतन्यचमत्कार में एकाग्र होना धर्म है । इस चैतन्यचमत्कार को छोड़कर दया, दान व्रतादि अचेतन हैं, वे ज्ञानस्वरूप चैतन्य की जाति के नहीं हैं ।

ये पुण्य-पाप आदि भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा शरीर, मन, वाणी आदि नोकर्म – इन तीनों में आत्मा है और ये तीनों आत्मा में हैं; ऐसी जिनकी मान्यता है, वे मिथ्यादृष्टि – अज्ञानी – अप्रतिबुद्ध हैं । परसत्ता का अपने में अस्तित्व मानना मिथ्यात्वभाव है । कोई कहे व्यवहार से तो है, परन्तु भाई ! व्यवहार शुभराग की क्रिया है और शुभराग अचेतन है, पुद्गल-परिणाम है । 'चेतन आत्मा अचेतन पुद्गल-परिणामों में है और पुद्गल-परिणाम आत्मा में हैं' – ऐसी मान्यता अज्ञानी की है । भले ही नग्न-साधु भी क्यों न हो, परन्तु 'राग के परिणाम में मैं हूँ और मेरे में राग के परिणाम हैं'; ऐसी मान्यता हो तो वह अज्ञानी है – अप्रतिबुद्ध है । अहा हा ! भाव-कर्म – पुण्य-पाप, मोह, राग, द्वेषादि अंतरंगपरिणाम जड़कर्म तथा नोकर्म – शरीरादि – ये सब बाह्य वस्तुएँ हैं । इन 'बाह्य वस्तुओं में मैं हूँ और बाह्य वस्तुएँ मुझ में हैं'; ऐसा मानने वाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है । अहो ! आचार्यदेव ने सत् को समझाने वाली मधुर टीका की है ।

बहिरात्मा किसे कहते हैं व अन्तरात्मा किसे कहते हैं ? जो राग की क्रिया, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति पूजा आदि भाव होते हैं, वे पुद्गल-परिणाम हैं व बाह्य हैं, उनमें 'ये मैं हूँ' और 'इनसे मुझे लाभ होता है'; ऐसा माननेवाला बहिरात्मा है । तथा मंदराग की क्रियाओं से धर्म माननेवाला – लाभ माननेवाला तथा राग की रुचिवाला बहिरात्मा है, अज्ञानी है ।

अहा हा ! यहाँ तो ढिंढोरा पीटकर कहा है । भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ धर्म अलौकिक वस्तु है । ऐसी वस्तु दूसरे स्थान पर कहीं नहीं है, परन्तु जिसने दिगम्बर जैन के घर में जन्म लिया है, उसे भी खबर नहीं हैं । यहाँ तीन बातें कहते हैं – (१) पुण्य-पापरूपभावकर्म, ज्ञानावरणादि जड़द्रव्यकर्म एवं शरीरादि नोकर्म – ये तीनों ही पुद्गल-परिणाम हैं । (२) ये आत्मा के तिरस्कार करनेवाले हैं तथा (३) ऐसा होते हुए भी 'उनमें मैं हूँ और वे परिणाम मेरे हैं' – इसप्रकार उक्त तीनों में जबतक वस्तु के अभेद से अनुभूति है तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है – मिथ्यादृष्टि है । कहते हैं कि शुभराग आदि पुद्गल-परिणाम हैं, वे जीवस्वभाव में नहीं हैं, जीव के तिरस्कार करनेवाले हैं; इसकारण पुण्यभाव आदि भावकर्म

तथा शरीर, मन, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि नोकर्म में प्रेम – आदर करेगा अथवा उनसे स्वयं को लाभ मानेगा तो भगवान आत्मा का अनादर होगा। उक्त तीनों में अभेदपने की अनुभूति मिथ्यादर्शन है, अज्ञान है।

अनुभूति तो सम्यग्दर्शन है, यहाँ अनुभूति को अज्ञान क्यों कहा ? अरे, अनुभूति से भी क्या ?– यह जो जड़ की अनुभूति है, अतः अज्ञान है। वस्तुतः इसे अनुभूति कहते ही नहीं हैं। अनुभूति अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप स्वभाव का अनुसरण करके परिणमता आत्मा की अनुभूति है; परन्तु जड़ या राग का अनुसरण करके परिणमना आत्मा की अनुभूति नहीं है। पहले दूसरी गाथा में यह बात आ गई है।

अहा हा ! क्या कहा ? जड़कर्म और शरीरादि नोकर्म तो पुद्गल-परिणाम हैं ही, किन्तु यह आत्मा जो एक ज्ञायकभाव ज्ञातादृष्टा चैतन्य-चमत्कार वस्तु है, उसमें होने वाले क्षणिक पुण्य-पाप के जो भाव हैं, वे भी पुद्गल-परिणाम हैं, अचेतन हैं। यह चैतन्य-चमत्कार ज्ञायकभावरूप आत्मा एक वस्तु, और पुण्य-पाप के भाव दूसरी वस्तु; ये दोनों वस्तुयें भिन्न होते हुए भी, दृष्टि में जबतक दोनों में एकपने की अभेद बुद्धि है, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध – अज्ञानी है। भले ही लाखों शास्त्र पढ़े हों, तथापि अज्ञानी ही है।

यहाँ कोई कहे कि इसमें थोड़ी सी ढील करो यानी ऐसा कहो कि 'राग से थोड़ा लाभ भी होता है, थोड़ी हानि भी होती है' – इसप्रकार स्याद्वाद करो। ऐसा करने से हम सब एक हो जावेंगे। परन्तु भाई ! इसमें ढील करने का – समझौता करने का सवाल ही कहाँ है ? त्रिलोकीनाथ भगवान व संत जाहिर करते हैं कि तू चैतन्य-चमत्कारी वस्तु है। तुझमें चैतन्य-चमत्कार की ईश्वरता भरी हुई है। ऐसे निज-आत्मस्वरूप को दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभावरूप जाने और माने एवं ये शुभभाव मेरे हैं और इनसे मुझे लाभ (धर्म) होगा; ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि – अज्ञानी है, मूढ़ है, जैन नहीं है।

नये लोगों को जरा कठिन लगता है। पहले से सुन रखा है कि व्रत, तप, यात्रा आदि करो, इनसे धर्म हो जावेगा; परन्तु किसकी यात्रा ? भाई ! बाहर की या अंदर की ? तीर्थ को जावें, पर किस तीर्थ को ? आत्मा के अंदर या आत्मा के बाहर ? बेचारों को कोई खबर ही नहीं है। भगवान आत्मा स्वयं तीर्थरूप है, देवरूप है। यह परमानंद स्वभाववाला द्रव्य है। उसके अन्दर यात्रा करो – अन्दर जाओ; यह धर्म है। बाहर

की यात्रा तो राग की क्रिया है, यह राग की क्रिया जो आत्मा का तिरस्कार करनेवाली है, इससे लाभ होगा – ऐसी मान्यता तो अज्ञानी की है। भाई ! व्रत, तप, आदि शुभभाव तो पुद्गल के परिणाम हैं, अचेतन हैं। जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बंधता है वह भाव भी पुद्गल-परिणाम है, अचेतन है, इसमें चैतन्य की जाति नहीं है। इस कारण भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा शरीरादिक नोकर्म – इन बाह्यवस्तुओं के साथ जबतक एकपने की – अभेदपने की अनुभूति है तबतक वह अप्रतिबुद्ध है, वहिरात्मा है। तथा ये तीनों हो पुद्गल के परिणाम बाह्यवस्तु होने से मेरे में नहीं हैं – ऐसा मानकर जो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वभावरूप एक ज्ञायकभाव आत्मा की श्रद्धा करके उसके साथ ही एकपने से निर्मल-ज्ञान-आनन्द की अनुभूति करे, वह अन्तरात्मा है। तथा जिसको अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की पूर्णदशा प्रगट हुई है – वह परमात्मा है। यह बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की व्याख्या है।

पहले घड़े का दृष्टान्त दिया। अब दर्पण का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे रूपीदर्पण की स्व-पर के आकार को प्रतिभासित करनेवाली उसकी स्वच्छता ही है। उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है। जब दर्पण के सामनें अग्नि हो, तब दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह दर्पण की स्वच्छता की पर्याय है, अग्नि की पर्याय नहीं है। जो बाहर में ज्वाला व उष्णता है, वह अग्नि की है; परन्तु दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह तो दर्पण की ही स्व-पर के आकार को – स्वरूप को प्रतिभासित करनेवाली स्वच्छता है। उसीप्रकार अरूपी आत्मा की तो स्व व पर को जाननेवाली ज्ञातृता (ज्ञातापना) ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के ही हैं।

राग, दया, दान, पुण्य-पाप आदि विकल्पों के आकार अर्थात् ज्ञेयाकाररूप जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान की पर्याय है, रागरूप ज्ञेय की नहीं है। जैसे अग्नि की पर्याय अग्नि में रही, परन्तु उसका आकार जो दर्पण में दिखता है–वह आकार अग्नि की पर्याय नहीं है वह तो दर्पण की स्वच्छता की आकृति की पर्याय है। उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञेयाकाररूप स्वयं का ज्ञान करता है और दया, दान, व्रत आदि विकल्पों का – परका ज्ञान होता है, वह उसकी स्वयं की ज्ञानपर्याय में होता है। पर का ज्ञान पर में होता हो ऐसा तो नहीं है, परन्तु परके कारण भी नहीं होता है। अपने ज्ञान की स्वच्छत्वशक्ति के कारण होता है।

अपना ज्ञान होना और पर राग का ज्ञान होना – यह तो अपने ज्ञान की परणति का स्वपर-प्रकाशक स्वभाव है। राग है, इसकारण राग का ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है; परन्तु उस काल में अपनी ज्ञान की पर्याय स्वयं राग के ज्ञेयाकाररूप से परिणमित होती हुयी स्वयं ज्ञानाकाररूप हुई है। वह स्वयं से हुयी है, स्वयं में हुयी है; पर से (ज्ञेय से) नहीं हुयी है। अरूपी आत्मा को तो अपने और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है। यह ज्ञातृता स्वयं की है, स्वयं से सहज है; राग से नहीं, और राग की भी नहीं। राग है, इसलिए राग का जानना होता है, ऐसा नहीं है। वस्तु का सहज स्वरूप ही ऐसा है। अहो! आचार्यदेव ने मीठी, मधुर भाषा में वस्तु को भिन्न करके बतलाया है – इसमें ठहरे तो तेरा कल्याण होगा।

जैसे रूपीदर्पण की स्वच्छता में स्व-पर का प्रतिभास करने की स्वयं की शक्ति है। उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय में अपना ज्ञान होना और पर-व्यवहाररत्नत्रय का ज्ञान होना; यह स्व-पर को जाननेरूप परिणमन होना, अपनी शक्ति के कारण है; परन्तु राग (व्यवहाररत्नत्रय) के कारण भी नहीं और राग में भी नहीं। १२वीं गाथा में आता है कि उसकाल में व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है – वह इसका ही स्पष्टीकरण है। अपनी ज्ञान की पर्याय स्वयं को जानती है और राग को जानती है। ज्ञेय-रूप से राग है, इसकारण राग का ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है; परन्तु उस काल में अपनी ज्ञानपर्याय ही ऐसी स्वपर-प्रकाशक प्रगट होती है। ऐसा मार्ग है भाई! पर यह बनिया व्यापार करे; स्त्री, पुत्रादि का पालन करे; कि यहाँ सुनने बैठे? अरे! यह व्यापारादि कुछ करता ही नहीं है, यह तो राग और द्वेष करता है। क्या यह व्यापार कर सकता है, पर की क्रिया कर सकता है? नहीं कर सकता, क्योंकि वे तो जड़रूप हैं।

पहले घड़े का दृष्टान्त देकर अब दर्पण का दृष्टान्त देते हैं। घड़े के दृष्टान्त में तो जैसे वर्ण, रस, गंध, स्पर्श में घड़ा है और घड़े में वर्ण, रस, गंध, स्पर्श हैं; उसीप्रकार पुण्य-पाप में मैं हूँ और मेरे में ये पुण्य-पाप हैं – ऐसी अनुभूति को अज्ञान कहा था। अब इस दर्पण के दृष्टान्त में कहा है कि लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान है – ऐसा नहीं है। ज्ञान की स्वपर-प्रकाशक परिणति तो अपने स्वयं के स्वभाव से होती है, लोकालोक से नहीं। 'स्व-पर का प्रतिभासित होना' – यह स्वयं की सहज सामर्थ्य है। 'परपदार्थ हैं, इसकारण उनका ज्ञान होता है' – ऐसा नहीं है। आत्मा की तो स्व-पर को जाननेवाली ज्ञातृता है। उसमें कर्म व नोकर्म पुद्गल के हैं – ऐसा ज्ञात होता है। जिसका मूल भेदविज्ञान है अर्थात् राग से और

शरीरादि परद्रव्यों से भिन्नता करना, जिसका मूल है; ऐसी अनुभूति जब होगी, तभी आत्मा प्रतिबुद्ध होगा।

गाथा १९ के भावार्थ पर प्रवचन

जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है; उसीप्रकार जबतक आत्मा को कर्म – जड़कर्म, अंतरंग रागादि भावकर्म, तथा नोकर्म – शरीर, मन, वाणी इत्यादि में आत्मा की और आत्मा में कर्म, नोकर्म की भ्रान्ति होती है, तबतक वह अप्रतिबुद्ध है।

भगवान आनंदस्वरूप ज्ञायक आत्मा है। इस जीव को जबतक ऐसी भ्रान्ति है कि 'राग मैं हूँ, अथवा राग मेरे में है', तबतक वह मिथ्यादृष्टि है। कितने ही कहते हैं कि व्यवहार – राग करते-करते निश्चय आत्मा की अनुभूति हो जाती है, परन्तु ऐसा नहीं है। ये राग तो विकल्परूप है और आत्मा तो निर्विकल्परूप आनन्दकन्द है। आत्मा तो शुद्ध, पवित्र, आनंदघनरूप है और व्यवहार या शुभभाव तो जड़स्वभावी, अशुद्ध, अपवित्र और दुःखरूप है। इससे 'आत्मा राग है या राग आत्मा है' – ऐसी एकपने की मान्यता भ्रम है। जीव को जबतक ये दोनों एकरूप भासते हैं, तबतक वह अज्ञानी – अप्रतिबुद्ध रहता है। पुण्य-पाप के भाव स्वरूप में नहीं हैं; ये तो स्वरूप का तिरस्कार करनेवाले – अनादर करनेवाले हैं। ऐसे होते हुए भी ये एकरूप भासते हैं, यही अज्ञान है।

जब यह आत्मा ऐसा जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है तथा कर्म, नोकर्म पुद्गल के ही हैं, तब ही वह प्रतिबुद्ध होता है। यह जो ज्ञाता है, वही आत्मा है; जो जानता है, वही आत्मा है और पर की ओर के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ रागादि भावकर्म और शरीर, मन, वाणी इत्यादि नोकर्म पुद्गल के ही हैं। देखो ! पैसा, स्त्री, लड़का, लड़की, व्यापार, धंधा – ये तो बहुत दूर हैं, ये तो सब पुद्गल की पर्याय की ही बात है। इस चैतन्य ज्ञायक की सत्ता में राग की सत्ता नहीं है और राग की सत्ता में ज्ञायक भगवान की सत्ता नहीं है। इसीप्रकार शरीर की सत्ता में आत्मा की सत्ता नहीं है और आत्मा की सत्ता में शरीर की सत्ता नहीं है। भगवान की भक्ति व्रत या तप का विकल्प आवे; उपवास करूँ, ब्रह्मचर्य पालूँ – ऐसा शुभराग आवे; परन्तु इस शुभराग की सत्ता में चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं है तथा चैतन्यस्वरूप आत्मा में यह शुभराग की सत्ता नहीं है। – ऐसा जिसको भेदज्ञान हो, वह प्रतिबुद्ध होता है।

जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दीखती है – तो वहाँ ऐसा ज्ञान बराबर रहता है कि ज्वाला तो अग्नि में ही है, दर्पण में ज्वाला ने प्रवेश

नहीं किया। दर्पण में जो दीख रही है, वह तो दर्पण की ही स्वच्छता है। दर्पण में जो अग्नि की ज्वाला (प्रतिबिम्ब) दीखती है, वह अग्नि की नहीं है और अग्नि से भी नहीं है। यह तो दर्पण की स्वच्छता की दशा है। दर्पण की स्वच्छता का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपनी स्वच्छता को बताती है और सामने की वस्तु का जो प्रतिभास हो. उसे भी बताती है। वस्तुतः दर्पण में जो दिखाई देता है, वह ज्वाला नहीं है – वह तो दर्पण की स्वच्छता ही है।

जैसे सामने दर्पण में पिघलते हुए बर्फ का प्रतिबिम्ब दिखाई दे तो वह प्रतिबिम्ब बर्फ के कारण तो दिखाई नहीं देता, परन्तु उसकाल में दर्पण की स्वच्छता का ही परिणमन उसरूप है; बर्फ के अस्तित्व के कारण वह प्रतिबिम्ब नहीं है। उसीप्रकार जिसकी सत्ता में आनंद और ज्ञान भरा है, अतः राग का जो ज्ञान होता है – वह तो इसकी सत्ता में है, परन्तु राग इसकी सत्ता में नहीं है। भगवान आत्मा ज्ञानज्योति चैतन्यदर्पण है; इसमें शुभाशुभभाव की जो वृत्तियाँ हैं, उनका प्रतिभास – ज्ञान होता है। इस ज्ञान का अस्तित्व तो स्वयं में है, परन्तु शुभाशुभ की वृत्तियों का अस्तित्व आत्मा में नहीं है। ज्ञान में शुभाशुभ वृत्तियाँ ज्ञात होती हैं और आत्मा ज्ञात होता है, परन्तु पर के (शुभाशुभभाव के) कारण ज्ञान का अस्तित्व नहीं है, तथा राग है इसलिए राग का ज्ञान हुआ – ऐसा भी नहीं है; अर्थात् राग, राग के ज्ञान का भी कारण नहीं है।

भाई! जिनेश्वर के मार्ग का धर्म तो ऐसा है। अन्दर चैतन्यबिम्ब पड़ा है। उसके सामने जो वस्तु है उस ज्ञेयवस्तु को जानना, यह तो उससमय की ज्ञान-पर्याय का धर्म है; परन्तु वस्तुतः तो यह ज्ञेय-संबंधी स्वयं की जो ज्ञान की परणति है, उसे जानता है। सब अज्ञानी कहते हैं कि देव-गुरु की भक्ति करो, उससे धर्म का मार्ग मिल जायगा। यहाँ कहते हैं कि भक्ति तो राग है। यह राग जब होता है उसीसमय ज्ञान स्व व पर को जानता हुआ परिणमता है, ऐसी पर्याय की ताकत से यह राग को जान रहा है। 'राग को जान रहा' – यह कथन भी व्यवहार से है, निश्चय से तो यह राग-सम्बन्धी ज्ञान और अपने सम्बन्धी ज्ञान को ही जान रहा है। मूल बात – प्रारंभिक दशा समझी नहीं, तो चारित्र व व्रत कहाँ से आवें। एक के विना विन्दियों की क्या कीमत?

भगवान आत्मा ज्ञायकभाव-स्वभावरूप है। इसमें व्यवहाररत्नत्रय का जो राग होता है, उस राग के ज्ञानरूप भी उस काल में अपना ज्ञान ही परिणमता है। वह ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमता है – ऐसा कहना, वह व्यवहार;

तथा ज्ञानाकार होकर ही रहा – यह निश्चय है। भाई! यहाँ तो वस्तु के तल में जाय तो पता चले – ऐसी बात है। किसी को ऐसा लगता है कि यह तो निश्चयाभास है। भगवान! तुझे स्वभाव की सत्ता की खबर नहीं है। भगवान आत्मा की सत्ता ज्ञान के अस्तित्व से है। इसमें व्यवहार के जो विकल्प उठते हैं, उनका जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान की परणति स्वभाव से होती है, राग के कारण नहीं। उस काल में स्व-पर को जाननेवाली परणति अपने अस्तित्व के कारण उत्पन्न होती है, राग के कारण नहीं। भगवान आत्मा का स्व-पर को प्रकाशित करनेवाला चैतन्यप्रकाश ही ऐसा है कि जैसे दर्पण में सामने की वस्तु के बिम्ब का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; उसीप्रकार ज्ञान में रागादि, कर्म, नोकर्म, जो ज्ञेय हैं, वे प्रतिभासित होते हैं, इसकारण राग के काल में राग का जो ज्ञान होता है, वह राग के कारण नहीं, परन्तु ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य के कारण होता है। जब राग का ज्ञान, राग के कारण नहीं है तो फिर राग से (राग करते-करते) आत्मा की निर्मल दशा कैसे प्रगट हो?

भाई! ज्ञान की सामर्थ्य कोई अचिन्त्य है। जिस काल में जैसे रागादि (ज्ञेय) हों, वैसा ही ज्ञान हो जाता है; यह ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य है। ऐसा होते हुए भी यह राग है, इसलिए इस राग का ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है; क्योंकि राग के अस्तित्व से ज्ञान की परणति का अस्तित्व भिन्न है। यह तो स्वतंत्रता की घोषणा है। भाई! रागादि पर है और पर्याय में रागादि का ज्ञान है – वह मेरा है; ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव तब होता है जबकि रागादि का लक्ष्य छोड़कर अपने लक्ष्य में आवे; तब ही इसकी परणति में भेदज्ञान होता है। शरीर, मन, वाणी, इत्यादि नोकर्म और रागादि भावकर्म ये सब पर-पुद्गल के ही हैं और इन ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान (मेरा) ज्ञायक का है – ऐसी भिन्नता जानकर एक ज्ञायक की सत्ता में ही जो लक्ष्य करे, उसे भेदज्ञान होता है। यह भेदज्ञानरूप अनुभव या तो स्वयमेव 'निसर्गात्' अथवा पर-उपदेश से 'अधिगमात्' जब होता है, तब ही वह प्रतिबुद्ध होता है। जब भी होगा, तब होगा तो इसी रीति से; दूसरी कोई रीति नहीं है। निमित्त आवे तो उपादान में कार्य हो – ऐसा नहीं है। भाई! उपादान के काल में स्व-पर प्रकाशक परणति स्वयं अपने से होती है, उस काल में निमित्त भी वहाँ होता तो है; परन्तु निमित्त के कारण या निमित्त की सत्ता है, इसकारण इसको ज्ञानपरणति उत्पन्न हुई है – ऐसा नहीं है।

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(मालिनी)

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ।।२१।।

श्लोकार्थः – [**ये**] जो पुरुष [**स्वतः वा अन्यतः वा**] अपने आप ही अथवा पर के उपदेश से, [**कथम् अपि हि**] किसी भी प्रकार से [**भेदविज्ञानमूलाम्**] भेदविज्ञान, जिसका मूल उत्पत्तिकारण है – ऐसी अपने आत्मा की [**अचलितम्**] अविचल [**अनुभूतिम्**] अनुभूति को [**लभन्ते**] प्राप्त करते हैं, [**ते एव**] वे ही पुरुष [**मुकुरवत्**] दर्पण की भाँति [**प्रतिफलन-निमग्न-अनन्त-भाव-स्वभावैः**] अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्तभावों के स्वभावों से [**सन्ततं**] निरन्तर [**अविकाराः**] विकाररहित [**स्युः**] होते हैं,– ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं; उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते ।

कलश २१ पर प्रवचन

जो पुरुष स्वतः या पर के उपदेश से – किसी भी प्रकार से भेदज्ञान जिसका मूल है – ऐसी अविचल-अनुभूति को पाता है, भेदज्ञान प्रगटकर राग से भिन्न जो ज्ञायकस्वरूप निजद्रव्य है, उसका लक्ष्य करता है; वह जीव आत्मा की अविचल-अनुभूति को प्राप्त करता है ।

अरे भाई ! चारों गतियों में भटकते-भटकते अनंतकाल गया । मिथ्याभ्रमणा में पड़कर अनंतभव के अनंत अवतार धारण किये, परन्तु यह आत्मा उन सब दुःखों को भूल गया है । यह भ्रमणा दूर हो तो भव का अंत हो । यह भ्रमणा दूर कैसे हो ? तो कहते हैं कि जब किसी भी प्रकार से अर्थात् महापुरुषार्थ करके भगवानज्ञायकस्वरूप निज-आत्मा पर दृष्टि करने पर राग से भिन्न हो जाता है, तब भ्रमणा स्वयं दूर हो जाती है । मोक्ष अधिकार गाथा २९४ में शिष्य का प्रश्न है कि 'आत्मा और बंध – दोनों को किसप्रकार भिन्न किया जा सकता है ? उसका समाधान आचार्यदेव ने किया है कि आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षण के मध्य सूक्ष्म-अन्तःसंधि में प्रज्ञाछैनी को सावधानीपूर्वक पटकने से – डालने से उसे छेदा जा सकता है – ऐसा हमें जानना चाहिए । अर्थात् प्रज्ञा – ज्ञानपर्याय को राग से भिन्न करके पश्चात् द्रव्य में एकता करने से पर को (रागादि

को) छेद सकते हैं। इसप्रकार स्वयं से अथवा पर के उपदेश से – किसी भी प्रकार से अर्थात् महापुरुषार्थ से जब यह अनुभूति (ज्ञान) राग का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य का (ज्ञायक का) लक्ष्य करे, तब भेदविज्ञान जिसका मूल है; ऐसी आत्मा की अनुभूति उत्पन्न होती है।

'भेदविज्ञान जिसका मूलकारण है' – ऐसा क्यों कहा? उसका समाधान :– कोई ऐसा कहे कि राग की मंदता करते-करते अर्थात् शुभभाव करते-करते अनुभूति हो जाती है, तो उसका यह कथन ठीक नहीं है; किन्तु राग और आत्मा का भिन्न-भिन्न लक्षण पहचानकर, राग का लक्ष्य छोड़कर प्रज्ञाछैनी यानी ज्ञान की परिणति द्वारा आत्मा और रागादि के बीच जो बंध है, उस बंध को छेदनेरूप – जुदा करनेरूप भेदज्ञान जिसको हो जाता है, वह ऐसी अविचल अपनी आत्मा की अनुभूति को पाता है। भगवान आत्मा की अनुभूति का मूलकारण भेदज्ञान तो कहा है, किन्तु व्यवहार-साधन – शुभराग को आत्मानुभूति का कारण नहीं कहा। देखो, इसमें व्यवहार साधनरूप शुभभाव का निषेध आ जाता है।

भाई! यह तो धीर-वीरों का काम है। पहले विकल्प द्वारा लक्ष्य में – प्रतीति में तो लेवें कि अन्तर का अनुभव भेदविज्ञान के कारण होता है, पर से भिन्न पड़ने से होता है। पर या जिससे जुदा होना है; उससे क्या अनुभूति हो सकती है? रागादि क्रिया – भले ही वह पंचमहाव्रतादि-रूप हो, उससे तो जुदा (भिन्न) होना है। जिससे भिन्न होना है, वे रागादि यहाँ साधन कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। भाई! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है; तत्त्व बहुत गंभीर है।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि राग की मंदतारूप शुभोपयोग तो अनुभव के पूर्व होता है। अनुभव भले ही इससे जुदा हो, परन्तु अनुभव के पूर्व का अन्तिम मन्दतम-भावरूप शुभोपयोग तो अनुभव का साधन होता है। अशुभोपयोग के अनन्तर तो भेदज्ञान होता नहीं है, इसलिए अशुभोपयोग साधन नहीं बन सकता; परन्तु शुभोपयोग के अनन्तर अनुभव होता है, अतः शुभोपयोग तो सच्चा साधन हुआ? उत्तर इसप्रकार है: – अन्तिम जो शुभोपयोग है, उससे भी भिन्न होना है, तो भिन्न पड़ने में शुभोपयोग ने क्या मदद की? कुछ भी मदद नहीं की। इस शुभराग के काल में राग से भेदज्ञान अनुभूति का कारण होता है, किन्तु राग के कारण अनुभूति नहीं होती।

प्रश्न :– 'भेदविज्ञानमूलां' – ऐसा लिखा है। इसका अर्थ हुआ भेद-विज्ञान जिसका मूल कारण है और इससे भिन्न शुभोपयोग दूसरा कारण

है – इसप्रकार दो कारणों से कार्य होता है। अष्टसहस्त्री में भी दो कारण आते हैं।

उत्तर :– यह तो राग के अस्तित्व का ज्ञान कराया है। यहाँ तो राग से भेदविज्ञान, अनुभूति का कारण है – ऐसा कहा है। अन्तिम शुभराग था, इसकारण उससे कुछ मदद हुई; ऐसा नहीं है।

अब कहते हैं कि जो पुरुष किसी भी प्रकार से – स्वयं से या पर के उपदेश से, अंतःस्वभाव के लक्ष्य से – स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से राग से भेद करके भेदज्ञान द्वारा अविचल-अनुभूति को प्राप्त करता है; वही पुरुष दर्पण की तरह स्वयं में प्रतिबिम्बित हुये अनंतभावों के स्वभाव से निरन्तर विकाररहित होता है।

यहाँ कहते हैं कि अनुभूति की या ज्ञान की पर्याय में अपने में प्रतिबिम्बित हुये अनंतज्ञेयों के स्वभाव जानने में आये। शरीर की पर्याय, वाणी की पर्याय·······आदि ज्ञान की पर्याय में सभी अनंतभाव अपने-अपने कारण जानने में आये। ज्ञेयों का ज्ञान तो हुआ, परन्तु ज्ञेयों-संबंधी विकार नहीं हुआ। यह ज्ञेयों का ज्ञान निर्विकारी है। ज्ञान में जो ज्ञेयों का आकार प्रतिभासित होता है, उससे भेदज्ञानी पुरुष विकार को प्राप्त नहीं होते, यह ज्ञानपर्याय की स्वयं सहज सामर्थ्य है। इसकारण वे स्व और पर को अपने अस्तित्व में जानते हैं। अनंतज्ञेयों के स्वभाव को जानते हुए भी वह ज्ञानपर्याय निरन्तर विकाररहित है।

ज्ञाता की अवस्था

कै अपनौं पद आप संभारत,
कै गुरु के मुख की सुनि बानी।
भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै,
प्रगटी सुविवेक–कला–रसधानी॥
भाव अनंत भए प्रतिबिंवित,
जीवन–मोख दसा ठहरानी।
ते नर दर्पन ज्यौं अविकार,
रहैं थिररूप सदा सुखदानी॥२२॥

– नाटक समयसार, जीवद्वार

समयसार गाथा २०-२१-२२

ननुकथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत –

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥२०॥

आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम् ।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥

एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥२२॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि – अप्रतिबुद्ध को कैसे पहचाना जा सकता है – उसका चिह्न बताइये ? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे ।
जो अन्य हैं परद्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे ॥२०॥

मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसी का गतकाल में ।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भावि में ॥२१॥

अयथार्थ आत्मविकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे ।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ए विकल्प नहीं करे ॥२२॥

गाथार्थ :– [अन्यत् यत् परद्रव्यं] जो पुरुष अपने से अन्य जो परद्रव्य – [सचित्ताचित्तमिश्रं वा] सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धन-धान्यादिक अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक हैं – उन्हें यह समझता है कि [अहं एतत्] मैं यह हूँ, [एतत् अहम्] यह द्रव्य मुझ-स्वरूप है, [अहम्

यथाग्निरिन्धनमस्तीन्धनमग्निरस्त्यग्नेरिन्धनमस्तीन्धनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिन्धनं पूर्वमासीदिन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यतीन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतीन्धन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत, तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा। नाग्निरिन्धनमस्ति नेन्धनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धनमिन्धनमस्ति नाग्नेरिन्धनमस्ति नेन्धनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तीन्धनस्येन्धनमस्ति, नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासी-

---

एतस्य अस्मि] मैं इसका हूँ, [**एतत् मम अस्ति**] यह मेरा है; [**एतत् मम पूर्वम् आसीत्**] यह मेरा पहले था; [**एतस्य अहम् अपि पूर्वम् आसम्**] इसका मैं भी पहले था; [**एतत् मम पुनः भविष्यति**] यह मेरा भविष्य में होगा, [**अहम् अपि एतस्य भविष्यामि**] मैं भी इसका भविष्य में होऊँगा;– [**एतत् तु असद्भूतम्**] ऐसा झूठा [**आत्मविकल्पं**] आत्मविकल्प [**करोति**] जो करता है वह [**संमूढः**] मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है; [**तु**] और जो पुरुष [**भूतार्थं**] परमार्थ वस्तुस्वरूप को [**जानन्**] जानता हुआ [**तम्**] वैसा झूठा विकल्प [**न करोति**] नहीं करता वह [**असंमूढः**] मूढ नहीं – ज्ञानी है।

टीका :– (दृष्टान्त से समझाते हैं।) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर, ऐसा झूठा विकल्प करे कि "जो अग्नि है सो ईंधन है, और ईंधन है सो अग्नि है; अग्नि का ईंधन है, ईंधन की अग्नि है; अग्नि का ईंधन पहले था, ईंधन की अग्नि पहले थी; अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा, ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी;" – ऐसा ईंधन में ही अग्नि का विकल्प जो करता है वह झूठा है, उससे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है। इसीप्रकार कोई आत्मा परद्रव्य में असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि 'मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप है; यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूँ; मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था; मेरा यह भविष्य में होगा, मैं इसका भविष्य में होऊँगा;" – ऐसे झूठे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है।

और "अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है; अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है। अग्नि का ईंधन नहीं, ईंधन की अग्नि नहीं; अग्नि की अग्नि है, ईंधन का ईंधन है। अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी; अग्नि की अग्नि पहले थी, और ईंधन का ईंधन पहले था। अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं

न्नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिन्धनस्येन्धनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति नेन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति, न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ।

ईंधन की अग्नि भविष्य में नहीं होगी; अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी, ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा।" – इसप्रकार जैसे किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो, सो प्रतिबुद्ध का लक्षण है। इसीप्रकार "मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है; मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य है वह परद्रव्य ही है; मेरा यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्य का मैं नहीं; मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्य का परद्रव्य है। यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, यह परद्रव्य का मैं पहले नहीं था; मेरा मैं ही पहले था, परद्रव्य का परद्रव्य पहले था। यह परद्रव्य मेरा भविष्य में नहीं होगा, इसका मैं भविष्य में नहीं होऊँगा; मैं अपना ही भविष्य में होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) भविष्य में होगा।" – ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का लक्षण है – इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है।

भावार्थ :– जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है, वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्मा को ही अपना मानता है, वह ज्ञानी है; यह अग्नि – ईंधन के दृष्टान्त से दृढ़ किया है।

गाथा २०-२१-२२ पर प्रवचन

देखो! पहले दृष्टान्त देते हैं कि लकड़ी को और अग्नि को मिला हुआ देखकर लकड़ी के ईंधन व अग्नि का स्वभाव भिन्न होते हुए भी दोनों को जो एक मानता है – अर्थात् ईंधन है, वही अग्नि है; और अग्नि है, वही ईंधन है – ऐसा जो मानता है, वह लौकिक में मूर्ख कहलाता है, क्योंकि अग्नि का स्वभाव जो प्रकाश व उष्णता है, वह लकड़ी के स्वभाव से भिन्न है, उसीप्रकार जो राग, शरीर, मन, वाणी, घर, लड़का, लड़की इत्यादि मैं हूँ और ये मेरे हैं – ऐसा परद्रव्य में ही असत्यार्थ आत्मविकल्प करता है – वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।

परद्रव्य में सचित्त, अचित्त, और मिश्र ऐसे तीन प्रकार किये हैं। संसारी गृहस्थ को स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लड़का, लड़की इत्यादि सचित्त; शरीर, लक्ष्मी इत्यादि अचित्त; और वस्त्र सहित स्त्री, बाल-बच्चे ये सचित्ताचित्त मिलकर मिश्र — इन तीनों को जो अपना माने ,वह मूढ़ है। उसीप्रकार साधुओं के जो शिष्य हैं — सचित्त, पिच्छी-कमण्डलु आदि उपकरण — अचित्त, तथा उपकरण सहित शिष्य — मिश्र। दूसरे प्रकार से कहें तो पुण्य-पाप के विकल्प — सचित्त, पुद्गलादि परद्रव्य — अचित्त, और गुणस्थान-मार्गणास्थानरूप से परिणमित जीव — वह मिश्र; इसप्रकार सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीनप्रकार के परद्रव्यों को 'यह मैं हूँ और ये मेरे स्वरूप हैं' — ऐसा माने वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न — चौदह मार्गणा में तो स्वयं को खोजना चाहिए न ?

उत्तर — कहाँ खोजना ? यह तो पर्यायदृष्टि से पर्यायपने कैसा है — इसकी बात है। वस्तुपने तो ज्ञायक चौदह मार्गणा में हैं ही नहीं, भेद में आत्मा है ही नहीं, और ये मार्गणास्थान वस्तुपने आत्मा में हैं ही नहीं। अरे ! गुणस्थानरूप से इसे देखें — खोजें, तो गुणस्थान भी ज्ञायक में नहीं हैं और ज्ञायक आत्मा गुणस्थान में नहीं है। भाई ! ऐसी सूक्ष्म बात है। यह तो संक्षेप में समझाया है।

मैं यह परद्रव्य हूँ और यह परद्रव्य मुझरूप है; ऐसी मान्यता अज्ञान है। यह राग — व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प मुझरूप हैं, यह शरीर मुझरूप है, स्त्री मुझरूप है। लोग स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं। अरे, धूल में भी अर्धांगिनी नहीं है, यह तो मूर्खता है। स्त्री का आत्मा जुदा है, उसके शरीर के रजकण जुदे हैं। उसका और आत्मा का संबंध कैसा ? यह मेरा देश, यह मेरा पुत्र, यह मेरा पिता — ऐसा निमित्त से, व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में किसका पिता, किसके पुत्र ? आत्मा का बाप कैसा और पुत्र कैसा ? एक निज ज्ञायकभाव के सिवाय पुण्य-पाप, गुणस्थान, भेद इत्यादि जितनी वस्तुऐं हैं, उन सबको निज मानना — यह परद्रव्य को ही निज मानना है। पर्याय में इन वस्तुओं का व्यवहारनय से ज्ञान करे, यह जुदी बात है; किन्तु यह वस्तु मेरी है और मैं इसका हूँ — ऐसा माने तो मिथ्या-दृष्टि है। 'मैं, यह' ऐसे दो अस्ति तो सिद्ध की हैं। 'मैं' एक अस्ति और 'यह' दूसरी अस्ति है। रागादि पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय इत्यादि की भी 'अस्ति' है। वेदान्ती के 'ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या' की तरह 'आत्मा सत्य और अन्य सब भ्रम' — ऐसा नहीं है। यह टीका तो बहुत संक्षिप्त भाषा में है, किन्तु अन्दर बहुत रहस्य

प्रवचन में आया था कि जैनधर्म किसे कहना ?

ज्ञायकभाव से परिपूर्ण भगवान आत्मा, ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ अथवा वीतराग-स्वभाव से भरा हुआ प्रभु है। इसकी परणति में – पर्याय में वीतरागता की दृष्टि, ज्ञान और शान्ति प्रगट होती है, यही जैनधर्म है। मुनिराजों ने तो यहाँ तक कहा है कि यह जैनधर्म जयवन्त वर्तता है – अर्थात् यह ज्ञायकप्रभु मेरा नाथ मेरे हाथ आया है; मुझे वीत-रागी-समकित, वीतरागी-ज्ञान और वीतरागी-रमणतारूप जैनधर्म जयवंत वर्तता है। ओ हो ! दिगम्बर संतों की गजब शैली है ! धर्म वीतरागी दशा है, इसमें व्यवहाररत्नत्रय के राग की मिलावट नहीं है।

लोग कहते हैं कि यह सब लड़के पढ़-पढ़कर होशियार इन्जीनियर होते हैं, पश्चात् कारखाने चलाते हैं। कहते हैं कि देखो, अमुक का लड़का कैसा कारखाना चला रहा है; परन्तु क्या यह सच है ? अरे, यह तो गप्प है, गप्प ! कैसा कारखाना ? भाई तू तो ज्ञायकस्वरूप है। प्रभू तू एकसमय की पर्याय जितना भी नहीं है तो फिर राग का, लड़के-लड़कियों का, देश का कैसे होगा ? यह लक्ष्मीवाला, इज्जतवाला, पैसेवाला, स्त्री-वाला, कुटम्बवाला, कारखानावाला; अहा हा ! कितने 'वाला' बना बैठा है। जिसे एक 'वाला' हो तो वह चिल्लाहट मचाता है, तड़पता है। 'वाला' एक जाति का जन्तु है, जो कुआँ बावड़ी आदि के पानी में रोगाणु के रूप में पनपता है। उस पानी को पीने से पैरों में लम्बी तांत जैसे लम्बे-लम्बे कीड़े निकलते हैं – उसे 'वाला' कहते हैं। उस एक ही वाला से रोगी चिल्लाता है, तो फिर इस जगत में तूने कितने 'वाला' पाल रखे हैं, तेरी क्या दशा होगी ?

कोई कहे कि जो 'वाला' पैर में, रोग के रूप में निकलता है सो वह तो दुःख-दर्द पैदा करता हैं, परन्तु कारखानावाला आदि में जो 'वाला' शब्द का प्रयोग है, वह तो दुःखरूप नहीं है ?

भाई ! बात तो वास्तव में ऐसी है कि शरीरादि परवस्तुएँ मेरी हैं, यह मान्यता ही दुःखरूप है और जब परवस्तु शरीर, पैसा, वगैरह पर लक्ष्य जाता है, तब अपनी आकुलता के दुःख में ये परवस्तुयें निमित्त हैं। अतीन्द्रिय आनंद का कारण तो एकमात्र चैतन्यमूर्ति भगवान ही है।

व्यवहाररत्नत्रय आदि परद्रव्य मेरे हैं – ऐसा माने तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। नियमसार गाथा ५० में तो शुद्धरत्नत्रय को – मोक्षमार्ग की वीतरागी-निर्मलपर्याय को परद्रव्य कहा है। त्रिकाली एक शुद्ध स्वद्रव्य जो

नहीं, वह सब परद्रव्य है। आत्मा को मात्र पर्याय जितना माने तो निज को परद्रव्यरूप माना है अर्थात् चैतन्यसूर्य आनंद के नाथ भगवान आत्मा के सिवाय एकसमय की पर्याय को, राग को या शरीरादि परद्रव्य को जो अपना माने वह मूढ़ – मिथ्यादृष्टि है। वहाँ (नियमसार गाथा ५० में) सम्यग्दर्शन और वीतरागी-चारित्र को परद्रव्य कहा है, क्योंकि जैसे स्वद्रव्य के लक्ष्य के सिवा दूसरे द्रव्य में से अपनी नवीन पर्याय नहीं आती है, उसीप्रकार निर्मलपर्याय में से भी नवीन निर्मलपर्याय नहीं आती है। वहाँ इस निर्मलपर्याय को परद्रव्य कहकर स्वद्रव्य की दृष्टि कराई है। नवीन निर्मलपर्याय की उत्पत्ति स्वद्रव्य के आश्रय से होती है। पर्याय में से पर्याय नहीं आती। भाई! वीतराग परमेश्वर का मार्ग गहन है।

अहा हा! जैनधर्मरूप से परिणमित वीतरागी-परणति में स्थित इन दिगम्बर सन्तों को तो देखो! उन्हें विकल्प आया और टीका, टीका के कारण से बन गई। आचार्य भगवान टीका के अन्तिम श्लोक में कहते हैं कि इस टीका का मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ। अरे प्रभु! ऐसी सरल टीका करके आप 'ना' क्यों करते हो? भाई! यह तो शब्दों की शक्ति से टीका हुई, मेरे विकल्प और मेरी शक्ति से नहीं। पंचास्तिकाय व प्रवचनसार के अन्तिम कलश में भी यही कहा है – 'यह टीका मैंने बनाई और इस टीका द्वारा तुम्हें ज्ञान होता है' – ऐसा भ्रम नहीं करना।

पहले सामान्यरूप से लिया है कि मैं यह हूँ और यह मेरा है; पश्चात् तीनकाल को लिया है – वर्त्तमान में यह मेरा है और मैं इनका हूँ, भूतकाल में यह मेरा था और मैं इनका था, भविष्य में यह मेरा होगा और मैं इसका होऊँगा। लड़कों को हमने पालपोष कर बड़ा किया, अब लड़के हमें पालेंगे-पोषेंगे, हमारी सेवा करेंगे। किसे पालेंगे तुझे या अपने को? बड़ी भारी बात है।

भाई! यह तो संसार का नाटक है। अरे भाई! तुझे भ्रम है। नाथ! तू तो सर्वज्ञस्वभावी है, प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वभावरूप ही है – इसका अर्थ यह हुआ कि यह निज और पर को जाननेरूप परिणमनवाला है। यह स्व और पर दोनों एक हैं – ऐसा नहीं है। निज के ज्ञानरूप से और पर के ज्ञानरूप से परिणमना – ऐसा स्वपर-प्रकाशक इसका स्वभाव है। सर्वज्ञ की परणति जो प्रगट हुई, उसके पहले श्रद्धा में ऐसा आया था कि 'मैं तो सर्वज्ञस्वभावी हूँ'। उस श्रद्धा के बल से सर्वज्ञदशा प्रगट की। यह श्रद्धा सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की है, अल्पज्ञ या रागवाले आत्मा की नहीं। ऐसा उपदेश है; भाई! मार्ग तो यह है।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि हमको तो ऐसी उपदेश-शैली चाहिए कि धीरे से बोलना हो तो धीरे से बोल सकें, जोर से बोलना हो तो जोर से बोल सकें, दूसरों को फटकार सकें। तथा कोई व्यक्ति तो ऐसा कहता था कि हमारे पास पैसा नहीं है, अतः ऐसा उपदेश दीजिये कि हमारे पास खूब पैसा हो जावे। अरे भगवान! तू यह क्या कहता है? भाई! तेरा स्वरूप यह (उपदेश देना) नहीं है। 'उपदेश मैं करता हूँ' – यह तो पर को निज माना है। बापू! गजब बात है। 'मैंने पहले उपदेश किया था, उससे सब लोग समझे' मेरे उपदेश से यह फल आया, ऐसा मानने वाला परद्रव्य को अपना मानता है और निज को परद्रव्यरूप मानता है।

प्रश्न :– ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो है?

उत्तर :– यह तो जानने के लिए है परन्तु निमित्त से कार्य होता है – ऐसा मानने के लिए नहीं है। स्वयंभूस्तोत्र के ७३ वें छन्द में धर्मनाथ भगवान की स्तुति में आता है कि प्रभु! आपकी वाणी में उपदेश निकला, परन्तु धर्म किसी ने पाया कि नहीं; आपने यह नहीं देखा। आपने उपदेश दिया, पर इस उपदेश से किसने फल पाया, किसने नहीं पाया; यह आपने नहीं देखा। इसका अर्थ यह है कि पानेवाला पायेगा – यह तो केवलज्ञान में पहले से जान लिया गया है। इसीप्रकार समकिती भी यह नहीं देखता कि मेरे उपदेश से किसने क्या फल पाया। अरे! जब उपदेश ही मेरा नहीं है तो फल का प्रश्न ही कहाँ उठता है। परवस्तु से भिन्नता की बात बहुत सूक्ष्म है।

पहले कहा कि – 'मैंने उपदेश किया था, उससे सब समझे और मेरे उपदेश का यह फल आया', ऐसे झूठे विकल्प से अज्ञानी – अप्रतिबुद्ध पहचाना जाता है। दलपतराम की कविता में आया है कि 'मूरख माथे शींगड़ा नाहिं' – अर्थात् मूर्खों के माथे पर सींग नहीं होते, जिससे उन्हें पहचाना जा सके अर्थात् जैसे इन मूर्खों के पहचान की ऐसी कोई निशानी नहीं होती; उसीप्रकार अज्ञानी के भी बाहर में ऐसा कोई चिह्न नहीं होता, परन्तु परद्रव्य को निज मानना और निज को परद्रव्यरूप मानना – यह अज्ञानी का चिह्न है।

यहाँ तो भगवान आत्मा वस्तुतः सर्वज्ञस्वभावी है, यह सिद्ध करना है। वह भूतकाल की वस्तु को जानता है, जो वर्त्तमान में हैं उसे जानता है और जो भविष्य में होगा उसे जानता है। जानने के सिवा दूसरा कुछ इसमें है ही नहीं। दूसरे प्रकार से कहें तो ज्ञाता-दृष्टा इसका स्वभाव है। यह वस्तु के भूत, वर्त्तमान व भविष्य को जानता है – यह बात

यही है; परन्तु वह वस्तु है, इसलिए जाना – ऐसा नहीं है। उससमय की स्वपर-प्रकाशक ज्ञान की पर्याय स्वयं से प्रगटी, उसे जानता है।

बंध अधिकार में तो यहाँ तक लिया है कि मैंने इसको मोक्ष पहुँचाया है, मैं इसको बंध कराता हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्याबुद्धि है। भाई! इसके अज्ञान और राग बिना इसे बंध नहीं होता और वीतरागता बिना इसे मुक्ति नहीं होती। मैं इसको आजीविका देकर जीवित रखता हूँ, मैं इसे मारता हूँ, इसे सुख के संयोग मिलाता हूँ, इसे दुःख के संयोग मिलाता हूँ; ये सब मान्यतायें मूढ़दृष्टि अज्ञानी की हैं। वहाँ तर्क दिया है कि जब वीतरागदशा के बिना यह जीव मुक्ति नहीं पाता है, तो तू मुक्ति देता है – यह कहाँ से आया? अज्ञान और रागभाव के बिना जीव को बंध नहीं होता; इसलिए मैं इसको बांधता हूँ, मारता हूँ, इत्यादि – यह बात कहाँ रही?

देवद्रव्य खाये तो खानेवाले को हानि होती है, पाप होता है। श्वेताम्बर शास्त्रों में इस मान्यता की पोषक एक कथा आती है। जो इस प्रकार है :– दो व्यक्ति थे। वे परस्पर एक दूसरे के बैरी थे। जब उनमें से एक का मकान बन रहा था तो दूसरे ने मकान बनने के पूर्व उसके मकान के नीचे मंदिर की एक ईंट रख दी। उसने बैर का बदला लेने के लिए ऐसा किया था। उसके मन में ऐसा था कि इसे देवद्रव्य की बाधा से पाप होगा और इससे इसका सत्यानाश हो जायगा। परन्तु भाई! जिसका मकान बना था, उसे स्वयं तो ईंट की खबर नहीं है, तो फिर उसे पाप क्यों लगेगा और उसके कुल का उच्छेद भी कैसे हो जायेगा? परन्तु अज्ञानी अनादिकाल से ऐसा ही मान रहा है। तथा कोई ऐसा मानते हैं कि हमने ने जो लाख-दो लाख का मंदिर बनवाया है, उसमें जो लोग भक्ति, पूजा, धर्म करेंगे, उसका पुण्य-लाभ अपने को भी मिलेगा। यह भी बिल्कुल मिथ्या मान्यता है।

यहाँ तो कहते हैं कि तीनों काल सम्बन्धी राग शरीर, वाणी, पैसा, लक्ष्मी, लड़की, देश इत्यादि – इन सब में इसीप्रकार 'ये मेरे और मैं इनका' – ऐसे झूठे विकल्प जो करता है; वह अज्ञानी – अप्रतिबुद्ध है।

अग्नि है, वह ईंधन नहीं है – इस दृष्टान्त से अब प्रतिबुद्ध की बात करते हैं :–

अग्नि है वह ईंधन नहीं है और ईंधन है वह अग्नि नहीं है। अ[illegible] प्रकाशमानज्योति, वह लकड़ी नहीं है; लकड़ी है, वह प्रकाश नहीं

समयसार की जयसेनाचार्य की टीका में अग्नि के तीन मुख्यगुणों का वर्णन है। पाचक, प्रकाशक और दाहक। अग्नि अनाज को पकाती है – यह पाचक, अग्नि स्व व पर को प्रकाशित करती है – यह प्रकाशक, और लकड़ी आदि को जलाती है – यह दाहक। इसीप्रकार भगवान आत्मा में भी ये तीन गुण हैं। सम्यग्दर्शन पूर्ण-आनंद को पचाता है, अतः वह पाचक है। एकसमय की सम्यग्दर्शन की पर्याय पूर्णानंदस्वरूप को पचाती है। ज्ञान स्व व पर को जाननेरूप प्रकाश करता है, अतः वह प्रकाशक है तथा वीतरागी-चारित्र रागादि को जला डालता है, अतः वह दाहक है।

जब आत्मा में स्थिरता होती है, तब राग रहता ही नहीं है; यही इसकी दाहकता है। इसप्रकार अग्नि के दृष्टांत से आत्मा में तीन गुण कहे।

तथा अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है; अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है – यह सामान्य बात की। अब तीनकाल सम्बन्धी बात करते हैं। वर्त्तमान में अग्नि का ईंधन नहीं है, ईंधन की अग्नि नहीं है; अग्नि की ही अग्नि है, ईंधन का ही ईंधन है – यह वर्त्तमान हुआ। अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी; अग्नि अग्नि की थी और ईंधन ईंधन का था। इसीप्रकार अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं होगा, ईंधन की अग्नि भी भविष्य में नहीं होगी; अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी, ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा। इस रीति से जिसप्रकार किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ-अग्नि का विकल्प हो – वह प्रतिबुद्ध है।

उसीप्रकार मैं परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है; मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य वह परद्रव्य ही है – यह सामान्य बात की। देखो ! यह मैं तो सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु आत्मा हूँ। मैं सब को जानता अवश्य हूँ, परन्तु यह सब मेरे नहीं हैं। अहा हा ! पर्याय में स्व-पर को पूर्ण जानने का मेरा स्वभाव है, परन्तु पर मेरा है – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है; तथा परपदार्थ हैं, अतः उनके कारण मुझे उनका ज्ञान हुआ – ऐसा भी नहीं है। यहाँ यह कह रहे हैं कि मैं परद्रव्यरूप नहीं हूँ, रागरूप नहीं हूँ, शरीररूप नहीं हूँ, देश, कुटुम्ब, लड़का, लड़की – इन स्वरूप भी मैं नहीं हूँ। कितने ही ऐसा मानते हैं कि मेरी उपस्थिति हो और मेरी सलाह मिले तो काम ठीक होता है; धूल में भी ऐसा नहीं है। मैं तो मात्र जाननेवाला ज्ञायक हूँ तथा यह परद्रव्य मेरा स्वरूप नहीं है। शरीर, मन, वाणी, राग – यह सब मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो एक सर्वज्ञस्वरूप

ही हूँ। लोक में ऐसा कहते हैं कि – "मनुष्य होशियार हो तो कमाता है और दुकान पर मूर्ख बैठा हो तो क्या कमावे? देखो, गाँव की बहुत दुकानें बंद पड़ी हैं और मैं होशियार जानकार हूँ, इसलिए मेरी दुकान बराबर चलती है," परन्तु यह बात बिल्कुल ठीक नहीं है, सर्वथा असत्य है। निज की वस्तु क्या है – यह जाने बिना मिथ्या अभिमान का सेवन करे, तो इससे क्या? प्रभू तू तो सर्वज्ञनेत्र है, सबको जानता तो अवश्य है, परन्तु इन सब में से कोई भी वस्तु स्वपने नहीं होती।

'मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ' – इसमें 'मैं हूँ' और 'अन्यद्रव्य रागादि वगैरह हैं' – ऐसा दोनों का अस्तित्व सिद्ध किया। परन्तु ये परद्रव्य, राग, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प और इनका फल जो स्वर्गादि है, वह मेरा स्वरूप नहीं। अहा हा! छहखण्ड का स्वामी चक्रवर्ती समकित पावे, तब कहे कि यह छहखण्ड का वैभव मैं नहीं हूँ, यह तो सब चक्रवर्तित्व के साथ होता है। मैं छहखण्ड नहीं साधता, मैं तो अखण्ड को (निजस्वरूप को) साधता हूँ। मैं छहखण्ड का स्वामी नहीं हूँ, मैं तो अखण्डस्वरूप का स्वामी हूँ। निहालभाई ने द्रव्यदृष्टिप्रकाश में लिखा है – "किसी ने कहा कि – चक्रवर्ती छहखण्ड को साधते थे तो उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वे तो समकिती थे, इसलिए अखण्ड स्वभाव को साधते थे; छहखण्ड को नहीं। ज्ञायकस्वरूपी अखण्ड एक आनन्द के नाथ भगवान आत्मा को साधते थे।" भाई! यह आत्मवस्तु तो अन्दर कोई अलौकिक है।

अब वर्त्तमान काल की अपेक्षा कथन करते हैं। मेरा यह परद्रव्य नहीं है, इस परद्रव्य का मैं नहीं हूँ। यह अभी जो रागादि हैं वे मेरे नहीं हैं, इन परद्रव्यों का मैं नहीं हूँ; मेरा ही मैं हूँ। सर्वज्ञस्वभावी जो अखण्डवस्तु, वही मैं हूँ, परद्रव्य परद्रव्यरूप ही है। व्यवहाररत्नत्रय का जो राग आता है, उससे एकरूप मैं नहीं हूँ और यह मेरा नहीं है। मात्र उस संबंधी का जो ज्ञान मुझे है, वह मेरा है। अहा हा! सन्तों ने करुणा करके ऐसी टीका लिखी है। सामनेवाले के गले उतर जाय, – ऐसा शीरा तैयार करके मुँह में डाल दिया है। भाई! तू वर्त्तमान में भी सर्वज्ञस्वभावी आत्मा ही है। नाथ! इन परवस्तुओं का तू नहीं है और परवस्तुएँ तेरी नहीं हैं।

अब भूतकाल की अपेक्षा कहते हैं। ये परद्रव्य मेरे पहले नहीं थे, इन परद्रव्यों का मैं भी पहले कभी नहीं था। अरे! पहले मेरा शरीर ठीक था, परन्तु अभी-अभी बिगड़ गया है। तथा कोई ऐसा कहता है कि यह स्त्री ऐसी खराब पगवाली मिली है कि इसके आते ही सारी लक्ष्मी चली गई है।

तो दूसरा व्यक्ति यह कहता है कि मेरे घर यह बाई सुन्दर पगवाली आई है कि इसके आते ही अटूट पैसा हो गया है; ऐसा कहनेवाले सब मूर्ख हैं। यह शरीर, पैर और पैसा आत्मा का है ही कब ? यह तो सब अज्ञान का फल है। हमें सब पता है, नाटक तो सब देखते हैं। नाच तो नहीं किया, परन्तु नाचने वालों को देखा है। तथा कोई कहता है कि यह नौकर पहले तो वफादार था, अब बदल गया है। यह लड़का पहले तो कहना मानता था, परन्तु पता नहीं क्या हो गया है कि कोई बात मानता ही नहीं है, शादी के बाद औरत का ही हो गया है; इत्यादि न जाने कितनी बातें करते हैं। अरे ! बापू सुनो तो सही ! यहाँ तो कहते हैं कि पहले हमारा कोई था ही नहीं, मेरा तो एक सर्वज्ञस्वरूप था, सो वह तो मैं हूँ, अभी भी हूँ ही। और परद्रव्य परद्रव्यरूप ही है।

अब भविष्यकाल के बारे में खुलासा करते हैं। यह परद्रव्य मेरा भविष्य में कभी होगा नहीं, और मैं भी भविष्य में इसका नहीं होऊँगा। इस राग का, शरीर का, देश का मैं कभी नहीं होऊँगा। किसी का पुत्र और किसी का पिता भी मैं कभी भविष्य में नहीं होऊँगा। मैं तो मेरा ही रहूँगा, ऐसे अस्ति-नास्ति से कहते हैं। तथा इस परद्रव्य का परद्रव्य ही भविष्य में रहेगा।

इसप्रकार जो तीनों ही काल संबंधी स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्म-विकल्प होते हैं, वही प्रतिबुद्ध का लक्षण है, उनसे ही उसकी पहचान होती है। एक ज्ञायकभाव सर्वज्ञस्वभावी आत्मा ही मैं हूँ, इसप्रकार सत्यार्थ आत्म-विकल्प ही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। इसप्रकार ज्ञानी की पहिचान होती है। शेष यह मेरा और वह तेरा, मैंने ऐसा किया व तूने वैसा किया, तुम उपकार भूल गये, आदि विकल्प सब मूर्खता है, अज्ञान है।

जो परद्रव्य में आत्मा के विकल्प करते हैं, वे तो अज्ञानी हैं और जो निज आत्मा को ही निज मानते हैं, वे ज्ञानी हैं। इसप्रकार अग्नि और ईंधन के दृष्टान्त द्वारा दृढ़ किया है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

श्लोकार्थः – [जगत्] जगत् अर्थात् जगत् के जीवो ! **[आजन्मलीढं मोहम्]** अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को **[इदानीं त्यजतु]** अब तो छोड़ो और **[रसिकानां रोचनं]** रसिक जनों को रुचिकर, **[उद्यत् ज्ञानम्]** उदय हुआ जो ज्ञान, उसका **[रसयतु]** आस्वादन करो; क्योंकि **[इह]** इस लोक में **[आत्मा]** आत्मा **[किल]** वास्तव में **[कथम् अपि]** किसीप्रकार भी **[अनात्मना साकम्]** अनात्मा (परद्रव्य) के साथ **[क्व अपि काले]** कदापि **[तादात्म्यवृत्तिम् न कलयति]** तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा **[एकः]** एक है; वह अन्य द्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता।

भावार्थः – आत्मा परद्रव्य के साथ किसीप्रकार किसीसमय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार आचार्यदेव ने, अनादिकाल से परद्रव्य के प्रति लगा हुआ जो मोह है, उसका भेदविज्ञान बताया है और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोह को अब छोड़ दो और ज्ञान का आस्वादान करो; मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है।

कलश २२ पर प्रवचन

जगत के जीवों को लक्ष्य में लेकर कहा है कि – हे जगत के जीवो ! अनादि संसार से लेकर आजतक मोह का ही अनुभव किया है, इसे अब तो छोड़ो। अनादिकाल से भगवान आत्मा का शान्तस्वभाव होते हुए भी तुमने राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भावों का ही वेदन किया है। अनादि से दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोधादि भावों में जो मोह, परपदार्थ में ममत्वपरिणाम, पर में सावधान रहने का भाव आदि, जो कि अधर्मरूप हैं, उन्हीं का ही तुमने वेदन किया है; परन्तु निज का जो अतीन्द्रियज्ञान और आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका अनुभव नहीं किया।

यह खाना-पीना और यह व्यापार करना आदि में बाह्यक्रिया होती है, वह तो नहीं कर सकता; किन्तु उसकाल में तत्संबंधी जो राग-द्वेष-मोहादि के भाव होते हैं, उनको किया है, उन्हीं का अनुभव किया है, वेदन किया है। चौबीसों घंटे यह धंधा-पानी की सब प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं; इनमें कोई पर का कुछ करता नहीं है, और कर भी नहीं सकता। अनादिकाल से स्वरूप के स्वाद से विरुद्ध राग-द्वेष, तथा शुभ-अशुभ विकृतभाव ही किये और भोगे हैं। क्योंकि पर का वेदन तो कोई कर नहीं सकता और आत्मा का अनुभव आजतक किया नहीं।

निज आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। इसे भूलकर पुण्य-पाप मेरे, शरीर मेरा, लक्ष्मी-स्त्री-कुटुम्ब आदि मेरे – ऐसी मान्यता में किये हुए मिथ्याभाव और अनुकूलता-प्रतिकूलता में किये हुए राग-द्वेष का ही अनादि से अनुभव किया है। दिगम्बर साधु होकर भी अनन्त बार नवमें ग्रैवेयक तक गया, तथापि आत्मा का अनुभव न करके मोह-राग-द्वेष का ही वेदन किया है। इतनी बात करके अब कहते हैं कि अब तो इस मोह को छोड़ो! स्वपदार्थरूप ध्येय को भूलकर, परपदार्थ को ध्येय बनाकर, जो राग-द्वेष का अनादि से वेदन है, उसे अब छोड़कर भगवान आनंद के नाथ प्रभु आत्मा को विषय – ध्येय बनाओ।

भगवान अतीन्द्रिय आनंद का नाथ अन्दर विराजता है। उसे भूलकर अनादि संसार से अर्थात् निगोद से लेकर एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नारकी, तिर्यञ्च, देव तथा मनुष्य के जो अनन्तभव किये, उनमें ये परद्रव्य मेरे हैं – इसप्रकार पर को ही निज माना है। निज की वस्तु की संभाल करने के बदले परद्रव्य की संभाल करने में रुक गया है। इससे हे भाई! तू दुःखी है, अतः अब इन परद्रव्यों के प्रति मोह छोड़। जिन राग-द्वेष को निज मानकर ग्रहण किया है, अनुभव किया है, उनका लक्ष्य छोड़कर भगवान आनंद का नाथ प्रभु आत्मा है; इसका लक्ष्य कर। देखो! यह धर्म की रीति है। दया, दान, व्रत आदि करना कोई धर्म की रीति नहीं है, ये तो विकल्प हैं, यह तो राग का ही वेदन है। अब तो वर्त्तमान में गुलांट खाओ – ऐसा कहते हैं। तूने जो राग-द्वेष और पुण्य-पाप को ध्येय बनाकर उसका वेदन किया है, उस वेदन में 'वह मैं हूँ', ऐसा मानकर वेदन किया है, तो अब 'वह मैं नहीं', किन्तु 'मैं तो ज्ञाता-दृष्टा चेतन हूँ' – ऐसा अंतर की पर्याय में त्रिकाली को ध्येय बनाओ; यह धर्म है। ऐसा कैसा धर्म? इतने मंदिर बनवाओ या इतने उपवास करो – ऐसा कहो तो जल्दी समझ में आता है। परन्तु भाई! मन्दिर कौन बनवाता है? उस समय ऐसा मन्दिर बनवाने का जो राग होता है, हम तो वही मात्र करते हैं, मन्दिर तो अपनी स्व-समय की योग्यता से बनता है। उपवास करने का विकल्प भी राग ही है। अरे! अनादि से निज को भूलकर राग किये बिना एकसमय भी नहीं गया; अब तो इस मोह को छोड़ो! इसे छोड़कर क्या करना और उससे क्या होगा? अब यह बात कहते हैं।

रसिकजनों को रुचिकर उदित हुए ज्ञान का आस्वादन करो। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के जो रसिकजन हैं, उन सम्यग्दृष्टि-धर्मी

रसिकजनों को आत्मा के अतीन्द्रिय-आनन्द के स्वाद की रुचि है। सम्यग्दृष्टि निजशुद्धद्रव्य की रुचि करके शक्ति में जो आनन्दरस है, वह पर्याय में प्रगट करके आत्मा के आनन्द का स्वाद लेते हैं। उनको पुण्य-पाप रूप भाव की रुचि नहीं है; उन्हें पुण्य-पापबंध की व उसके फल की भी रुचि नहीं है; उन्हें एकमात्र आत्मा के आनन्द का स्वाद ही रुचिकर है। यहाँ कहते हैं कि ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद को आस्वादो।

यहाँ यह नहीं कहा कि पहले व्यवहार करना, फिर यह करना, फिर वह करना; क्योंकि व्यवहार तो राग है, यह तो अनन्तबार किया है। इसकी रुचि तो अनादिकाल से है। यहाँ तो सीधी बात की है कि इसे अब तो छोड़ो। अर्थात् रागादिव्यवहार के लक्ष्य को छोड़ो और त्रिकाली भगवान जो अन्दर विराजता है, उसका लक्ष्य करो। रसिकजनों को जो रुचिकर, ऐसा जो भगवान आत्मा उसे चाहे ज्ञान कहो, आनन्द कहो या ज्ञायक कहो – उसके ही स्वाद की रुचि करो। पहले जो राग के वेदन की रुचि थी, वह तो मिथ्यादर्शन था; इसलिए अब आत्मा के आनन्द की रुचि करो, क्योंकि जो भगवान आनन्दघनस्वभाव के स्वाद की रुचि करे, वह सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि-धर्मी ज्ञान के उदय – प्रगटदशा का स्वाद लेता है, यह उसे रुचिकर है। पहले वह जो राग-द्वेष का स्वाद लेता था, वह तो पर को लक्ष्य – ध्येय बनाकर लेता था। रसिकजनों का ध्येय तो चैतन्यतत्त्व है। इसलिए कहते हैं कि चैतन्यतत्त्व का लक्ष्य प्रगट होने पर ज्ञान जो स्वभावरूप है (आनन्दसहित है), उसका स्वाद लो और राग की रुचि छोड़ो। भाई! इन शब्दों में बहुत माल भरा है।

अहा हा! शुभभाव भी धर्मी – ज्ञाता के ज्ञान का परज्ञेय है। इससे पुण्यबंध होता है, तथापि ज्ञाता का ज्ञेय है और इसके फल में जो स्वर्गादि मिलते हैं, वे भी ज्ञाता के ज्ञेय हैं, स्वज्ञेय नहीं इसीप्रकार धर्मी को पाप के परिणाम होते हैं, वे भी ज्ञाता के ज्ञेय हैं। इनसे पापबंध होता है, वे भी ज्ञाता के ज्ञेय हैं, इनके फल में नरकादि प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, वे भी ज्ञाता के ज्ञेय हैं। ये सब शुभ व अशुभ ज्ञाता के परज्ञेय हैं। व्रत के परिणामों से जीव को स्वर्ग में स्त्रियाँ मिलती हैं, सुख-वैभव मिलता है। शुभभाव से संयोग मिलें, परन्तु स्वभाव नहीं मिलता। इसका अर्थ यह है कि धर्मी को आत्मा रुचा है। इसे शुभभाव की, व्रतादिक की रुचि नहीं है। ज्ञानी के यह शुभभाव, उससे हुआ बंधन, और उसका फल जो आता है; वह सब परज्ञेयरूप में है। 'ये संयोगीभाव और ये संयोग मेरे हैं' – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता।

शुद्ध आत्मा के अनुभवी – सम्यग्दृष्टि को तो अतीन्द्रिय-आनन्द के स्वाद की रुचि है। अहा हा ! चक्रवर्ती को छहखण्ड का राज्य मिले तो भी वह सम्यग्दृष्टि होने से, उसे अपने ज्ञान में परज्ञेयपने जानता है, निज के रूप में नहीं जानता।

समयसार नाटक में पं० बनारसीदासजी ने कहा है :–

स्व-पर प्रकाशक सकति हमारी,
तातें वचन-भेद भ्रम भारी।
ज्ञेय-दशा दुविधा परगासी,
निजरूपा पररूपा भासी।।

'ये पाँच अणुव्रत, पाँच महाव्रत वगैरह के शुभभाव हमारे हैं' – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता; किन्तु ये परज्ञेयरूप से हैं, स्वज्ञेय में नहीं हैं, उनके फल के रूप में जो कर्म का बंधन पड़ा है, वह भी परज्ञेय है। 'मुझे बंधन है, मैं बंधा हूँ' – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता, तथा इनके फल में जो संयोग मिलते हैं – वे भी इन्हें परज्ञेय हैं। 'संयोग मेरा है' – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता।

सम्यग्दृष्टि-धर्मी को आत्मा का स्वाद रुचिकर है। रुचिकर अर्थात् आनन्ददायक है। रुचि-श्रद्धा-प्रतीति की व्याख्या यह है कि – जो प्रत्यक्ष आत्मा के आनन्द का स्वाद आया, वही रुचि-श्रद्धा-प्रतीति है, यही जैनधर्म है। देखो ! यह जैनदर्शन, वस्तुदर्शन है। कितने ही लोग सब धर्मों को मिलाकर विश्वधर्म कहते हैं, परन्तु वह धर्म है ही नहीं। सर्वज्ञभगवान का कहा हुआ एक ही मार्ग विश्वधर्म – जैनधर्म है। इसका किसी दूसरे धर्मों के साथ मेल है ही नहीं। भाई ! जीवों को ठीक लगे या न लगे, परन्तु वस्तु तो ऐसी है, यही है। वस्तु ज्ञानानन्दस्वभावी जो ज्ञायक आत्मा, उसकी रुचि करने पर जो ज्ञान और आनन्द की शक्ति पर्याय में प्रगट होती है, उसका आस्वादन करो – ऐसा कहते हैं। यह मार्ग है, इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य की एक गाथा है कि समकित जैसी कल्याणकारी वस्तु जगत में कोई नहीं है और मिथ्यात्व जैसी जगत में कोई अकल्याणकारी वस्तु नहीं है।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि रसिकजनों को रुचिकर, उदित हुये ज्ञान का आस्वादन करो, क्योंकि इस लोक में आत्मा वस्तुतः किसी भी प्रकार से अनात्मा (परद्रव्य) के साथ किसी भी काल में एकपने को प्राप्त नहीं होता। अनात्मा अर्थात् राग से लेकर सभी परवस्तुएँ अनात्मा हैं। इस आत्मा की अपेक्षा सिद्धभगवान भी अनात्मा हैं। अहा हा ! यहाँ कहते हैं

कि किसी भी प्रकार से किसी भी काल में भगवान आत्मा परद्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता। भगवान ज्ञायकस्वरूपप्रभु गुण-गुणी के भेद के विकल्प से लेकर, सभी अनात्मा परद्रव्यों के साथ एकपने को प्राप्त नहीं होता। ऐसा धर्म व ऐसा उसका मार्ग ! अहा हा·······!!

प्रश्न :– दया पालना, व्रत करना यह आप क्यों नहीं कहते हो ?

उत्तर :– सुनो भाई ! ये दया व व्रत के जो विकल्प हैं, इनसे तेरी दया नहीं है। पर की दया पालने का विकल्प शुभभाव है। बापू ! निज के आश्रय का मार्ग कोई अलौकिक है, इसलिए 'पर' का आश्रय छोड़कर 'स्व' का आश्रय करो – ऐसा कहते हैं। आत्मा राग व पर के साथ कभी भी एकरूप नहीं होता, क्योंकि आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं हुआ। देखो, एक कलश में कितना रहस्य भरा है। हमारी आँख ठीक थी, अभी जरा बिगड़ी है, हमारा शरीर आजतक निरोग रहा है, इत्यादिप्रकार से पर के साथ 'यह हमारा है', 'यह हमारा है' – ऐसी एकत्वबुद्धि करके संसार में भटका है। परन्तु भाई ! यह शरीर तेरा था ही कब ? और आज भी तेरा कहाँ है ? समयसार (मोक्ष अधिकार) में ऐसा लिया है कि राग और भगवान आत्मा के बीच संधि है। निःसंधि – एक कभी भी हुआ ही नहीं – ऐसा पाठ है। मात्र तूने इतना माना है कि ये राग, पुण्य, विकल्प इत्यादि मेरे हैं, यह तेरी मान्यता निःसंधि – एकपने की है। वस्तुतः दोनों के बीच संधि है, तड़ है। इस लोक में जो आत्मा है, वह अनात्मा के साथ वस्तुतः किसी भी प्रकार से एकपना प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं एकरूप है। वह बिगड़कर दो रूप नहीं होता। आत्मा एक है और राग दूसरी वस्तु है। आत्मा राग के साथ एकपने को प्राप्त नहीं करता। जो राग के साथ एकपने को प्राप्त हो तो आत्मा एकरूप न रहकर दो हो जाय, परन्तु आत्मा कभी अन्य द्रव्य व रागादि-विकल्पों के साथ एकरूप नहीं होता, क्योंकि वह एक है। यह धर्म की रीति है।

कलश २२ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा कभी भी, किसी भी प्रकार से परद्रव्य के साथ अर्थात् राग, शरीर, मन, वाणी, कर्म, जड़इन्द्रियों के साथ और खण्ड-खण्ड भावेन्द्रियों के साथ एकरूप नहीं होता। इसप्रकार आचार्य अनादि से परद्रव्य के प्रति लगे हुये मोह अथवा पर में हुई सावधानी से, आत्मा का भेदज्ञान कराते हैं और प्रेरणा देते हैं कि इस पर में एकपने के मोह को अब छोड़ो। रागादि के साथ एकपने को छोड़कर अब 'आत्मा एक है', उसके साथ एकता

प्राप्त करो, निजज्ञानस्वरूप आत्मा के आनन्द को आस्वादो। ज्ञान को आस्वादो।

अहो! अमृतचन्द्राचार्य के कलश बहुत गंभीर हैं। इनकी टीका भी बहुत गंभीर है। इन्होंने शास्त्रों में कैसा भाव भरा है। जैसे ग्वाला गाय के स्तनों में से दूध संभालकर दोहनकरके निकालता है; उसीप्रकार शास्त्रों में भरे हुए भावों को तर्क की ताकत लगाकर निकाला है और टीका में भर दिया है।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है (चेतनास्वरूप है) और रागभाव अचेतनस्वरूप हैं। चाहे दया, दान, व्रतादि का विकल्प हो या गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो; ये सब विकल्प अचेतन हैं। इनमें ज्ञानस्वभाव की किरण नहीं है। इसलिए उस राग का स्वाद छोड़कर, इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को आस्वादो। भगवान आत्मा में आनन्द, सुख का आस्वाद है। अनादिकाल से राग का स्वाद लिया, वह दुःख का – आकुलता का स्वाद था, उसमें कुछ नया नहीं है। यदि कुछ नया करना हो तो ज्ञान को आस्वादो – ऐसा कहते हैं।

'मोह है वह वृथा है'। भाषा तो देखो! मोह है वह वृथा है और अमोह है वह सफल है। मोह अर्थात् पर में सावधानी, वह व्यर्थ है, अफल है और अमोह अर्थात् स्वरूप में सावधानी, वह सफल है। प्रवचनसार गाथा ११६ में सफल और अफल दूसरी अपेक्षा से अर्थात् संसार की अपेक्षा से आया है। वहाँ पुण्य-पाप के भाव को (मोहसहित क्रिया को) सफलपना कहा है अर्थात् उनके कारण मनुष्यादिरूप जो गति मिलती है वह अवश्य मिलेगी, और मोहरहित आत्मा की क्रिया को अफलपना कहा है अर्थात् आत्मा की धार्मिक क्रियाओं के फल में संसार की प्राप्ति नहीं होगी। अतः संसार के फल के न मिलने की अपेक्षा अफल है। इसप्रकार से मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है तथा अमोह सफल है, सच्चा है, सुख का कारण है। इसप्रकार २२वाँ कलश पूर्ण हुआ।

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते –

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।२४।।
जदि सो पोग्गदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं ।।२५।।

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् ।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ।।२३।।
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम् ।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम् ।।२४।।
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ।।२५।।

अब अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिये प्रयत्न करते हैं :–

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभावसंयुत जीव है ।
'ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा' वो कहै ।।२३।।
सर्वज्ञज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है ।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे ! ।।२४।।
जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को ।
तू तब हि ऐसा कह सके, 'है मेरा' पुद्गलद्रव्य को ।।२५।।

गाथार्थ :– [अज्ञानमोहितमतिः] जिसकी मति अज्ञान से मोहित है [बहुभावसंयुक्तः] और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है, ऐसा [जीवः] जीव [भणति] कहता है कि [इदं] यह [बद्धम् तथा च अबद्धम्] शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [मम] मेरा है। आचार्य कहते हैं कि – [सर्वज्ञज्ञानदृष्टः] सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो [नित्यम्] सदा [उपयोगलक्षणः] उपयोगलक्षणवाला [जीवः] जीव है, [सः] वह [पुद्गदद्रव्यीभूतः] पुद्गल-

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभाव-भावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहित-स्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमो-हितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेद-मित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते – रे दुरात्मन् [1]आत्मपंसन् जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वम्। दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन

द्रव्यरूप [**कथं**] कैसे हो सकता है [**यत्**] जिससे कि [**भणसि**] तू कहता है कि [**इदं मम**] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? [**यदि**] यदि [**सः**] जीवद्रव्य [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और [**इतरत्**] पुद्गलद्रव्य [**जीवत्वम्**] जीवत्व को [**आगतम्**] प्राप्त करे [**तत्**] तो [**वक्तुं शक्तः**] तू कह सकता है [**यत्**] कि [**इदं पुद्गलं द्रव्यम्**] यह पुद्गलद्रव्य [**मम**] मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता।)

टीकाः – एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति-निकटता से वेगपूर्वक बहते हुये अस्वभावभावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय[2] की निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है; अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है, ऐसा है और महा-अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है – ऐसा अप्रतिबुद्ध अज्ञानी जीव स्व-परका भेद न करके, उन अस्वभावभावों को ही (जो अपने स्वभाव नहीं हैं, ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ, पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है', इसप्रकार अनुभव करता है। (जैसे स्फटिकपाषाणमें अनेक प्रकार के वर्णों की निकटता से अनेकवर्णरूपता दिखाई देती है, स्फटिक का निज श्वेत-निर्मलभाव दिखाई नहीं देता; इसीप्रकार अज्ञानी को कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्धस्वभाव आच्छादित हो रहा है – दिखाई नहीं देता, इसलिए पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है।) ऐसे अज्ञानी को अब समझाया जा रहा है कि – रे दुरात्मन् ! आत्मघात करनेवाले ! जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी आदि पशु सुन्दर-आहार को तृणसहित खा जाते हैं, उसीप्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़! छोड़!! जिसने समस्त संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्व को (समस्त

---

१. आत्मविनाशक। २. आश्रय=जिसमें स्फटिकमणि रखा हुआ हो वह वस्तु।

गाथा २३-२४-२५ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

अब अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न करते हैं। देखो! कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह समयसार मुनिजनों के लिए है, परन्तु यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि अप्रतिबुद्ध को समझाने का प्रयत्न करते हैं। जिनको सम्यग्दर्शन नहीं है और जो राग को – पुण्य को निज मानते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टियों को समझाने का प्रयत्न करते हैं।

"एक ही साथ अनेकप्रकार के बंधन की उपाधि की अतिनिकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध – अज्ञानी) जीव अनेकप्रकार के वर्णवाले आश्रय की निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है।" देखो! स्फटिक-पाषाण के निकट काले, लाल आदि रंगों के फूल होने से जो उसका प्रतिबिम्ब स्फटिक-पाषाण में पड़ता है, वह स्फटिक की योग्यता से ही पड़ता है, लाल-काले आदि फूलों के कारण से नहीं। जो लाल, काले आदि फूलों के कारण प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो स्फटिक के स्थान पर लकड़ी हो तो उसमें भी पड़ना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। ये फूल तो निमित्त हैं और नैमित्तिक में जो लाल आदि फूलों का प्रतिबिम्ब दीखता है, वह तो स्फटिक की उसप्रकार, उससमय की पर्याय की अपनी योग्यता के कारण है। उसीप्रकार कर्म के उदयरूप-रंग के कारण आत्मा में रागद्वेषरूप-रंग उठता है – ऐसा नहीं है। ये कर्मों का उदय तो निमित्त है और नैमित्तिक जो राग-द्वेष आत्मा में उठते हैं; वे उसप्रकार, अपनी पर्याय की वर्त्तमान योग्यता के कारण उठते हैं।

तथा जिसप्रकार किसी बर्तन में स्फटिक-पाषाण रखा हो तो वह बर्तन के रंग जैसा दिखाई देता है। यह स्फटिक की अपनी वर्त्तमान-पर्याय की योग्यता के कारण है, बर्तन के रंग के कारण नहीं; उसीप्रकार एकसमय की पर्याय विकारी हो या अविकारी, वह स्वतंत्ररूप से उसकाल में उसीप्रकार से उत्पन्न होने की योग्यता से होती है। पर्याय की शक्ति पर्याय के कारण है, गुण की शक्ति के कारण भी पर्याय की शक्ति नहीं है। चिद्विलास में आया है कि पर्याय की सूक्ष्मता पर्याय के कारण है, द्रव्य या गुण के कारण नहीं है; वहाँ पर्याय कहने से मात्र निर्मलपर्याय ग्रहण करने की बात नहीं है, परन्तु मलिन व निर्मलपर्याय दोनों स्वत: अपने कारणों से ही होती हैं। इसप्रकार वहाँ पर्याय की स्वतंत्रता बताई है।

स्फटिक और फूल के संयोग के दृष्टान्त को अब जीव और कर्म पर घटित करते हैं। जो ज्ञानानंद-उपयोगस्वरूप स्वभावभावरूप है, उसे जीव

कहते हैं, परन्तु अनादि से अनेकप्रकार के अर्थात् आठप्रकार के कर्मों के बंधन की उपाधि की अतिनिकटता के कारण वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभाव-भावों के संयोगवश चैतन्य का उपयोगरूप ज्ञानानन्द-स्वभावभाव तिरोभूत हो गया है, ढक गया है। स्वयं ही संयोग या निमित्त (कर्मोदय) के आधीन हुए जीव के जो शुभाशुभ या पुण्य-पापरूप अनेकप्रकार के अस्वभाव-भाव होते हैं, उनके आधीन अज्ञानी जीव की दृष्टि अनादि से है। देखो! भगवान आत्मा चैतन्यतत्त्व ज्ञान – उपयोग का दल है, ज्ञानानंदस्वरूपी दल है, इसके निकट आठप्रकार के कर्म-रजकणों का, अनेकप्रकार का सम्बन्ध है। इन सम्बन्धों पर जीव की दृष्टि होने से इस जीव को राग, द्वेष व विकारी-भावों का वेग बहता है। इन वेगों के भावों में रमते हुए – 'ये वेग के जो भाव हैं वे मेरे हैं', ऐसा माननें से चैतन्य ज्ञायकभाव ढक गया है।

ज्ञायकभावस्वरूप भगवान आत्मा का चैतन्य-उपयोग तो स्फटिक की तरह अतिनिर्मल है; किन्तु इस उपयोग में अतिनिकट के जो अस्वभाव-भावरूप राग-द्वेष, पुण्य-पाप, व्रत, तप, दान, भक्ति तथा काम-क्रोधादिभाव हैं, वे प्रगट दिखाई देते हैं – ऐसा होने पर 'मैं अस्वभावभाव ही हूँ', ऐसा अज्ञानी मानते हैं। सूक्ष्म बात है भाई! ये व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प; देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा; पंचमहाव्रत का राग इत्यादिभाव चैतन्य के उपयोग से भिन्न हैं, अचेतनरूप है; तथापि अज्ञान से अज्ञानी कर्म की निकटता से उत्पन्न हुए इन अस्वभावभावों को निज मानकर 'वही मैं हूँ', ऐसा मानता है।

प्रश्न :– इसे क्या यह खबर नहीं है कि ये भाव अन-उपयोगरूप अस्वभावभाव हैं?

उत्तर :– हाँ, खबर नहीं है, इसे भान नहीं है; इसीकारण तो यह अप्रतिबुद्ध है।

जैसे स्फटिकमणि में लाल, पीले आदि फूलों की निकटता से लाल, पीली आदि झलक के कारण स्फटिक की निर्मलता ढक जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप ज्ञान-उपयोगरूप आत्मवस्तु का स्वभाव इन पुण्य-पाप आदि अस्वभावभावों के कारण ढक गया है। इसने अनादि काल से व्रत, तप, दया, दान, भक्ति इत्यादि तो अनंतवार किये हैं; परन्तु ये सब तो रागभाव हैं, कर्म की निकटता के वश से हुए अस्वभाव-भाव हैं। इन सब रागादि मलिनभावों में ही निज अस्तित्व मान लेने से यह चैतन्यरत्न निर्मलानंद-उपयोगस्वरूप आत्मा ढक गया है, तिरोभूत हो गया है।

अब कहते हैं कि – 'अत्यन्त तिरोभूत निजस्वभावभावपने से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूपी ज्योति अस्त हो गई है' – ऐसा है। अहा हा ! अकेला ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायकभाव जो निर्मल शुद्ध-उपयोगमय स्वभावभाव है, वह रागादि पुण्य-पाप के परिणामों के वश होकर ढक गया है और इससे इसकी समस्त भेदज्ञानज्योति अस्त हो गई है, इसलिए 'यह रागादिभाव जो हैं, वह मैं नहीं हूँ' किन्तु 'ये जो उपयोग हैं, वही मैं हूँ' – ऐसे भेदज्ञान को प्रकाशित करने वाली भेदज्ञानज्योति इसकी अस्त हो गई है। अहा हा ! 'मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ' – ऐसा सूक्ष्म से सूक्ष्म विकल्प जो उठता है, वह भी मैं नहीं, क्योंकि ये विकल्प तो अजीव हैं, अचेतन हैं, अन-उपयोग रूप हैं, पुद्गल हैं – यह भेदज्ञान है। ऐसा मार्ग तो मानव समझते नहीं हैं और दया पालना, व्रत पालना आदि को लेकर बैठ जाते हैं, परन्तु इनसे क्या लाभ ? इनसे तो चारगतियों में रखड़ता है। पहले रखड़ता था, अब भी रखड़ता है, और भविष्य में भी रखड़ेगा। अहा हा ! भगवान चैतन्य चिन्तामणि निर्मल-ज्ञानज्योति अनादि-अनन्त नित्य ध्रुव स्वभावभावरूप जो आत्मा, उससे भिन्न कर्म की निकटता से उत्पन्न अस्वभावभाव पर इसकी दृष्टि होने से अनादि-पर्यायबुद्धि है। इससे इसकी राग और ज्ञायक की भिन्नता करनेवाली भेदज्ञानज्योति अस्त हो गई है।

यहाँ कहते हैं कि निर्मल-उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा को कर्म का निकटपना है; निकटपना अर्थात् एकक्षेत्रावगाहपना। नियमसार गाथा १८ की टीका में आता है कि निकटवर्ती अनुपचरित-असदभूत-व्यवहारनय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्त्ता है। इसीप्रकार यहाँ भी निकटपना कहा है। भगवान आत्मा के एकक्षेत्रावगाह में जड़-रजकरण (धूल) अतिनिकट हैं। 'ये अतिनिकटपने से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभाव' – ऐसा यहाँ कहा है। प्रवचनसार में भी 'दौड़ता पुण्य और पाप' – ऐसा आता है। 'वेगपूर्वक बहता' और 'दौड़ता' – इन दोनों का अर्थ एक ही है कि एक के पीछे एक गति करते हुए चले जाना। एक के पीछे एक वेग से बहते हुए अर्थात् पर्याय में एक के पीछे एक होते हुए जो पुण्य-पाप के भाव हैं, वे अस्वभाव-भाव हैं। इन अस्वभावभावों और आत्मा के उपयोगमयभाव को भिन्न करने की शक्ति इसकी अस्त हो गई है, इससे अज्ञानी – अप्रतिबुद्ध है। इसकी दृष्टि में स्वभावभाव का अभाव (तिरोभाव) हुआ है, इससे अस्वभावभाव का सत्कार – स्वीकार हुआ है, इससे वह अधर्मरूप दृष्टि है। अज्ञानी के भेदज्ञानज्योति अस्त होने से उसके निर्विकार परिणाम न होकर रागादि विकार ही उत्पन्न होते हैं।

अब कहते हैं कि – 'और मोहकर्म के विपाक से स्वयं स्वतः ही विमोहित हैं'। देखो! वस्तु का स्वभाव ज्ञायकभाव है। इसका जो मोहकर्म है, इसकारण स्वयं स्वतः ही विमोहित है', कर्म के कारण इसे मोह हुआ है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी को पर्याय में जो अस्वभावभावों की उत्पत्ति हुई है, वह स्वयं के अज्ञान के कारण हुई है, कर्म के कारण नहीं।

इसतरह अस्वभावभावों से – रागादि से, स्वभावरूपज्ञायक को भिन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति जिसकी लुप्त हो गई है, नष्ट हो गई है; इसकारण स्वयं स्वतः ही विमोहित है। ऐसा मूढ़बुद्धि जीव स्व-पर का भेद नहीं करके पहले अस्वभावभावों को ही निज का मानता है, पुद्गल-द्रव्य को 'यह मेरा है', ऐसा अनुभव करता है। भगवान ज्ञायकआत्मा जो निर्मल, उपयोगस्वरूप, परमपवित्र, जीव स्वभावरूप है, वह 'स्व' है और ये रागादिभाव जो मलिन, अनउपयोगरूप, अपवित्र, अजीवस्वभावरूप हैं, वे 'पर' हैं; – ऐसा स्व-पर का भेद नहीं करने के पहले अस्वभावभावों को – दया, दान, व्रत, भक्ति, पुण्य व पाप इत्यादि विकारी भावों को 'ये मेरे हैं', ऐसा अज्ञानी अनुभव करता है। अज्ञानी को जो पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वह उनके वश में हो गया है। इसकारण स्व-पर का भेद न करता हुआ दोनों को एकरूप करता है। एकेन्द्रिय अवस्था से लेकर पंचेन्द्रिय द्रव्यलिंगी मुनि को जो शुभभाव होते हैं, वे सब अस्वभावभाव हैं। उन सर्व अस्वभावभावों को वह निज के ही मानता है।

प्रश्न :– कितने ही कहते हैं कि – ये शुभभाव साधन हैं और निश्चयवस्तु साध्य है?

उत्तर :– भाई! ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि अचेतन राग साधन और चैतन्यस्वभाव उसका साध्य। अथवा राग जो अजीव है, वह तो हुआ साधन और इससे साध्य – जीवस्वरूप (वीत-रागता) प्रगट होता है। अथवा राग जो दुःखरूप है, वह हुआ साधन और उससे आनन्द प्रगट हो, वह साध्य। भाई! परन्तु बहुत सूक्ष्म है, इसलिए विशेष ध्यान रखना चाहिए। यहाँ तो अन्दर के उपयोग को और राग को भिन्न करना चाहिए, परन्तु अज्ञानी वैसा नहीं करता है – यह कहते हैं।

अहा हा! अकेला ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक, सत्त प्रभु – इसको नहीं जाननेवाला जो रागादि-अचेतन दुःखरूपभाव हैं; उससे भिन्न करके अनुभवना, यह सूक्ष्म है, कठिन है। पण्डित राजमलजी ने यही क

टीका के १८१ कलश में कही है। वहाँ कहते हैं कि – "मोह, राग, द्वेषरूप भावकर्म – अशुद्धचेतनारूपपरिणाम वर्त्तमान में जीव के साथ एक परिणमनरूप हैं, तथा अशुद्धपरिणाम के साथ वर्त्तमान में जीव व्याप्य-व्यापकरूप परिणमता है, इसकारण उन परिणामों से जीव के भिन्नपने का अनुभव कठिन है, तथापि सूक्ष्म-सन्धि का भेद पाड़ने पर भिन्न प्रतीति होती है।"

अज्ञानी आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा से विरुद्ध दुःखरूप रागादि अस्वभावभावों को, निज से भेदज्ञान करने की शक्ति तिरोभूत होने से, एकपने अनुभव करता हुआ; पुदगलद्रव्य को 'ये मेरे हैं, मैं इनरूप हूँ' – ऐसा अनुभव करता है। यहाँ जड़-पुद्गल को निजरूप अनुभवता है, यह बात नहीं है, परन्तु राग जो कि पुद्गलरूप है, उसे निजरूप अनुभवता है – ऐसा कहते हैं। जीव को अपनी विकारीदशा अनुभव में आती है, इसकारण विकार को यहाँ पुद्गल कह दिया है। जहाँ भगवान चैतन्यदेव के आनन्द का अनुभव नहीं, परन्तु राग का अनुभव है, उसे यहाँ पुद्गल का अनुभव कहा है। बात यह है भाई ! कोई ऐसा कहे कि ये तो केवल निश्चय की बात करते हैं, परन्तु यह निश्चय ही वास्तविक है, यथार्थ है, सच्चा है। शुभराग करते करते शुद्ध होगा, शुद्ध का साधन शुभ – यह सब तो आरोपित कथन है। भाई ! निश्चय से तो शुभराग अचेतन है। गाथा ६ में यह बात आ गयी है कि एक ज्ञायकभाव अनेकरूप शुभाशुभभावों के जड़स्वभाव से नहीं परिणमता है। यदि यह उसरूप परिणमे तो जीव जड़ हो जायेगा। चैतन्य-उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा जो रागरूप परिणमन करे तो वह अचेतन – जड़ हो जायेगा। रागादिभाव पुद्गल की जाति के हैं, दुःखरूप हैं। स्वयं आनन्दस्वरूपी चैतन्य भगवान होते हुए इन रागादि को अपना माने तो इसी का नाम मिथ्यात्व है। अब यहाँ मिथ्यादृष्टि – अप्रतिबुद्धजीवों को समझाते हैं। देखो, कोई कहता है कि यह समयसार तो मुनियों के लिए है, परन्तु आचार्य कहते हैं कि यहाँ ऐसे अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं।

प्रश्न :– अप्रतिबुद्ध मुनि को समझाया है, ऐसा कहें तो ?

उत्तर :– मुनिराज अप्रतिबुद्ध होते ही नहीं हैं। जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हो, आत्मानुभव नहीं हो, वे मुनि कैसे ? यहाँ 'ऐसा अप्रतिबुद्ध' इसप्रकार लिया है। ऐसा कौन अप्रतिबुद्ध है ? तो कहते हैं कि जिसको कर्म – निमित्त के वश से जो अस्वभावभाव उत्पन्न हुआ, उस अस्वभावभाव को अपना मानता है – ऐसे अप्रतिबुद्ध को समझाया जाता है।

'हे दुरात्मन् ! आत्मा का घात करने वाले !' यहाँ 'हे दुरात्मन् !' यह करुणा का शब्द है। परन्तु 'हे आत्मन्' न कहकर 'हे दुरात्मन्' क्यों कहा ?

ऐसा कहकर आचार्य यह समझाते हैं कि हे भाई ! आनन्द का नाथ भगवान तू ज्ञानस्वरूप है। तेरा सत्व तो ज्ञान-सत्व है, तेरा सत्व कोई पुण्य व रागादि में नहीं है। तू अनन्तबार जैनसाधु हुआ और नवमें ग्रैवेयक गया, वहाँ भी तू राग से लाभ मानने वाला, राग को निजस्वरूप माननेवाला था। राग से भिन्न मानने की तेरी स्वरूपदशा हुई ही नहीं। अरे रे ! तेरी जात तो ज्ञानानन्दस्वरूप चेतन है, उसे भूलकर रागादि कुजात को निज की जाति मानी; ऐसी इस जीव की अनादि से मिथ्या-दशा है, यह बताने के लिए 'दुरात्मन्' ऐसा सम्बोधन किया है। इसमें आचार्य की करुणा ही है।

तथा 'आत्मा का घात करनेवाला !' ऐसा कड़क। सम्बोधन किया है। वहाँ ऐसा कहा है कि हे भाई ! तूने निज सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को भूलकर दया, दान, व्रतादि क्रियाकाण्ड को अपना स्वरूप माना है; परन्तु ये सब क्रियाकाण्ड रागस्वरूप होने से आत्मा का घात करनेवाले हैं, दुःखदायक हैं, आत्मा के सुख का नाश करनेवाले हैं। भाई ! जीवती-जागती-ज्योति उपयोगस्वभाव से विराजती है; उसका अनादर करके 'मैं राग हूँ', ऐसा मानकर तूने अपने आत्मस्वभाव का घात किया है, हिंसा की है। 'मैं राग हूँ' – ऐसी राग के साथ एकपने की मान्यता ही महाहिंसा है; ऐसा दिखाने के लिए आचार्यदेव ने 'आत्मा का घात करनेवाला' ऐसा सम्बोधन किया है। अहा हा ! आचार्यदेव की क्या शैली है ? वस्तु तो वस्तु है, कहीं वस्तु अवस्तु नहीं हुई है, परन्तु वस्तु को स्वीकार नहीं करने से और वस्तु में जो रागादि विकल्प नहीं हैं, उन्हें वस्तु-पने स्वीकार करने से – वस्तु का अनादर हुआ है; वही आत्मा की हिंसा है, घात है।

इसकी तो खबर नहीं और कहता है कि हम तो जीवों की दया पालते हैं, व्रत पालते हैं, भक्तिभाव से मन्दिर बनवाते हैं, उन मन्दिरों में मूर्तियाँ विराजमान करते हैं, इत्यादि। परन्तु भगवान ! यह क्या करता है ? पर को कौन कर सकता है ? यह करने-कराने की बात तो बहुत दूर, परन्तु यह पर के परिणमन के काल में तुझे जो पर को करने या जानने का राग होता है, 'वह राग मैं हूँ' और 'यह राग लाभदायक है' – ऐसा जो तू

माने तो भी आत्मघाती है। चाहे लाखों मन्दिर बनाकर करोड़ों रुपये खर्च किये हों; तथापि इस मिथ्यामान्यता से तू आत्मघाती महापापी है।

अब दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे परम अविवेक से खानेवाला हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृणसहित खा जाता है; इसप्रकार के खाने के स्वभाव को तू छोड़। जैसे हाथी को चूरमा (लड्डू) और घास का पूला खाने को दिया हो तो वह चूरमा और घास को मिलाकर खाता है, वह भेद नहीं कर पाता कि यह चूरमा है और यह घास है, यह मिठास वाला लड्डू है और यह फीके स्वादवाला घास है; ऐसे स्वाद के भेद से दोनों में भेद नहीं कर पाता। उसीप्रकार अज्ञानी जीव ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के निकट जो राग होता है, उससे लाभ मानता है और यह राग मेरी वस्तु है, राग के प्रति ऐसा अनुभव करता है; परन्तु ज्ञान को राग से जुदा करके आनन्द का अनुभव नहीं करता। राग का अनुभव तो दुःख का – आकुलता का अनुभव है। इससे यहाँ कहते हैं कि तू ऐसे राग के अनुभव को छोड़कर अन्दर जो ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा विराजता है, उसका अनुभव कर तो तुझे आनन्द का – सुख का अनुभव होगा।

अहा हा ! अमृत का सागर भगवान अन्दर ज्ञान और आनन्द से छलाछल भरा हुआ है। उसका अनुभव छोड़कर परसंयोग में, स्त्री के विषय में, आबरू में, धन-दौलत में, बाग-बंगला में तुझे अच्छा लगता है, आनन्द आता है, मिठास आती है। ऐसा जो मानता है वह तो आत्मघाती है ही; किन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि अन्दर जो शुभराग के विकल्प उठते हैं, उन्हें निज मानकर एकमेकपने अनुभव करे, 'ये विकल्प मैं हूँ और इनसे मुझे लाभ होता है' – ऐसा जो माने तो वह भी आत्मघाती है, हिंसक है। भले ही वह दिगम्बर जैनसाधु हो, पंचमहाव्रत पालता हो, जंगल में रहता हो, हजारों रानियों को छोड़ा हो; तथापि हिंसक है, ऐसा कहते हैं। भगवान ! धर्म कोई जुदी वस्तु है।

प्रश्न – समकिती तो भोगता है न ?

उत्तर – भाई ! तुझे खबर नहीं है, समकिती के छियानवै हजार रानियाँ, छहखण्ड का राज्य, चक्रवर्तीपना, तथा किसी को तीर्थंकरपना भी हो; परन्तु इनको वह भोगता नहीं है। समकिती को जो विकल्प आता है उसे वह हलाहल-जहर मानता है, काले नाग की तरह इन भोगों को उपसर्ग मानता है; इनमें उसे रस या आनन्द नहीं आता। चक्रवर्ती हो व मणिरत्नों से जड़ित हीरों के सिंहासन पर बैठा हो व हजारों मुकुटबद्ध

राजा उसके चँवर ढ़ोर रहे हों; तथापि इनमें उसे कहीं भी आत्मा का आनन्द भासित नहीं होता। हाँ ! उसे राग आता है, अभी चारित्रमोह-जनित आसक्ति भी है, परन्तु उसे इनमें सुख भासित नहीं होता। वह राग को एकपने – निजपने अनुभव नहीं करता। इन रागादि अनात्मा में, आत्मपना नहीं मानता।

जैसे हाथी आदि पशु सुन्दर-आहार को तृणसहित खाता है; उसी-प्रकार अज्ञानी ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा को रागसहित अनुभव करता है, अतः आचार्य उसे पशु जैसा कहते हैं। सर्वथा एकान्तवादियों के एकान्त नित्य-अनित्यादि के १४ भंगों के १४ श्लोक (२४८ से २६१ तक) समयसार में आते हैं। वहाँ इन एकान्तवादियों को विवेकहीन पशु कहकर संबोधित किया है। अहा ! जिनको निजस्वभाव का भान नहीं है और एकान्तदृष्टि से मानें कि 'यह जो राग है वह मैं हूँ', तो वे पशु ही हैं। अन्त में इसका फल भी पशु अर्थात् निगोद ही है। इसलिए आचार्य करुणा करके कहते हैं कि जैसे पशु सुन्दर-आहार में घास को मिलाकर खाता है वैसे ही सुन्दर ज्ञायकस्वभावी आत्मा के साथ राग को मिलाकर स्वाद लेने के स्वभाव को छोड़ ! छोड़ !! राग से भिन्न एक सुन्दर ज्ञायकभाव का अनुभव कर; यह अनुभव आनन्दरूप है, सुखरूप है।

अब कहते हैं कि – 'जिसने समस्त संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय-ज्योति है – ऐसे सर्वज्ञज्ञान से स्फुट (प्रगट) करने में आता हुआ जो नित्य उपयोग स्वभावरूप जीवद्रव्य, वह किसप्रकार पुद्गल-द्रव्यरूप हो गया। जिससे तू ऐसा अनुभव करता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'?

देखो ! सर्वज्ञपरमेश्वर त्रिलोकीनाथ अरहंतदेव को समस्त सन्देहरहित, निःसन्देह, सभीप्रकार की विपरीततारहित, अविपरीत तथा किसी भी प्रकार के अनध्यवसायरहित – चौकस-ज्ञान हुआ है। अहा हा ! चैतन्यसूर्य सर्वज्ञदेव भगवान को एकसमय में लोकालोक को जाननेवाली केवलज्ञान-रूप अद्वितीयज्योति प्रगट हुई है। भगवान तीर्थंकरदेव ने 'यह जीव कैसा है', यह देखा है और दिव्यध्वनि में कहा है। यहाँ कहते हैं कि भगवान सर्वज्ञदेव के ज्ञान में तो ऐसा आया है कि यह जीवद्रव्य नित्य उपयोग-स्वभावरूप है। अहा हा ! नित्य ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक – ऐसा उपयोग-स्वभावरूप जीव है, यह त्रिकाली की बात है। जिसे सर्वज्ञपना उपयोगरूप

दशा में प्रगट हुआ – उन अरहंत परमात्मा ने भी आत्मा को नित्य उपयोगरूप ही देखा है।

सर्वज्ञदेव ने देखा है कि यह आत्मा नित्य-उपयोगस्वभावमय अर्थात् जानने-देखने के स्वभावरूप चेतन है। ऐसे आत्मा को वर्त्तमान पर्याय में नजर में न लेकर, तेरी नजर राग पर गई और यह मानने लगा कि 'राग मैं हूँ'; 'राग में मेरी वस्तु है'; जबकि राग तो जड़-अचेतनरूप-पुद्गलमय है; तब वह राग मेरा अर्थात् पुद्गल मेरा – इसप्रकार पुद्गलद्रव्य तेरा कैसे हो गया ? भगवान केवली ने तो तेरे आत्मा को जाननेवाला – देखनेवाला स्वभावरूप ही देखा है, और तू कहता है कि 'राग मैं हूँ', परन्तु चैतन्य-उपयोग से विरुद्ध अचेतन-रागस्वरूप तू कैसे हो सकता है ? ऐसा अचेतन-पना चेतन को कैसे शोभा देवे ? तूने मान लिया कि 'मैं रागरूप हूँ', तो क्या तेरे मानने मात्र से तू रागरूप हो गया ? जिससे तू ऐसा अनुभव करता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है।

पर्याय में राग का अनुभव; यह तो पुद्गल का अनुभव है। यहाँ पुद्गल का अर्थ जड़ (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला पुद्गल) नहीं, किन्तु अन-उपयोगस्वरूप दया, दान, व्रतादिक परिणाम हैं, ये स्वयं को अथवा पर को नहीं जानते, इससे इन्हें जड़, अचेतन या पुद्गल कहा है। ये रागादि परिणाम चैतन्यउपयोगस्वरूप से भिन्न चीज हैं। यहाँ कहते हैं कि भगवान ने तो तुझे उपयोगस्वरूप देखा है, तू ऐसी झूठी मान्यता कहाँ से लाया कि 'मैं तो रागस्वरूप हूँ'। बापू ! सूक्ष्म बात है। सम्प्रदाय (स्थानकवासी) में तो व्रत पालो और दया करो; इससे धर्म हो जायगा – ऐसा कहते हैं। परन्तु भाई ! धर्म का मार्ग जुदा है। आत्मवस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। वहाँ पर्याय ध्रुव उपयोगरूप नित्यानंदस्वभाव का लक्ष्य करके उत्पन्न नहीं हो, तो धर्म किसप्रकार हो ? वर्त्तमान पर्याय ने उपयोग में दया, दान, व्रतादि के राग को लक्ष्य में लेकर और 'यह राग मेरा अस्तित्व' – ऐसा माना तो यह तो पुद्गल का ही अनुभव हुआ, भगवान आत्मा का अनुभव तो रह ही गया।

अब कहते हैं कि – जो नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य है; वह किसप्रकार पुद्गल द्रव्यरूप हो गया कि जिससे तू यह 'पुद्गलद्रव्य मेरा है', ऐसा अनुभव करता है, क्योंकि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य-रूप हो जाये और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो जाये तो ही 'नमक के पानी' के अनुभव की भांति 'मेरा यह पुद्गलद्रव्य' ऐसी अनुभूति सही हो सकती है; परन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से बनता नहीं है।

नमक बरसात में पानी में घुल जाता है और दूसरे मौसम में यह पानी से भिन्न होकर नमक हो जाता है। जैसे नमक घुलकर 'नमक का पानी' अनुभव में आता है, क्या इसीप्रकार आनन्द का नाथ चैतन्यस्वरूप ज्ञान-रसकन्द भगवान आत्मा घुलकर—पिघलकर रागरूप हो गया है ? नहीं हुआ। जैसे नमक घुलकर पानी हो जाता है, उसीतरह उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा अपनी उपयोग की सत्ता को छोड़कर अन-उपयोगरूप—रागरूप हो तो 'मेरा यह पुद्गल द्रव्य', ऐसी अनुभूति सही मानी जावे। दया, दान, व्रतादि का या 'राग यह मैं हूँ', ऐसा अनुभव तभी सही माना जाय कि जब भगवान आत्मा अपना ज्ञानानन्दभाव छोड़कर रागरूप हो जाय, परन्तु ऐसा तो किसीप्रकार भी बनता नहीं है। भगवान आत्मा तो सदा अखण्ड अभेद एकज्ञायकभावरूप अनादि-अनंत रहता है और राग, रागपने भिन्न ही रहता है।

अब इसी बात को दृष्टांत देकर समझाते हैं। जैसे खारापना जिसका लक्षण है, ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ दिखाई देता है और प्रवाहीपना जिसका लक्षण है, ऐसा पानी नमकरूप होता हुआ दिखाई देता है, क्योंकि खारापने और प्रवाहीपने के एक साथ रहने में अविरोध है, कोई बाधा नहीं है। उसीप्रकार नित्य-उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता और नित्य-अनुपयोग (जड़) लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता। अहा हा ! क्या कहते हैं ? जैसे खारापना और प्रवाहीपना ये दोनों विरुद्ध नहीं हैं, एक साथ रह सकते हैं; वैसे ही यह नित्य-उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य राग-रूप होता हुआ नहीं देखा जाता है। भाई ! बात यह है कि मनुष्यों को मूलतत्त्व का तो पता नहीं और व्रत, तप, उपवासादि करके यह मानते हैं कि 'धर्म हो गया'। भाई ! बाह्य क्रियायें कर-करके मर जायगा। कुछ लोग आत्मज्ञान विना इन राग की क्रियाओं में—पुद्गल की क्रियाओं में धर्म मानते हैं, परन्तु ये धर्म नहीं हैं; क्योंकि इन शुभभावों से पुद्गल बंधता है और इसके फल में पुद्गल ही मिलता है, आत्मा नहीं मिलता।

भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव समझ का पिण्ड प्रभु नित्य-उपयोग-स्वभाव है। इसे पर्याय में, दृष्टि में, लक्ष्य में लिए विना, पर्याय में राग का लक्ष्य किया और राग को ही अनुभव किया, परन्तु इससे क्या आत्मा राग के स्वभावरूप हो गया ? जैसे नमक की डली पिघलकर पानी हो जाती है, क्या ऐसे ही ज्ञायक रागरूप हो जाती है ? कभी नहीं होता।

खारापने और प्रवाहीपने में विरोध नहीं है, परन्तु नित्य-उपयोग-लक्षण जीवद्रव्य और अन-उपयोगस्वरूप राग – इन दोनों में विरोध है। ये दोनों एकरूप नहीं होते। चैतन्य-उपयोगस्वभाव भगवान आत्मा रागरूप कभी भी नहीं होता। जैसे नमक पिघलकर पानी हो जाता है, ऐसा तो तूने देखा है; वैसे भगवान ज्ञायक चैतन्य-उपयोगस्वरूप वस्तु को अचेतन-पुद्गलस्वभाव से – रागस्वभाव से होता हुआ कभी तूने देखा है क्या? भाई! 'राग मैं हूँ' ऐसा तूने माना है, परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। रागरूप से जीव कभी भी नहीं हुआ।

जैसे सूर्य की किरण में प्रकाश होता है; उसीप्रकार चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा की किरण में (चैतन्य का) प्रकाश होता है। इसमें राग नहीं होता, क्योंकि राग तो अन्धकारमय है। अंधकार भी क्या सूर्य का कहला सकता है? नहीं कहला सकता। उसीतरह क्या रागरूप अंधकार चैतन्यसूर्य का अंश कहला सकता है? नहीं कहला सकता। यह बात दूसरी जगह कहीं भी नहीं है। सम्प्रदाय में लोग कहते हैं कि यह सब निश्चयाभास है। परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। बापू! निश्चयमार्ग ही यह है। चैतन्यसूर्य की किरण – पर्याय तो निर्मल ज्ञानमय होती है, किन्तु रागमय – अंधकारमय नहीं होती है। राग तो मलिन, अचेतन, जड़, पुद्गल है। उसको और चैतन्य को तुमने एक माना, यह मिथ्यात्वभाव है।

जो ज्ञानपर्याय जिस आत्मद्रव्य की है, उस ज्ञानपर्याय ने उसी आत्मद्रव्य को ज्ञेय न बनाकर, जो राग उसमें नहीं है, उस राग को ज्ञेय बनाया और उसी में एकत्वबुद्धि की, यही मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यतावाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं। पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा त्रिकालीध्रुव को दृष्टि में लेकर 'यह आत्मा मैं हूँ', ऐसा जिस पर्याय ने स्वीकार किया वह पर्याय सत्य हुई, क्योंकि उस पर्याय में सत्य की स्वीकृति है। और यही पर्याय सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

अहा हा! आचार्यों ने – दिगम्बर सन्तों ने असीम करुणा की है। वे तो जंगल में बसते थे। उनको किसी की क्या पड़ी थी। ताड़पत्रों के ऊपर जो अक्षर लिखे जाते थे, वे उन्हें लिखते नहीं थे; मात्र जानते थे। लिखे जाने के वाद कोई शिष्य या श्रोता आवे तो उसे सौप दूँ, ऐसी प्रतीक्षा भी नहीं करते थे। अंकलेश्वर के वगल में सजोद गाँव है, वहाँ हम गये थे। वहुत पुराना गाँव है। भगवान की प्रतिमा भी वहुत पुरानी है। आस-पास नदी के किनारे हजारों ताड़पत्रों के झाड़ हैं। मुनिराज वहाँ रहते थे और झाड़ पर से नीचे गिरे हुए ताड़पत्रों पर लिखते थे और वहीं

छोड़ देते थे। किसी गृहस्थ को पता हो कि मुनिराज ताड़पत्र पर शास्त्र लिखते हैं तो वह लिखे हुए, वन में पड़े ताड़पत्रों को उठा लाता था। भाई! इसप्रकार संग्रह होकर यह शास्त्र बना है। इसमें कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यह कहा है कि हे भगवान! तेरी प्रभुता शुद्धोपयोगमय है। तेरी ईश्वरता – सामर्थ्यता राग से भिन्न आत्मा में अन्दर पड़ी है। ३१वीं गाथा में कहा है कि :–

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू ।।

भाई! राग से भिन्न तेरा ज्ञानतत्त्व अन्दर में ध्रुव पूर्णानन्द से भरा हुआ एक अखण्ड पड़ा है। उसका अनादर करके, उसे दृष्टि का विषय न बनाकर 'राग मैं हूँ' – ऐसा पर्याय में राग को विषय बनाया; यह दृष्टि विपरीत है, मिथ्या है।

भगवान आत्मा चैतन्यघन है। जैसे पहले शीतकाल में घी जमकर ऐसा घन (ठोस) हो जाता था कि उसमें उँगली का प्रदेश तो होता ही नहीं था, परन्तु लँगरा (लोहे का पैना खुरचा) का भी प्रवेश नहीं हो पाता था, वैसे ही यह भगवान आत्मा है। उसमें शरीर, मन, वाणी और कर्म तो प्रवेश पाते ही नहीं, किन्तु विकल्पों का भी प्रवेश नहीं होता। जब इस नित्य-उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा में विकल्पों का प्रवेश नहीं है तो 'मैं राग हूँ', ऐसा तू किसप्रकार कहता है? जैसे खारेपने में और प्रवाहीपने में अविरोध है अर्थात् नमक पिघलकर प्रवाहीरूप हो जाता है, उसीप्रकार क्या ज्ञानघन नित्य-उपयोगरूप भगवान आत्मा पिघलकर रागरूप हो जाता है? (कभी नहीं होता)।

सम्प्रदाय में व्याख्यान प्रारम्भ होते समय बोलते हैं कि 'मत मारो, मत मारो'। हम भी बोलते थे कि किसी जीव को 'मत मारो, मत मारो' – यह भगवान का उपदेश है। भाई! परजीव को कौन मार सकता है? तू इस राग को निज का मानकर स्वभाव की हिंसा करता है, यह तेरा ही घात है। ये पुण्य-पाप के विकल्प तो राग हैं, अस्वभावभाव हैं, अन-उपयोगमय अचेतन हैं, जड़ हैं और दुःखदायक हैं; परन्तु इसको कहाँ परवाह है। बस, सारा दिन रोना, खाना, पीना और भोग-भोगना। कभी कदाचित् समय मिलने पर शास्त्र सुनने भी जावे तो कुगुरु इसे लूट लेते हैं। बस! यही सुनने को मिलता है कि दया पालो, व्रत करो, आदि; इससे कल्याण हो जावेगा, परन्तु इससे धूल भी कल्याण नहीं होता। भाई सुन! भगवान

सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है, वैसा नित्य-उपयोगस्वभावी चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की तुझे खबर नहीं है। यह सदा जाननेरूप स्वभाव में रहनेवाला ज्ञायकप्रभु कभी भी रागभावरूप नहीं हुआ। जैसे नमक पिघलकर पानी हो जाता है; उसप्रकार यह ज्ञानघन पिघलकर कभी भी रागरूप नहीं होता। अहो ! अद्भुत शैली है, अद्भुत बात है।

यह शरीर आदि जड़ तो सब माटी के आकार हैं, ये कोई आत्मा के नहीं हैं, आत्मा में नहीं हैं और इनमें भी आत्मा नहीं है; अरे ! शरीर की आकृति को सुन्दर देखकर तुझे उमंग और उत्साह क्यों आता है ? यह उत्साह (राग) तो पुद्गल के प्रति है, तेरे आत्मा का तो वहाँ घात होता है। अरे ! 'पर से आनन्द आता है' – ऐसा तूने माना है, परन्तु तेरे आनन्द की खान तो त्रिकाली ध्रुव पूर्णानन्द का नाथ, प्रभु, आत्मा है, उसमें से आनन्द आता है। जैसे गुड़ का रवा (दाना) होता है, वह रवा बहुत धूप पड़ने पर पिघलकर रसरूप हो जाता है। यह रस गुड़ का है या कड़वी कालीजीरी का ? गुड़ का ही है, कालीजीरी का नहीं। उसीप्रकार भगवान आत्मा ध्रुव उपयोगमय ज्ञानानन्दस्वभावी है; इसमें एकाग्र होने पर अन्दर से ज्ञान और आनन्द का प्रवाह पिघलता है। जैसे गुड़ पिघलता है तो मिठासपने पिघलता है, उसीतरह भगवान आत्मा परिणमन करता है तो ज्ञान और आनन्द की पर्यायरूप से परिणमन करता है।

अहो ! ये गाथायें कैसी अलौकिक हैं ? एक-एक गाथा निहाल कर देने वाली है, दृष्टि को बदल देनेवाली है। इस आत्मा में जा ! वहाँ (राग में) कहाँ जाता है ? अरे तुझे विकल्प का और विकल्पों के निमित्त से होनेवाली शरीर की उपवासादि क्रियाओं का, जिससे शरीर जीर्ण-शीर्ण और शिथिल होता है, – माहात्म्य क्यों आता है ? अन्दर अनन्त-महिमावन्त अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का नाथ है, उसमें एकाग्रता कर और उसी का ध्यान कर, तो जैसे गुड़ का रवा मिठासरूप से प्रवाहित होता है उसी-प्रकार इस आत्मा में से आनन्द व ज्ञान प्रवाहित होगा।

अब कहते हैं कि नित्य-उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्यरूप होता हुआ देखने में नहीं आता है और नित्य-अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता है, क्योंकि प्रकाश और अंधकार की तरह उपयोग और अनुपयोग का एकसाथ रहने में विरोध है, जड़-चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते। देखो ! जहाँ प्रकाश है वहाँ अंधकार नहीं है, और जहाँ अंधकार है वहाँ प्रकाश नहीं होता। उसीप्रकार भगवान आत्मा जब चैतन्य-प्रकाश में हो तब राग-अंधकार में

नहीं होता और जब राग-अंधकार में हो तब चैतन्य-प्रकाश में नहीं होता। देखो! कैसी शैली है। राग को पहले अस्वभावभाव कहा था, यहाँ उसे अंधकार कहा है। कर्त्ताकर्म अधिकार गाथा ७२ में राग को अशुचि, जड़, और दु:खरूप कहा है। राग जड़ और अंधकाररूप है, क्योंकि वह न तो स्वयं को जानता है और न पर को ही जानता है। वह ज्ञान से जानने योग्य है, परन्तु वह जानता नहीं है, इसलिए जड़ है।

अहा हा! प्रकाश और अंधकार की तरह उपयोग व अनुपयोग, स्वभावभाव व अस्वभावभाव, चेतनभाव व अचेतनभाव, आनन्दभाव व जड़भाव (दु:खमयभाव) – दोनों का एकरूप का रहने में विरोध है। मोक्ष अधिकार में आता है कि 'साधक को जो राग भाव है, वह विषकुम्भ है और जो वीतरागभाव है वह अमृतकुम्भ है। दोनों का एकपने से रहने में विरोध है। साधक की पर्याय में दोनों एकसाथ होते हुए वस्तुपने भिन्न हैं, एकरूप नहीं हैं। यहाँ एकसाथ रहने का विरोध कहा; इसका अर्थ कुछ लोग ऐसा लेते हैं कि 'जहाँ आनन्द है, वहाँ राग नहीं है', किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है; क्योंकि मुनियों के आनन्द भी है, और राग भी है; परन्तु आनन्द राग से भिन्नपने रहता है, दो एकपने नहीं रहते (अर्थात् मुनियों के जिस अंश में वीतरागता है – आनन्द है, वह तो आत्मा के साथ में एकपने अनुभव में आता है और जितना राग है वह आत्मा से भिन्नपने है); इसलिए यहाँ ऐसा लेना कि उपयोग को और अन-उपयोग को एकसाथ या एकपने रहने में विरोध है। राग रागरूप से है, ज्ञाता स्वयं स्व में रहकर राग को जानता है। राग है, इसलिए जानता है – ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञाता की ज्ञानशक्ति की ही ऐसी सामर्थ्य है कि उससे वह राग को जानता है।

अहा हा! यह उपयोगस्वभाव तो प्रकाशरूप है और दया, दान, व्रत, भक्ति, उपवासादि शुभभाव अंधकारस्वरूप हैं। भाई! बहुत कठोर बात है। आजकल के लोग तो "आठ उपवास करें और उसके बाद एक 'अट्ठम' करें तो पच्चीस उपवास का फल मिलता है" – ऐसा कहते हैं। परन्तु भाई! यह तो अपवास अर्थात् मीठावास है, यहाँ उपवास कहाँ है? उप् अर्थात् समीप, वास अर्थात् बसना-रहना। 'आनन्द के नाथ भगवान आत्मा के समीप बसना, वह उपवास है,' परन्तु यह तो वहाँ बसा ही नहीं।

आत्मा चैतन्य-प्रकाशस्वरूप है और राग – अंधकाररूप है। दोनों के एकपने रहने में विरोध है। दोनों कभी एकरूप होते ही नहीं। कलशटीका के मोक्ष अधिकार में लिखा है कि दोनों के मध्य संधि है, नि:संधि –

एकरूप नहीं हुए। ज्ञानप्रकाश की मूर्ति चैतन्यज्योति व राग-अंधकार – इन दोनों के वीच संधि है, दरार है, दोनों जुदे हैं। भाई! वीतराग का मार्ग ऐसा ही है। सारा जगत् अंधकार में चलता है। यह करूँ, वह करूँ, यह छोड़ूँ, वह ग्रहण करूँ – ऐसे 'करना, करना, करना' क्या तेरा काम है? नहीं, ये विकल्प तो आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं; आत्मा के साथ इनका विरोध है। ये भाव कभी भी आत्मा के साथ एकरूप नहीं हुये हैं; इसलिए यह शरीर, मन, वाणी और सर्व विकल्पों का लक्ष्य छोड़कर प्रकाशरूप ज्ञायक भगवान, जो उपयोगस्वभाव से विराजता है उसे अन्दर में देख, जिससे तेरा भला होगा।

प्रवचनसार गाथा २०० में आता है कि ज्ञायक तो ज्ञायकपने ही रहा है, किन्तु तूने मोह से अन्यथा जाना है अर्थात् तूने इसे ज्ञायक न मानकर मिथ्यात्व के कारण रागरूप माना है। वस्तु तो ज्ञायकपने अनादि-अनन्त रही है, परन्तु तूने मान्यता में घोटाला किया है। तेरी मान्यता के अनुसार ज्ञायकवस्तु ज्ञेय (राग व परवस्तु) के साथ एकरूप हो गई है। वस्तु ज्ञायक चैतन्यसूर्य तो शान्तरसवाला उपशमरस से भरा हुआ शान्त-शान्त समुद्र – दरिया है। भक्ति में भी आता है कि 'उपशमरस बरसै रे प्रभु तारा नयन माँ'। आत्मा उपशमरस का कन्द अकषायस्वभावी – वीतरागस्वरूपी है। यह वीतरागस्वभावी वस्तु क्या कभी रागरूप होती है? (कभी नहीं होती)।

अब कहते हैं – इससे तू सर्वप्रकार से प्रसन्न हो जा और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है', ऐसा अनुभव कर। कहते हैं कि आनन्दमूर्ति चैतन्य-प्रकाश भगवान की जगमगज्योति त्रिकाल ऐसी की ऐसी ही रही है; रागरूप – दुःखरूप हुई ही नहीं; इसलिए तू सर्वप्रकार से (ग्लानि और निराशा छोड़कर) प्रसन्न हो जा। अहा हा! एकबार 'हाँ' तो कर! एकबार इस चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का आदर तो कर, एकबार उसमें दृष्टि तो कर, जिससे अन्दर में वीतरागमूर्ति भगवान निजस्वरूप से विराजता है, उसके तुझे दर्शन होंगे। कहा है कि :–

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझ ले, जिन-प्रवचन का मर्म॥

अहो! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका में अद्भुत अमृत वर्षाया है। कहते हैं कि सर्वप्रकार मे प्रसन्न हो जा। ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु अन्दर में पड़ी है, वीर्य को उछालकर अन्दर जा! इससे तुझे आनन्द-अमृत का स्वाद

आयेगा। करने योग्य तो यह है भाई ! यह नहीं किया तो कुछ नहीं किया। दुनियाँ ऐसी सरस बातों को छोड़कर तकरार, वाद-विवाद, झगड़ों में पड़ती है; परन्तु इन वाद-विवादों में, झगड़ों में आत्मा कहाँ मिलता है ?

अनन्तबार नरक में गया, निगोद में गया, आर्तध्यान और रौद्रध्यान किया, मिथ्यात्वभाव का सेवन किया, परन्तु ज्ञायक भगवान – तो ऐसा का ऐसा हो रहा है। इसलिए कहते हैं कि तू प्रसन्न होकर – प्रमुदित होकर चित्त को उज्जवल कर। पर के लक्ष्य से जो तेरा चित्त मलिन है, उसे स्व का लक्ष्य करके स्वच्छ कर और अन्दर एकरूप ज्ञायकभाव में ही सावधान होकर इस स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है', ऐसा अनुभव कर। अहा हा ! स्वद्रव्य जो निज त्रिकाली ज्ञायकभाव चिदानन्दस्वरूप आत्मा – 'यही मैं हूँ', इस प्रकार वर्त्तमान पर्याय को यहाँ (ज्ञायकभाव में) जड़ दे, इसी में स्थिर कर दे। अहो कैसी शैली है ! बिल्कुल सादी भाषा में ऊँचे से ऊँचा तत्त्व भर दिया है। कहते हैं कि प्रसन्न होकर, अन्तरंग में सावधान होकर परणति को एक ज्ञायक में ही लीन कर दे, डुबा दे। लो, यह श्रीगुरुओं का उपदेश है।

गाथा २३-२४-२५ के भावार्थ पर प्रवचन

यह अज्ञानी जीव पुद्‌गलद्रव्य को निज मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतन – ये दोनों द्रव्य सर्वथा जुदे-जुदे हैं। इस देह में भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप से स्वयं विराजमान है, फिर भी स्वयं कौन और कैसा है – इसकी जिसको खबर नहीं, वह अज्ञानी है; ऐसा अज्ञानीजीव पुद्‌गलद्रव्य को निज मानता है। जिसको निज की वस्तु जो अनादि से एक ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह ख्याल में नहीं आई, वह अन्य में, – पर में अपना अस्तित्व मानता है। वह पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव या हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभभाव – जो निश्चय से पुद्‌गल हैं, स्वभाव नहीं हैं – उन्हें निज मानता है।

अपने सत्त्व की अनादि से खबर नहीं होने से, अपनी वस्तु से विपरीत ऐसे पुण्य-पाप के विकल्पों को – राग को, जो निज का सत्त्व मानते हैं, उन्हें यहाँ सन्तों ने उपदेश करके सावधान किया है। भाई ! तू तो त्रिकाली ज्ञायक प्रभु चैतन्यद्रव्य है और जिसको तू अपना मानता है ऐसे ये पुण्य-पाप के विकल्प – राग तो अचेतन हैं, जड़ हैं, पुद्‌गलरूप हैं। किसी भी प्रकार से ये दोनों एक नहीं हैं।

आजकल के जैन-पत्रों में बहुत अधिक आता है कि – व्यवहार दया, दानादि के भावों को पुण्य कहकर आप (कानजी स्वामी) हेय कहते हो;

एकरूप नहीं हुए। ज्ञानप्रकाश की मूर्ति चैतन्यज्योति व राग-अंधकार – इन दोनों के वीच संधि है, दरार है, दोनों जुदे हैं। भाई! वीतराग का मार्ग ऐसा ही है। सारा जगत् अंधकार में चलता है। यह करूँ, वह करूँ, यह छोड़ूँ, वह ग्रहण करूँ – ऐसे 'करना, करना, करना' क्या तेरा काम है? नहीं, ये विकल्प तो आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं; आत्मा के साथ इनका विरोध है। ये भाव कभी भी आत्मा के साथ एकरूप नहीं हुये हैं; इसलिए यह शरीर, मन, वाणी और सर्व विकल्पों का लक्ष्य छोड़कर प्रकाशरूप ज्ञायक भगवान, जो उपयोगस्वभाव से विराजता है उसे अन्दर में देख, जिससे तेरा भला होगा।

प्रवचनसार गाथा २०० में आता है कि ज्ञायक तो ज्ञायकपने ही रहा है, किन्तु तूने मोह से अन्यथा जाना है अर्थात् तूने इसे ज्ञायक न मानकर मिथ्यात्व के कारण रागरूप माना है। वस्तु तो ज्ञायकपने अनादि-अनन्त रही है, परन्तु तूने मान्यता में घोटाला किया है। तेरी मान्यता के अनुसार ज्ञायकवस्तु ज्ञेय (राग व परवस्तु) के साथ एकरूप हो गई है। वस्तु ज्ञायक चैतन्यसूर्य तो शान्तरसवाला उपशमरस से भरा हुआ शान्त-शान्त समुद्र – दरिया है। भक्ति में भी आता है कि 'उपशमरस बरसै रे प्रभु तारा नयन माँ'। आत्मा उपशमरस का कन्द अकषायस्वभावी – वीतरागस्वरूपी है। यह वीतरागस्वभावी वस्तु क्या कभी रागरूप होती है? (कभी नहीं होती)।

अब कहते हैं – इससे तू सर्वप्रकार से प्रसन्न हो जा और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है', ऐसा अनुभव कर। कहते हैं कि आनन्दमूर्ति चैतन्य-प्रकाश भगवान की जगमगज्योति त्रिकाल ऐसी की ऐसी ही रही है; रागरूप – दुःखरूप हुई ही नहीं; इसलिए तू सर्वप्रकार से (ग्लानि और निराशा छोड़कर) प्रसन्न हो जा। अहा हा! एकबार 'हाँ' तो कर! एकबार इस चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का आदर तो कर, एकबार उसमें दृष्टि तो कर, जिससे अन्दर में वीतरागमूर्ति भगवान निजस्वरूप से विराजता है, उसके तुझे दर्शन होंगे। कहा है कि :–

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझ ले, जिन-प्रवचन का मर्म॥

अहो! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका में अद्भुत अमृत वर्षाया है। कहते हैं कि सर्वप्रकार से प्रसन्न हो जा। ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु अन्दर में पड़ी है, वीर्य को उछालकर अन्दर जा! इससे तुझे आनन्द-अमृत का स्वाद

आयेगा। करने योग्य तो यह है भाई! यह नहीं किया तो कुछ नहीं किया। दुनियाँ ऐसी सरस वातों को छोड़कर तकरार, वाद-विवाद, झगड़ों में पड़ती है; परन्तु इन वाद-विवादों में, झगड़ों में आत्मा कहाँ मिलता है ?

अनन्तबार नरक में गया, निगोद में गया, आर्तध्यान और रौद्रध्यान किया, मिथ्यात्वभाव का सेवन किया, परन्तु ज्ञायक भगवान – तो ऐसा का ऐसा हो रहा है। इसलिए कहते हैं कि तू प्रसन्न होकर – प्रमुदित होकर चित्त को उज्जवल कर। पर के लक्ष्य से जो तेरा चित्त मलिन है, उसे स्व का लक्ष्य करके स्वच्छ कर और अन्दर एकरूप ज्ञायकभाव में ही सावधान होकर इस स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है', ऐसा अनुभव कर। अहा हा! स्वद्रव्य जो निज त्रिकाली ज्ञायकभाव चिदानन्दस्वरूप आत्मा – 'यही मैं हूँ', इस प्रकार वर्त्तमान पर्याय को यहाँ (ज्ञायकभाव में) जड़ दे, इसी में स्थिर कर दे। अहो कैसी शैली है! बिल्कुल सादी भाषा में ऊँचे से ऊँचा तत्त्व भर दिया है। कहते हैं कि प्रसन्न होकर, अन्तरंग में सावधान होकर परणति को एक ज्ञायक में ही लीन कर दे, डुबा दे। लो, यह श्रीगुरुओं का उपदेश है।

गाथा २३-२४-२५ के भावार्थ पर प्रवचन

यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को निज मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतन – ये दोनों द्रव्य सर्वथा जुदे-जुदे हैं। इस देह में भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप से स्वयं विराजमान है, फिर भी स्वयं कौन और कैसा है – इसकी जिसको खबर नहीं, वह अज्ञानी है; ऐसा अज्ञानीजीव पुद्गलद्रव्य को निज मानता है। जिसको निज की वस्तु जो अनादि से एक ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह ख्याल में नहीं आई, वह अन्य में, – पर में अपना अस्तित्व मानता है। वह पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव या हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभभाव – जो निश्चय से पुद्गल हैं, स्वभाव नहीं हैं – उन्हें निज मानता है।

अपने सत्त्व की अनादि से खबर नहीं होने से, अपनी वस्तु से विपरीत ऐसे पुण्य-पाप के विकल्पों को – राग को, जो निज का सत्त्व मानते हैं, उन्हें यहाँ सन्तों ने उपदेश करके सावधान किया है। भाई! तू तो त्रिकाली ज्ञायक प्रभु चैतन्यद्रव्य है और जिसको तू अपना मानता है ऐसे ये पुण्य-पाप के विकल्प – राग तो अचेतन हैं, जड़ हैं, पुद्गलरूप हैं। किसी भी प्रकार से ये दोनों एक नहीं हैं।

आजकल के जैन-पत्रों में बहुत अधिक आता है कि – व्यवहार दया, दानादि के भावों को पुण्य कहकर आप (कानजी स्वामी) हेय कहते हो;

एकरूप नहीं हुए। ज्ञानप्रकाश की मूर्ति चैतन्यज्योति व राग-अंधकार – इन दोनों के बीच संधि है, दरार है, दोनों जुदे हैं। भाई! वीतराग का मार्ग ऐसा ही है। सारा जगत् अंधकार में चलता है। यह करूँ, वह करूँ, यह छोड़ूँ, वह ग्रहण करूँ – ऐसे 'करना, करना, करना' क्या तेरा काम है? नहीं, ये विकल्प तो आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं; आत्मा के साथ इनका विरोध है। ये भाव कभी भी आत्मा के साथ एकरूप नहीं हुये हैं; इसलिए यह शरीर, मन, वाणी और सर्व विकल्पों का लक्ष्य छोड़कर प्रकाशरूप ज्ञायक भगवान, जो उपयोगस्वभाव से विराजता है उसे अन्दर में देख, जिससे तेरा भला होगा।

प्रवचनसार गाथा २०० में आता है कि ज्ञायक तो ज्ञायकपने ही रहा है, किन्तु तूने मोह से अन्यथा जाना है अर्थात् तूने इसे ज्ञायक न मानकर मिथ्यात्व के कारण रागरूप माना है। वस्तु तो ज्ञायकपने अनादि-अनन्त रही है, परन्तु तूने मान्यता में घोटाला किया है। तेरी मान्यता के अनुसार ज्ञायकवस्तु ज्ञेय (राग व परवस्तु) के साथ एकरूप हो गई है। वस्तु ज्ञायक चैतन्यसूर्य तो शान्तरसवाला उपशमरस से भरा हुआ शान्त-शान्त समुद्र – दरिया है। भक्ति में भी आता है कि 'उपशमरस बरसै रे प्रभु तारा नयन माँ'। आत्मा उपशमरस का कन्द अकषायस्वभावी – वीतरागस्वरूपी है। यह वीतरागस्वभावी वस्तु क्या कभी रागरूप होती है? (कभी नहीं होती)।

अब कहते हैं – इससे तू सर्वप्रकार से प्रसन्न हो जा और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है', ऐसा अनुभव कर। कहते हैं कि आनन्दमूर्ति चैतन्य-प्रकाश भगवान की जगमगज्योति त्रिकाल ऐसी की ऐसी ही रही है; रागरूप – दुःखरूप हुई ही नहीं; इसलिए तू सर्वप्रकार से (ग्लानि और निराशा छोड़कर) प्रसन्न हो जा। अहा हा! एकबार 'हाँ' तो कर! एकबार इस चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का आदर तो कर, एकबार उसमें दृष्टि तो कर, जिससे अन्दर में वीतरागमूर्ति भगवान निजस्वरूप से विराजता है, उसके तुझे दर्शन होंगे। कहा है कि :–

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझ ले, जिन-प्रवचन का मर्म ॥

अहो! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका में अद्भुत अमृत वर्षाया है। कहते हैं कि सर्वप्रकार से प्रसन्न हो जा। ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु अन्दर में पड़ी है, वीर्य को उछालकर अन्दर जा! इससे तुझे आनन्द-अमृत का स्वाद

आयेगा। करने योग्य तो यह है भाई! यह नहीं किया तो कुछ नहीं किया। दुनियाँ ऐसी सरस बातों को छोड़कर तकरार, वाद-विवाद, झगड़ों में पड़ती है; परन्तु इन वाद-विवादों में, झगड़ों में आत्मा कहाँ मिलता है?

अनन्तबार नरक में गया, निगोद में गया, आर्तध्यान और रौद्रध्यान किया, मिथ्यात्वभाव का सेवन किया, परन्तु ज्ञायक भगवान – तो ऐसा का ऐसा ही रहा है। इसलिए कहते हैं कि तू प्रसन्न होकर – प्रमुदित होकर चित्त को उज्जवल कर। पर के लक्ष्य से जो तेरा चित्त मलिन है, उसे स्व का लक्ष्य करके स्वच्छ कर और अन्दर एकरूप ज्ञायकभाव में ही सावधान होकर इस स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है', ऐसा अनुभव कर। अहा हा! स्वद्रव्य जो निज त्रिकाली ज्ञायकभाव चिदानन्दस्वरूप आत्मा – 'यही मैं हूँ', इस प्रकार वर्त्तमान पर्याय को यहाँ (ज्ञायकभाव में) जड़ दे, इसी में स्थिर कर दे। अहो कैसी शैली है! बिल्कुल सादी भाषा में ऊँचे से ऊँचा तत्त्व भर दिया है। कहते हैं कि प्रसन्न होकर, अन्तरंग में सावधान होकर परणति को एक ज्ञायक में ही लीन कर दे, डुबा दे। लो, यह श्रीगुरुओं का उपदेश है।

गाथा २३-२४-२५ के भावार्थ पर प्रवचन

यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को निज मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतन – ये दोनों द्रव्य सर्वथा जुदे-जुदे हैं। इस देह में भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप से स्वयं विराजमान है, फिर भी स्वयं कौन और कैसा है – इसकी जिसको खबर नहीं, वह अज्ञानी है; ऐसा अज्ञानीजीव पुद्गलद्रव्य को निज मानता है। जिसको निज की वस्तु जो अनादि से एक ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह ख्याल में नहीं आई, वह अन्य में, – पर में अपना अस्तित्व मानता है। वह पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव या हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभभाव – जो निश्चय से पुद्गल हैं, स्वभाव नहीं हैं – उन्हें निज मानता है।

अपने सत्त्व की अनादि से खबर नहीं होने से, अपनी वस्तु से विपरीत ऐसे पुण्य-पाप के विकल्पों को – राग को, जो निज का [illegible] हैं, उन्हें यहाँ सन्तों ने उपदेश करके सावधान किया है। भाई! तू [illegible] त्रिकाली ज्ञायक प्रभु चैतन्यद्रव्य है और जिसको तू अपना मानता है [illegible] ये पुण्य-पाप के विकल्प – राग तो अचेतन हैं, जड़ हैं, पुद्गल[illegible] है। [illegible] भी प्रकार से ये दोनों एक नहीं हैं।

आजकल के जैन-पत्रों में बहुत अधिक आता है कि – [illegible] दानादि के भावों को पुण्य कहकर आप (कानजी स्वामी) [illegible]

किन्तु इनसे तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, इन्द्र आदि की पदवियाँ मिलती हैं और बाद में मोक्ष हो जाता है; तो इस पुण्य को हेय कैसे कहा जाय ? आप इसे हेय कहते हो तो यह तो अज्ञान है। उनमें लिखा है कि भगवान ने इसे धर्म कहा है और इससे ऊँचा पद मिलता है और पीछे मोक्ष में जाता है, इत्यादि। अरे भाई ! तुम्हें खबर नहीं है। बापू ! इन पदवियों का पुण्य किसे होता है ? जिसको देह-देवालय में विराजमान सच्चिदानन्द अनन्त-आनन्दकन्द भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है, तथा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है – ऐसे समकिती को जब कुछ विशिष्ट प्रकार का मन्दराग (पुण्यभाव) होता है, तब उनको उस राग के फल में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, इन्द्र आदि सात महत्त्वपूर्ण पदों की प्राप्ति होती है। जिनकी राग में हेयबुद्धि है और राग की इच्छा नहीं है – ऐसे सम्यग्-दृष्टियों को राग के (व्रतादिक के) फल में ये पद प्राप्त होते हैं। मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी को तो ये पद होते ही नहीं हैं, क्योंकि उनको आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन के अभाव में जो पुण्यादि भाव होते हैं, उनमें आत्मबुद्धि है और यही मिथ्यादर्शन और अज्ञान है।

अहा हा ! यह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शास्वत-वस्तु है। यह कोई नई वस्तु नहीं है, किसी ने बनाई नहीं है। अनादि से है और अनंतकाल तक रहनेवाली है; इसप्रकार यह अविनाशी है। इस अविनाशी वस्तु में अविनाशी अनंत-अनंत शक्तियाँ भरी हैं। दर्शन, ज्ञान, आनंद, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, स्वच्छत्व, उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व, आदि अनेक शक्तियाँ हैं।

प्रश्नः– गुणों का उत्पाद-व्यय नहीं होता, तो फिर उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व गुण क्यों कहा है ?

उत्तरः– गुणों का उत्पाद-व्यय नहीं होता है – यह बात तो ठीक है, गुण तो ध्रुव ही हैं; परन्तु यहाँ तो उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति – यह एक गुण है, जिसके कारण द्रव्य नवीन पर्यायरूप से उत्पन्न होता है और पूर्व पर्यायरूप से नाश को प्राप्त होता है तथा द्रव्यरूप से ध्रुव-कायम रहता है – ऐसी शक्ति (उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति) आत्मा में नित्य रहती है। नित्यानंदस्वरूप भगवान आत्मा में जो अनंत शक्तियाँ हैं, वे सब नित्य हैं, ध्रुव हैं।

ऐसी निजघर की बात छोड़कर जो पर की पंचायत करता है, वह अज्ञानी है। वह पुण्य-पाप के विकल्पों को – राग को अपना मानता है, परद्रव्य को अपना मानता है; उसे यहाँ सावधान किया है कि हे भाई ! सावधान हो। जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न हैं, कभी भी, किसी

भी प्रकार ये एकरूप नहीं होते, ऐसा सर्वज्ञ ने देखा-जाना है। भगवान आनंदमूर्ति चैतन्यस्वरूप आत्मा पृथक् है और जो पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, ये अचेतन-जड़विकल्प जुदे हैं। एक चेतन और दूसरे अचेतन होने से दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। यह शरीर, स्त्री, लड़का, ग्राम और देश तो कितने दूर हैं – प्रगट पर हैं; जो इनको भी अपना माने, उसकी मूर्खता का तो कोई ठिकाना नहीं। प्रभु! यह तो तेरी मूल में ही भूल है। यहाँ तो सूक्ष्म बात की है। यह जीव अधिकार है; इसलिए कहते हैं कि यह व्रत, तप आदि विकल्प अजीव हैं, जीव नहीं हैं; क्योंकि यदि जीव हो तो भिन्न नहीं हो सकते, किन्तु ये तो भिन्न हो जाते हैं; अतः ये दोनों सर्वथा जुदे-जुदे हैं, किसी भी प्रकार एक नहीं हैं। जैनशासन में 'सर्वथा' होता ही नहीं, ऐसा भी कितने ही लोग कहते हैं; किन्तु यहाँ कहते हैं कि आत्मा और राग सर्वथा जुदे हैं तथा यह शरीर और आत्मा तो सर्वथा भिन्न ही हैं।

यह आत्मा चैतन्यबिम्ब है और शरीर तो माटी, धूल, जड़ है; परन्तु ऐसा नक्की करने की फुरसत किसे है? इसके भान बिना दया, दान, व्रतादि करें और इस पुण्य के फल में स्वर्गादिक की सम्पदा मिले या करोड़-दो करोड़ की सेठाई मिले, तो ये धूल के सेठिया, वैभव के मद में रहते हैं, पीछे मरकर नरक-निगोद में चले जाते हैं (ऐसा ही चक्कर चला करता है)। यहाँ कहते हैं कि भगवान सच्चिदानन्द आत्मा राग तथा शरीर से सर्वथा भिन्न वस्तु हैं। ये किसी भी प्रकार एक नहीं होते – ऐसा सर्वज्ञ ने देखा है, जाना हैं। इसलिए हे अज्ञानी! तू परद्रव्य को एकपने मानना छोड़ दे। यह पहली बात है कि आत्मा शरीर और राग से भिन्न है – यह इसे कड़क लगती है, इसलिए शुभभाव करते-करते सब पदवियाँ मिल जायेंगी और बाद में मोक्ष हो जायगा, ऐसा विचार करता है, परन्तु धूल भी मिलने वाली नहीं है। ऊँचा-पुण्य अज्ञानी को बंधता ही नहीं है तो अज्ञानी को पदवी कैसी?

प्रश्नः – पहले भूमिका तो तैयार करनी पड़ेगी?

उत्तरः – पहले राग से भिन्न पड़, यही भूमिका है। यह आत्मा ज्ञानप्रकाश के नूर का पूर है, ऐसी इसको खबर ही कहाँ है? इसको देखने की इसे परवाह ही कहाँ है, फुरसत ही कहाँ है, तो फिर भूमिका कहाँ से तैयार करेगा? अरे रे! कमाना, खाना, पीना, कुटुम्ब आदि का पालन-पोषण, भोग-उपभोग करना, मरना, और चार गति में रखड़ना इत्यादि के सिवा इसे आत्मा के हित का विचार करने की फुरसत ही कहाँ है?

भाई ! तेरा स्वरूप तो त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा है। इस स्वरूप के भान बिना पुण्यभाव के विकल्पों से धर्म होता है – ऐसा तू मानता है, परन्तु यह मिथ्यादर्शन है। ज्ञानी को जबतक पूर्ण शुद्धता नहीं होती, तबतक शुभ-भाव आयेगा, व्यवहार आयेगा; परन्तु यह हेय है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। इससे कहते हैं कि – व्यर्थ की मान्यता छोड़। 'राग मैं हूँ' – ऐसी राग के साथ एकतापने की वृथामान्यता छोड़ और यह चैतन्यस्वरूप आत्मा 'मैं हूँ' – ऐसे स्वरूप का अनुभव कर।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ।।२३।।

श्लोकार्थ :–[अयि] 'अयि' यह कोमल सम्बोधन का सूचक अव्यय है। आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई ! तू **[कथम् अपि]** किसीप्रकार महाकष्ट से अथवा **[मृत्वा]** मरकर भी **[तत्त्वकौतूहली सन्]** तत्त्वों का कौतूहली होकर **[मूर्तेः मुहूर्तम् पार्श्ववर्ती भव]** इस शरीरादि से – मूर्तद्रव्य से एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर **[अनुभव]** आत्मानुभव कर **[अथ येन]** कि जिससे **[स्वं विलसन्तं]** अपने आत्मा के विलास को, **[पृथक्]** सर्व परद्रव्यों से भिन्न **[समालोक्य]** देखकर **[मूर्त्या साकम्]** इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ **[एकत्वमोहम्]** एकत्व के मोह को **[झगिति त्यजसि]** शीघ्र ही छोड़ देगा।

भावार्थ :– यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह के आनेपर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके, मोक्ष को प्राप्त हो। जब आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तब मिथ्यात्व का नाश करके, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिये श्रीगुरु ने प्रधानता से यही उपदेश दिया है।

कलश २३ पर प्रवचन

'अयि' यह कोमल सम्बोधन के अर्थवाला अव्यय है। आचार्य कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई ! तू किसी भी प्रकार – महाकष्ट से मरण

की भी परवाह न करके, तत्त्व का कौतूहली होकर, इन शरीरादि परद्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) के लिए पड़ौसी होकर, आत्मा का अनुभव कर। देखो, कहते हैं कि भगवन ! तू आनन्द का नाथ है, तू स्वयं को राग, शरीरादि से भिन्न करके देख। तेरा चिदानन्दस्वरूप अनादि-अनन्त, ऐसा का ऐसा विराजता है। महाकष्ट से अर्थात् महान् पुरुषार्थपूर्वक। यहाँ 'कष्ट' का अर्थ कष्ट नहीं, पुरुषार्थ है। अतः पूरा पुरुषार्थ करके, मरकर भी अर्थात् मरण की भी चिन्ता न करके, तू तत्त्व को समझने के लिए – अनुभव करने के लिए कौतूहली हो।

अहा हा ! आत्मा, आत्मा – ऐसा कहते रहते हैं, पर यह आत्मा है क्या चीज ? जिसे आजतक देखा नहीं है, यह आत्मा क्या चीज है ? एक-बार ऐसा कौतूहल तो कर। नई वस्तु देखने की उत्सुकता होती ही है; इसीप्रकार एकबार इसे भी देखने की उत्सुकता तो उत्पन्न कर, जिज्ञासा तो जगा, कौतूहल तो कर।

वहुत दिनों की बात है कि एक रानी थी। वह परदे में रहती थी। जब बाहर निकलती, तव लोग कौतूहल से देखने निकलते कि रानी साहिबा कैसी होंगी ? फिर देखने पर भले ही बदसूरत हो, किन्तु परदे में रहती थी इसलिए कौतूहल होता था। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है; यहाँ तो चैतन्य-हीरा अन्दर पड़ा है। इसलिए कहते हैं कि–ज्ञान की मूर्ति भगवान के अन्दर पूर्ण-चैतन्य-प्रकाश पड़ा है। इसे राग और शरीर से भिन्न करके देख, जरा कौतूहल तो कर कि यह देखने-जाननेवाला कौन है ? जो शरीर को जानता है, राग को जानता है; उसे जान। यह जाननेवाला कौन है ? कहते हैं कि जो जाननेवाला है, उसमें शरीर और रागादि नहीं हैं। जैसे शरीर और राग ज्ञान में नहीं हैं; उसीप्रकार ज्ञान शरीर और राग में नही है।

हे भाई ! यह चैतन्यतत्त्व क्या है ? ऐसे जानने के कौतूहलपूर्वक (जिज्ञासापूर्वक) इसे देख।

बीस बरस पहले की वात है। जामनगर में ९-१० वर्ष का एक लड़का था। उसने पूछा कि – महाराज ! चर्चा में आप 'आत्मा आत्मा' कहते हो; हम आँख मींचकर अन्दर देखते हैं वहाँ तो अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है; आत्मा तो दीखता नहीं है। भाई ! यह अंधेरा है, ऐसा किसने देखा ? इस ज्ञानप्रकाश ने अंधकार को देखा या अंधकार ने अंधकार को देखा। इस अंधकार को देखनेवाला जो ज्ञान है, वही आत्मा है; परन्तु इसको समझने की गरज कहाँ है ? इसे तो यह पैसा – पाँच-पचास

लाख की धूल मिले, कुछ इज्जत मिले, लोग जानें कि मैं बड़ा सेठ हूँ; इस अभिमान से फिर मरकर नरक-निगोद चला जाता है – इसप्रकार अजीव को अपना माननेवाले मूढ़ है। यहाँ तो खरी बात है भाई ! मक्खन लगाने की यानी किसी को खुश करने की बात नहीं है। अहा हा ! आचार्य की टीका तो देखो ! कहते हैं कि भगवान ! तू कौन है ? एक बार इसका कौतूहल तो कर, जानने को जिज्ञासा तो कर।

यह ज्ञायकस्वभाव तो ऐसा का ऐसा ही रहा है, अनादि से ऐसा ही है। चाहे जितना भी मिथ्यात्व सेवन किया, नरक-निगोद गया, कीड़े-कौए-कुत्ते आदि पशुओं के अनन्तभव किये, चौरासीलाख योनियों में अनन्तभव किये; तथापि यह भगवान आत्मवस्तु तो वस्तुपने (ज्ञायकभावरूप से) ही त्रिकाल रही है। इसलिए कहते हैं कि भाई ! कि तू इस मूलवस्तु को देख और प्राप्त कर। दूसरे विकल्प भले आवें, व्यवहार भले हो, किन्तु ज्ञानानन्द के भाव विना तेरे इस व्यवहार को व्यवहार नहीं कहते। लोगों को यह बात बहुत खटकती है और लोग इसमें ही अटकते हैं। यह व्यवहार भी व्यवहार कब कहलाये ? भाई, जब इसे अन्दर में आत्मा का अनुभव हो, फिर जब यह स्वरूप में स्थिर नहीं होता, तब इसे भक्ति, पूजा आदि का राग आता है; इस राग को व्यवहार कहते हैं, परन्तु यह पुण्यबंध का कारण है, धर्म नहीं है। इससे ही चक्रवर्ती, बलभद्र आदि पदवी मिलती है, परन्तु अज्ञानी अकेले दया, दान करके इन्हें धर्म माने, तो यह तो मिथ्यात्व का सेवन है। इससे तो परम्परा से नरक-निगोद ही जायगा। क्या करें भाई ! वस्तुस्थिति ऐसी ही है।

अहा हा ! कहते हैं कि इन शरीरादि मूर्तद्रव्यों का एक मुहूर्त पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर। शरीरादि अर्थात् सब मूर्तिकद्रव्य। दया, दान, व्रत आदि पुण्य के परिणाम भी मूर्त हैं, अतः इन मूर्तद्रव्यों का पड़ौसी हो जा (स्वामी मत रह) और ज्ञायकस्वभाव की ओर झुकाव कर। इससे तुझे राग और शरीर से पृथक् चैतन्य भगवान दिखाई देगा। तू राग और पुण्य का वेदन करता है, यह तो अजीव का अनुभव है। राग में चैतन्यज्योति नहीं है। जैसे अग्नि की ज्योति के ऊपर पतली-पतली काली राख होती है, वह अग्नि नहीं है, उसीप्रकार चैतन्यज्योति भगवान आत्मा में ऊपर-ऊपर जो पुण्य-पाप के विकल्प है, वे काजल समान हैं, आत्मा नहीं है। यहाँ कहते हैं कि इन पुण्य-पाप के विकल्पों से दो घड़ी भिन्न होकर निजचैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव कर। भाई ! जन्म-मरण का घेरा मिटाना हो तो करने योग्य एकमात्र यही है।

प्रभु ! एकवार तू राग और शरीर का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में लक्ष्य कर, इससे तुझे राग और शरीर का सच्चा पड़ौसीपना होगा। क्षणभर में आत्मा राग से जुदा पड़ जायेगा, फिर कभी एक नहीं होगा; यह अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। इसके विना व्रत, तप कर-करके मर जाये, पर इससे क्या होगा ? वहुत से वहुत शुभभाव होगा, किन्तु वह तो राग है। पं० दौलतरामजी ने तो छहढ़ाला में 'राग को आग' कहा है :-

यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।

राग का विकल्पमात्र आग है और भगवान आत्मा शान्ति का सागर है। राग कषाय है। कषाय अर्थात् कष+आय, जो संसार का लाभ दे। रागदशा तो संसार का लाभ देनेवाली है, इसलिए इससे पृथक् होकर अमृत के सागर प्रभु चैतन्यभगवान का अनुभव कर। यहाँ जैसे 'मृत्वा' अर्थात् मरणान्त परीषह की भी परवाह न करके आत्मा का अनुभव करने को कहा है, वैसे ही अध्यात्मतरंगणी में 'च्युत्वा' अर्थात् मोह से छूटकर, तू अन्दर आत्मा को देख और उसी का अनुभव कर, ऐसा कहा है। भाषा सादी है, पर भाव तो यह है भाई !

जव सम्यग्दर्शन होगा तव तुझे आत्मज्ञान होगा अर्थात् आत्मा जैसा है, वैसा तुझे ज्ञात होगा। उससे निज-पद प्राप्त होगा और फिर मोक्ष होगा। बाहर में धूम-धाम करे, मन्दिर वनवावे, परन्तु इन सब में सार वात यह एक ही है कि रागादि का पड़ौसी होकर आत्मा का कितना अनुभव किया ? (अनुभव ही प्रधान है)। अव कहते हैं तू आत्मा के विलासरूप को सर्व परद्रव्यों से जुदा देखकर, इन शरीरादि मूर्तिकपुद्गल-द्रव्यों के साथ एकपंने के मोह को तुरन्त छोड़ देगा।

पहले ऐसा कहा कि शरीरादि मूर्तद्रव्यों से भिन्न होकर किसी भी प्रकार आत्मा का अनुभव कर। अब कहते हैं कि इस अनुभव से तुझे अतीन्द्रिय-आनन्द का धाम भगवान आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न दिखाई देगा। जब पुण्य-पाप के विकल्पों का अनुभव था, तब स्व का विलास नहीं था और अव आत्मानुभव से स्व का विलास तुझे प्राप्त होगा।

'निजपद रमें सो राम कहीजै' – निज आनन्दधामस्वरूप आत्मा में रमे, वह आत्माराम है और उसे अतीन्द्रिय आनन्द की मौज – विलास प्राप्त होती है। इसलिए हे भाई ! आत्मानुभव कर, जिससे सर्व परद्रव्यों से भिन्न आत्मा के विलास को सम्यक् प्रकार से अवलोकन करके–देखकरके प्रत्यक्ष – साक्षात् आत्मा के आनन्द का वेदन करके, इन शरीरादिक "

द्रव्यों के साथ एकपने के मोह को तू तुरन्त ही छोड़ देगा। राग के साथ एकपने का जो मोह – मिथ्यात्व तुझे प्रतिसमय होता है, वह इस आत्मानुभव के होने पर – आत्मा के आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन होने पर तुरन्त ही छूट जायगा। लो, यह धर्म की रीति है। जिससे संसार का अंत आजावे, वह धर्म है।

कलश २३ के भावार्थ पर प्रवचन

यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे (उसी में लीन हो जावे), परीषह आने पर भी डिगे नहीं; तो घातिकर्मों का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न कर मोक्ष को प्राप्त करता है। देखो, यहाँ 'शुद्धस्वरूप का अनुभव करे' ऐसा कहा है। अशुद्ध रागादि का अनुभव तो यह अनादि से करता ही है, इसलिए वहाँ से पलटकर शुद्धस्वरूप का अनुभव करने को कहा है तथा परीषह आवे तो भी डिगे नहीं, ऐसा कहा है। चाहे जैसे प्रतिकूलता के संयोग आवें; सर्प, डंस, बिच्छू काटे; बाघ, सिंह आकर फाड़ जाय तो भी डिगे बिना ही अंदर स्वरूप में लीन रहे, तो राग के एकपने का मोह छूट जाता है। परीषह अनुकूल और प्रतिकूल – ऐसे दो प्रकार के होते हैं। इनमें से किसी भी प्रकार के परीषह आने पर नहीं डिगे, तो घातिकर्म का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त होता है।

पुरुषोत्तमपुरुष महापुरुष रामचन्द्रजी जब मुनिदशा में थे तब सीताजी का जीव देवगति में था। वहाँ से आकर वह सीताजी का रूप धारण करके रामचन्द्रजी से कहता है कि अरे! अपना वियोग हो गया; एकबार तुम स्वर्ग में आओ और हम साथ रहें। इस प्रकार रामचन्द्रजी को आत्मध्यान से हटाने के लिए अनुकूल परीषह आया, परन्तु रामचन्द्रजी डिगे नहीं और अन्दर आत्मध्यान में निमग्न रहे, इससे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, देह से छूटकर मोक्ष पधारे। यद्यपि सीताजी का जीव स्वर्ग में देव था और समकिती था, परन्तु अस्थिरता के कारण उसे ऐसा भाव आया था।

यह सब आत्मा के अनुभव का माहात्म्य है। समयसार नाटक में कहा है कि :—

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप॥

आनन्द का नाथ भगवान आत्मा, इसके अनुभव का ऐसा माहात्म्य है कि जीव दो घड़ी में ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जब आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है, तो मिथ्यात्व का नाश कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो और भी सुगम है।

अहा हा ! पण्डित जयचन्दजी ने कैसा सरस अर्थ किया है। दो घड़ी में अन्दर के ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, तीनकाल व तीनलोक को जाननेवाला केवलज्ञानी-परमात्मा हो जाता है। पाण्डव मुनिदशा में शत्रुञ्जय पहाड़ पर अन्तर के ध्यान में थे। तब दुर्योधन के भानजे ने पूर्वभव के बैर के कारण धगधगाते हुए गर्म लोहे के कड़े (गहने) उन्हें पहना दिये। वे इस परीषह से नहीं डिगे और आत्मा में स्थिरता की, तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्तकर तीनपाण्डव मोक्ष पधारे। 'सादिअनंत काल तक समाधिसुख में' – ऐसी अभूतपूर्व सिद्धदशा को प्राप्त हुए, जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुई; तो फिर मिथ्यात्व का नाशकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिए श्रीगुरुओं ने यही उपदेश प्रधानता से दिया है, मुख्यता से यही उपदेश किया है।

परमार्थ की शिक्षा

बनारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैंहूंकै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ,
ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए ।।२४।।

– समयसार नाटक, जीवद्वार

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ।

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण,
पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं ।
मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी,
पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ।।

मैं रंग-राग से भिन्न, भेद से
भी मैं भिन्न निराला हूँ ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड,
निज रस में रमने वाला हूँ ।।

मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता,
मुझ में पर का कुछ काम नहीं ।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ,
पर में मेरा विश्राम नहीं ।।

मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक,
पर-परिणति से अप्रभावी हूँ ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व,
मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ।।